

# तद्भव

आधुनिक रचनाशीलता पर केंद्रित विशिष्ट संचयन

वर्ष-7, अंक-2

पूर्णांक - 39

जून - 2019

संपादक

अखिलेश

आवरण

अशोक सिद्धार्थ

लेजरटाइप सेटिंग

मोहिनी शर्मा

दिल्ली

मुद्रण

वी.के. आफसेट

नवीन शाहदरा, दिल्ली - 32

मूल्य

एक प्रति : सौ रुपये

संस्थाओं के लिए : एक सौ पचास रुपये

वार्षिक सदस्यता : दो सौ रुपये (डाक खर्च सहित)

संस्थाओं के लिए : तीन सौ रुपये (डाक खर्च सहित)

विदेश के लिए : साठ डालर

आजीवन सदस्यता : पांच हजार रुपये

सम्पर्क

18/201, इंदिरा नगर,

लखनऊ - 226016

उत्तर प्रदेश

दूरभाष : 0522-2345301

ई-मेल : akhilesh\_tadbhav@yahoo.com

समस्त कानूनी विवादों का न्यायक्षेत्र लखनऊ, उत्तर प्रदेश होगा।

तद्भव इंटरनेट पर  
www.tadbhav.in

स्वामी-संपादक-प्रकाशक-मुद्रक अखिलेश द्वारा 18/201, इंदिरा नगर, लखनऊ, उ.प्र. से प्रकाशित और वी.के. आफसेट, एफ-93 पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, नई दिल्ली-110032 से मुद्रित

## अनुक्रम

### जीवन

बिसनाथ का बलरामपुर - IV विश्वनाथ त्रिपाठी 1

### शताब्दी

लोकायत के देबीप्रसाद प्रसन्न कुमार चौधरी 24

### लेख

कजरारी 'कुलटा' : हिंदी प्रिंट, सवर्ण लेखन और दलित स्त्री का (कु)चित्रण चारू गुप्ता 39 /  
सूफी साहित्य : सत्ता, संघर्ष और मिथ कमलानंद झा 60

### कहानियां

सीमारेखा सारा राय 75 / सलीम साहब, काश आप हमारे संपादक होते प्रियदर्शन 83 /  
आधी रात का किस्सागो शेखर मल्लिक 92

### मुलाकात

'विचार भी एक अनुभव है' कुंवर नारायण से वंदना मिश्र की बातचीत 116

### कविताएं

कविताएं रवींद्र वर्मा 129 / कविताएं कुलदीप कुमार 135 / कविताएं पंकज राग 146 / पांच  
कविताएं अनिल त्रिपाठी 153 / चार कविताएं अनिल मिश्र 158 / जात्रा अशोक कुमार पांडेय  
162 / कविताएं अदनान कफील दरवेश 165

### वृत्तांत

गुजरे जमाने का शहर-IV ममता कालिया 172

### विशेष

समलैंगिकता : 'मने माणस वधारे फावे छे' सुधीर चंद्र 183

### लघु उपन्यास

तिलोका वायकान नवल शुक्ल 205

### समीक्षाएं

मुस्लिम नवजागरण और अकबर इलाहाबादी का 'गांधीनामा' विनोद तिवारी 253 / आभिजात्य  
शुचिता बनाम बनाम मलदर्शन सत्यम कुमार सिंह 259 / भारोपीय भाषा परिवार में हिंदी और उत्तर  
औपनिवेशिकता उदय शंकर 264 / कविता में शहर के चिह्न की तलाश और शहर का एक चरित्र  
हो जाना कुमार मंगलम 269 / एक कवि का स्थायी पता है उसकी कविता विवेक निराला 273 /  
सत्य के बने रहने की घोषणा रघुवंशमणि 277 / जड़ता से भी ज्यादा जकड़न का अनंत विस्तार  
जगन्नाथ दुबे 281

आज एक बार पुनः नयेपन का उत्सव मनाया जा रहा है। देश ने जो कुछ भी इधर सकारात्मक अर्जित किया, सब नया और अभूतपूर्व है। वह पहले भी था इसकी तो बात ही छोड़ दी जाए, वह पहले से चली आ रही किसी परंपरा का विकास भी नहीं है। वह स्वयंभू है। ध्यान रहे, नयेपन की दलील जब प्रस्तुत की जाती है तो जोर नयेपन से अधिक अभूतपूर्व पर रहता है। यूं बुनियादी तौर पर दोनों एक जैसे लगते हैं किंतु अंततः एक जैसे होते नहीं हैं। आप नया कर रहे हैं इसमें आपका बड़प्पन है मगर आपने अभूतपूर्व किया है इसमें अपने से पहले को नीचा दिखाने, साबित करने की कुटिल, क्रूर आकांक्षा शामिल रहती है। अतः यह कहने में कोई अनीति नहीं है कि प्रायः जब कोई अपने को सर्वथा नया कह रहा होता है, उस समय वह अपने को अभूतपूर्व कह रहा होता है। अक्सर हमने देखा है, नयापन एक मासूम सा शब्द होने के बावजूद अपने इरादे और संरचना में सत्ताभाषा से निःसृत है। यह मासूम सा लगने वाला शब्द धीरे धीरे अपने नखदंत चमकाने लगता है। बहुत दूर की बात नहीं है जब नई कहानी और नई कविता के आंदोलनों ने यह घोषणा की थी कि वे एकदम नए हैं, उनके जैसा पहले कभी नहीं लिखा गया है। तब भी और आज भी लगातार एक समूह की यह अवधारणा रही है कि दोनों ही साहित्यिक आंदोलनों के अगुवा लोगों की नीयत वस्तुतः अपने नेतृत्व को श्रेष्ठ ठहराने, शक्ति प्राप्त करने, यशस्वी बनाने की थी; अतः ये 'नए' के नारे वस्तुतः भावनात्मक या वैचारिक नहीं, मूल रूप से वर्चस्ववादी रणनीति के औजार थे। इसीलिए पूरे फायदे मिल जाने के बाद नयेपन के प्रति उनके लगाव में पहले सरीखी त्वरा नहीं रह गई। बल्कि जब अगली पीढ़ी के रचनाकारों ने नयेपन के औजार से उनको चुनौती देनी शुरू की तो वह उसके विरुद्ध खड़े हुए। दिलचस्प है कि जिस प्रेमचंद को अप्रासंगिक करार देते हुए नई कहानी के नेताओं ने अपने को आधुनिक सिद्ध करना चाहा था उन प्रेमचंद को न केवल समय ने देश का महानतम कथाकार माना वरन नई कहानी के रचनाकारों ने भी कालांतर में उनकी महानता को स्वीकार करते हुए उन्हें सराहा। इसलिए यह कहना जरूरी है कि साहित्य, संस्कृति, कला, राजनीति आदि में जब भी 'नयावाद' का शोर मचाया जाये तो हमें सावधान रहने की जरूरत है। हमें देखना होगा,

क्या यह नया वाकई नई कोपलों, नवान्न, नए जन्मे शिशु की तरह सहज है अथवा यह कोई बहुत बेशर्म छल तो नहीं है? यह गुजारिश इसलिए भी की जा रही है कि इन दिनों 'नए भारत के निर्माण' का नारा जोरशोर से हमारे देश में सुनाई दे रहा है। वैसे ऐसा पहली बार नहीं हो रहा है। जब हमारे देश को स्वतंत्रता मिली, नेहरू जी प्रधानमंत्री बने, नए भारत के निर्माण का आह्वान किया गया था। राजीव गांधी ने भी नए भारत, इक्कीसवीं सदी के भारत के निर्माण पर बल दिया था लेकिन आज के नए भारत के निर्माण वाला मुहावरा पहले वालों से भिन्न है। पहले में एक तरह का आह्वान है जिसमें यह भाव है कि सब मिलजुलकर नया देश रचेंगे। इस तरह भी कह सकते हैं कि उसमें एक प्रकार की सामूहिक चेतना के निर्माण का प्रयास था कि सभी का यह दायित्व है और इस आयोजन में सभी को सम्मिलित होना है। जबकि आज जिस नए भारत के निर्माण का नारा दिया जा रहा है उसमें आह्वान नहीं यह संदेश है : सभी को जल्द ही नया भारत दिया जायेगा। लोग विश्वास करें, उन्हें शीघ्र ही बेहतरीन राष्ट्र का नागरिक बना दिया जायेगा। अतः पहले जहां नवनिर्माण राजनीतिक होते हुए सामाजिक भावबोध से संपन्न था, वहीं अब यह सामाजिक राजनीतिक से अधिक गवर्नेंस का प्रश्न हो गया है। जनता को एक उपभोक्ता में बदल दिया जा रहा है या ज्यादा से ज्यादा एक मतदाता जिसे बेहतर सुविधायें चाहिए जोकि सरकार उसे मुहैया कराएगी। इस धरातल पर मौजूदा नए भारत का वचन औपनिवेशिक दौर के नवनिर्माण के ज्यादा निकट दिखने लगता है। अंग्रेजों ने यही दलील देकर शासन किया था कि उनके आने के पहले तक भारत में अंधकार था, उनके प्रशासन से अंधकार दूर होगा और जनता की जिंदगी बेहतर बनेगी। यहां एक प्रश्न उठता है, जिस नए भारत का उद्घोष इन दिनों किया जा रहा है, उसका स्वरूप क्या होगा, उसमें कौन से नूतन तत्व प्रकट हो जायेंगे? दूसरी बात, जो कुछ नया आयेगा क्या वह मनुष्यता का विस्तार करेगा या उसे विनष्ट करेगा क्योंकि नयापन स्वयं में साध्य नहीं है। देखने में आया है, नई चीजों की आमद ने कई बार हमारे जीवन में क्रांतिकारी खुशहाली सौंपी है तो कई बार उसने हमारे जीवन को तबाह भी किया है। बहरहाल इन मुद्दों पर आने के पूर्व इस बात पर चर्चा गलत नहीं होगा कि नयेपन की अवधारणा आखिर है क्या और यह क्यों इतनी लुभावनी और अमोघ है कि सत्ता के आकांक्षी अक्सर इसका इस्तेमाल करते हैं?

निश्चय ही नयेपन के बगैर सुख, सुंदरता और समृद्धि जैसे किसी भी तत्व की मौजूदगी पृथ्वी पर मुमकिन नहीं; इस मुद्दे पर बहस की कोई गुंजाइश नहीं है; लेकिन यह प्रश्न गैरजरूरी नहीं है कि नयापन समाज में प्रकट कैसे होता है? एक दिन अचानक उसका अभ्युदय हो जाता है? नयेपन के प्रवक्ता हमेशा यह दावा करते हैं कि आज जो बेहतर है जो नव्य है वह उनके ही भागीरथ प्रयास का प्रतिफल है। यह अभी के पहले तक बिल्कुल नहीं था और यदि अब है तो उसके निर्माता, वास्तुकार वह ही हैं। भारतीय परंपरा में नूतनता कोई आकस्मिक घटना नहीं है वरन वह एक प्रवाह में निर्मित होती है। संभव है, वर्चस्व के विरुद्ध यह धारा कम बलशाली, अपेक्षाकृत कम दृश्यमान हो किंतु वह सतत प्रवाहित रहती है। उदाहरण के लिए वर्ण व्यवस्था जैसी ताकतवर, अभेद्य सी सामाजिक अवधारणा के समानांतर भी हाशिये पर ही सही, प्रतिपक्ष की आवाज सदैव मौजूद रही है। अतः कहने में हर्ज नहीं है, धरती पर जो नई मिट्टी होती है उसमें पुरानी माटी भी अपनी उर्वरा और

अनेक अयस्कों के साथ सम्मिलित रहती है। बार बार देखा गया है, नयापन पूर्ववर्ती से सत्त्व लेकर सामने आता है या वह कभी कभी उसके दुर्गुणों के कारण, उससे टक्कर से पैदा हुई ऊर्जा की वजह से अस्तित्व में आ जाता है। संभवतः यही बात हो, पूर्ववर्ती का अपने बाद के नए से एक ही साथ लगाव और विरोध का संबंध रहता है। एक पिता एक शिक्षक, एक लेखक, कलाकार या कोई भी अपने बाद की पीढ़ी से प्यार करता है तो कही न कहीं उसके प्रति असहिष्णु भी रहता है। अतः इन संबंधों में सघन परिचय तथा अजनबीयत एक साथ उपस्थित रहती है। नए का अस्तित्व में आना अपरिहार्य है, इससे कोई भी इंकार नहीं कर सकता है लेकिन यह भी सच है कि कतई जरूरी नहीं है, जो नया है वह हरहाल में बेहतर होगा। इसीलिए अर्थ को ध्वनित करने के लिए दो शब्द प्रायः प्रचलन में रहते हैं; एक है 'परिवर्तन' जिसमें मूल्यगत निर्णय नहीं है दूसरा शब्द है, 'आधुनिकता' जिसमें मूल्यगत भाव निहित हैं। आधुनिकता एक विचारधारा रही है जो अपनी सकारात्मक आंदोलनधर्मिता के इतने वर्षों के बाद भले ही समस्याग्रस्त हो गई हो और उसकी संरचना की पृष्ठभूमि में अब एक औपनिवेशिक परियोजना लक्षित की जाने लगी हो, लेकिन आज भी उसके स्मरण और उच्चारण से सामान्य तौर पर जो स्वर मुखर होता है उसमें नयेपन के ऐसे स्वरूप का स्वीकार है जो समाज को भीतर और बाहर दोनों स्तरों पर अतीत से बेहतर बनाता है और एक सुंदर भविष्य मिले इसके लिए मनुष्य को सक्रिय करने की हिमायत करता है। इन्हीं औजारों से बीसवीं सदी की इस विचारधारा ने शासन, सरकार, कला, साहित्य, ज्ञान, संबंध, सौंदर्य सभी कुछ को देखने और रचने का समूचा परिप्रेक्ष्य ही बदल दिया था और इसकी मुहिम के अंतर्गत संसार ने समस्त क्षेत्रों में कालजयी आयाम हासिल किये। इस संदर्भ में देखें तो काफी चिंताजनक है कि आज के समय में शासक शक्ति जब नए भारत के निर्माण की बात करती है तो उसके लिए मनुष्य अर्थात् इस देश के नागरिक एक निष्क्रिय इकाई के रूप में होते हैं। सत्ता की यही इच्छा भी रही है। अतः वह नागरिक समाज को इस तरह संबोधित करती है कि नए भारत के निर्माण की परियोजना का सारा कार्यभार सत्ता को पूरा करना है। जनता को सिर्फ उपभोग करना है। यहां एक बात का जिक्र निहायत जरूरी है वह यह कि सत्ता के नए भारत में आधुनिकता की जगह पर 'विकास' है। इस विकास में जिसे जनता को करना नहीं है, सत्ता से महज ग्रहण करना है। यहां आधुनिकता की तरह मनुष्य से आतंरिक बेहतरी या संवेदना, विचार, सरोकार के धरातल पर नए का निर्माण करने का आग्रह नहीं है। लोगों को निष्क्रिय रहते हुए बाहरी विकास का स्वाद चखते रहना है। विकास केवल बाहर होना है, उसका आतंरिक विकास से कोई लेनादेना नहीं है। इस धरातल पर उक्त करवाई महज एक शासन व्यवस्था का मसला न रहकर एक 'विचारधारा' का रूप धारण कर लेती है। वह विचारधारा क्या हो सकती है? वह विचारधारा आज के शासकवर्ग की है जिसका कॉर्पोरेट के साथ गठबंधन है। इसका पूरा प्रयास होता है कि देश के लोगों को, उनकी विविध विशेषताओं, सपनों, चिंतन पद्धति का अपहरण करके, केवल एकमात्र आइडेंटिटी में महदूद कर दिया जाए; वह एकमात्र आइडेंटिटी है उपभोक्ता की। यह स्थिति एक ओर कॉर्पोरेट को भरपूर मुनाफा देने में समर्थ है तो दूसरी ओर राजनीतिक शासक को सुरक्षा कवच से लैस कर देने वाली है। क्योंकि उपभोक्तावाद की अफीम अंततः अपने धारक के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक विवेक को जर्जर कर देती है। दुर्भाग्यपूर्ण

है, शासक 'गठबंधन' की कोशिशें उनकी योजनानुसार फलित हो रही हैं; लोग अपनी ही मौत का जश्न मना रहे हैं। लोकतंत्र, मानवता, भविष्य के सवाल को परे ठेल दे रहे हैं। वे नहीं विचार कर रहे हैं कि जो विचारधारा नए भारत के निर्माण करने की दायेदारी प्रस्तुत कर रही है, वह फिर क्यों प्राचीन के नमूने पर देश को ले जाना चाहती है? क्या रूढ़ियों, अंधविश्वासों, बर्बरता की वापसी को नयापन कहा जा सकता है?

अंत में फिलहाल यह कामना की जा सकती है कि हम सब जल्द ही यह समझ सकें कि हमारा क्या कुछ छीनकर हमें कुछ दिए जाने का सपना दिखाया जा रहा है। इसे भिन्न रूप में ऐसे भी कह सकते हैं कि हम क्या पाने के लिए अपना बहुत सारा गंवा देने के लिए उतावले हुए जा रहे हैं?

**पिछले** महीनों में हिंदी साहित्य ने अपनी अनेक विभूतियों को खो दिया। विशेष रूप से नामवर सिंह और कृष्णा सोबती का चले जाना तो जैसे एक युग का अदृश्य हो जाना है। तद्भव को उसके प्रारंभ से ही इन दोनों शिखर व्यक्तित्वों का संबल मिलता रहा। कृष्णा जी के निधन के पश्चात एक के बाद एक हम अपने रचनाकारों को खोते चले गए; अर्चना वर्मा, रमणिका गुप्ता, हरिपाल त्यागी, श्याम कश्यप, शेरजंग गर्ग, गिरीश मिश्र, हिमांशु जोशी, लक्ष्मीधर मालवीय अब हमारे बीच नहीं हैं। इन सभी की स्मृति को तद्भव की विनम्र श्रद्धांजलि।

अखिलेश

वर्ष-7, अंक-2

पूर्णांक - 39

मई - 2019

संपादक

**अखिलेश**

आवरण

**अशोक सिद्धार्थ**

**लेजरटाइप सेटिंग**

मोहिनी शर्मा

दिल्ली

**मुद्रण**

वी.के. आफसेट

नवीन शाहदरा, दिल्ली - 32

**मूल्य**

एक प्रति : सौ रुपये

संस्थाओं के लिए : एक सौ पचास रुपये

वार्षिक सदस्यता : दो सौ रुपये (डाक खर्च सहित)

संस्थाओं के लिए : तीन सौ रुपये (डाक खर्च सहित)

विदेश के लिए : साठ डालर

आजीवन सदस्यता : पांच हजार रुपये

**सम्पर्क**

18/201, इंदिरा नगर,

लखनऊ - 226016

उत्तर प्रदेश

दूरभाष : 0522-2345301

ई-मेल : akhilesh\_tadbhav@yahoo.com

**समस्त कानूनी विवादों का न्यायक्षेत्र लखनऊ, उत्तर प्रदेश होगा ।**

स्वामी-संपादक-प्रकाशक-मुद्रक अखिलेश द्वारा 18/201, इंदिरा नगर, लखनऊ, उ.प्र. से प्रकाशित और वी.के. आफसेट, एफ-93 पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, नई दिल्ली-110032 से मुद्रित

## बिसनाथ का बलरामपुर - IV

विश्वनाथ त्रिपाठी

पूर्वी उत्तर प्रदेश राजनीतिबोध की दृष्टि से जागा हुआ क्षेत्र रहा है लेकिन आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा। वर्णव्यवस्था का दुष्प्रभाव सर्वत्र दिखलाई पड़ता है। इस वातावरण में अकाल पड़ने पर वहां के लोगों की स्थिति दारुण हो जाती है। चेत जाने पर वहां तीव्र आंदोलन, खासतौर पर किसान आंदोलन, हुए हैं लेकिन सामान्यतः निम्नमध्यवर्गीय व निम्नवर्गीय, जिसमें दलित संख्या सबसे अधिक है, सिर झुकाकर असहाय सब स्वीकार कर लेते हैं। दलित वर्ग का भी कुछ भाग खेती से जुड़ा रहता था। वे छोटे किसानों और जमींदारों के यहां हलवाही करते। जेठ के महीने में खेती का काम नये सिरे से शुरू होने के दिनों में उनकी मांग बढ़ जाती थी।

लेकिन अकाल पड़ने पर निम्नमध्यवर्गीय ब्राह्मणों, ठाकुरों, पिछड़ों की भी हालत खस्ता हो जाती थी। खस्ता तो हालत पहले भी रहती; अन्न जल के अभाव में दारुण हो जाती। वही जिसे तुलसीदास ने *जीविकाविहीन लोग सीधमान सोच बस कहें एक एकन सो, कहां जाई का करी- चाहत अहारन को पहार, दारिधूरना* कहा है। हां व्यापारियों को गरीब जनता को लूटने की पूरी छूट मिल जाती थी। अधिकारियों, पुलिसवालों, दलालों को। सबसे बुरी हालत दलितों, पिछड़ों, छोटे किसानों की।

हमारे यहां फुलवारी में कई फलों के पेड़ थे। इमली और अरहर को मिलाकर खाने का बयान कर चुका हूं। कभी कभी बेल को भूनकर खाया जाता भूख शांत करने के लिए। कोदों कभी कभी मत्तैना (नशा या बीमार कर देने वाला) होता है व अखाद्य होता है इसलिए सस्ता मिलता। उसे भी लोग खाते और नशे जैसी हालत में बेकार पड़े रहते। मैंने अपनी आंखों देखा है किसी व्यापारी या अपेक्षाकृत खाते पीते आदमी के यहां मरनी करनी पर भोज होता तो भिखमंगे जूठे खाने पर टूट पड़ते। कुत्ते, बिल्ली और भुखमरे एक साथ छीना झपटी करते। आज



के पाठक कफन कहानी में वर्णित उस स्थिति की कल्पना भी नहीं कर पाएंगे कि बाप बेटे में भुना हुआ आलू खाने के लिए एक दूसरे को चकमा देने की नौबत कैसे आ सकती है और वह भी जब घर में पत्नी या पतोह प्रसववेदना से मर रही हो। हमारी पीढ़ी उस स्थिति को देख, भोग चुकी है।

निकट एक ताल था 'लेंवड़' ताल। वह ताल कमलों से भरा होता। कमल के डंठल को दिल्ली और अन्य महानगरों में कमलककड़ी कहते हैं। महंगी बिकती है और शौक से खाई जाती है। पूर्वी उत्तर प्रदेश में लोग तब कमलककड़ी का यह इस्तोमाल नहीं जानते थे। बलरामपुर में कमलककड़ी को भसीण (शायद विषतंतु) कहते हैं। अकाल में उसे खोदकर और फिर उबालकर खाते थे। दूर दूर से दस पांच पंद्रह कोस के गरीब उस ताल से भसीण खोदकर बड़े बड़े झुआओं, (टहनियों से बने पात्र) में, सिर पर लादकर ले जाते और उबालकर खाते। अनेक वनस्पतियों, पेड़ की छालों को उबालकर खाते। तब ये चीजें मुफ्त मिलती थीं। इनका व्यापारीकरण नहीं हुआ था। आज यकीन करना मुश्किल है लेकिन एक औरत को मैंने राख को पानी में उबालकर पीते देखा है।

सन् 1942-43 ई., द्वितीय विश्वयुद्ध के दौर में अंग्रेजी सरकार ने ट्रेनों को ज्यादातर युद्ध का माल ढोने में लगा दिया था। लोगों की जरूरत का सामान ले जाने में बहुत कमी हो गई थी। क्षेत्र में नमक, मिट्टी का तेल गायब हो गया था। लोग बिना नमक के खाना खा लेते; उसमें खटाई या नींबू डालकर खाते। मिट्टी का तेल नहीं मिलता तो थोड़ी देर के लिए सरकडे जलाकर प्रकाश कर लेते और शाम से ही सो जाते। रेलगाड़ियों में रात को बिजली नहीं जलती। यानी अंधेरे में ही सफर करते। कुओं का पानी सूख जाता था। गांव भर के युवक, बच्चे व औरतें कुओं में से मिट्टी, कीचड़ निकाल निकालकर कुओं के तल को और गहरा करके पानी लाने का प्रयास करते। दूर दूर जाकर नदी या चालू कुओं से पानी लाते।

भूसा, घास के अभाव में पशुओं की क्या हालत होती थी आप कल्पना कर सकते हैं। वे भूख बीमारी से मरते। यह स्थिति बलरामपुर कस्बे की अपेक्षा बलरामपुर के देहाती क्षेत्र में ज्यादा भीषण थी।

परेशानी के वक्त में सामान्य परेशानियां भी अधिक असह्य, दारुण और उपहासास्पद हो जाती हैं। अभाव में नारी शरीर सस्ता बिकने लगता है। बीमार, मरीज, कोढ़ी, विकलांग, पशुओं की तरह उपेक्षित हो जाते। घर के लोगों से ही तिरस्कृत होते। रही सही दवाइयां भी लुप्त हो जातीं। कालाबाजारी, घूस, अत्याचार, चोरी, बलात्कार, सूद बढ़ जाता। कई अभूतपूर्व रोग पता नहीं कहाँ से फैल जाते। कई अंधविश्वास आंदोलन की तरह चल निकलते— एक संक्रामक रोग फैला था झनुझुनी— शरीर झनझनाने, अकड़ने लगता। लोग नहलाते तब ठीक होता। खुजली, दाद खाज जोरों से फैल गया था और उधर परई देवी की उपासना का दौर चल पड़ा था। जैसे बल्ब को ढंकने का शेड होता है, उसी तरह होता था मिट्टी का ढकना। लोग अपने घर में मिट्टी का ढकना लगाते, कहते ये परई देवी है। इससे लाभ हानि क्या है नहीं जानते।

गांव में ऐसी अनेक वनस्पतियां और जीवजंतु होते हैं जिन्हें आर्थिक दुर्गति में खाकर लोग जिंदा रहने का ढब जानते हैं। चूहे, कछुआ खाना तो आम बात थी। मुसहर चूहा खाते थे। कछुआ तो अब डेलीकेसी हो गया है। एक वनस्पति होती है 'चकवन'। हम बचपन में उसका 'दंतुअन' (दातौन) बनाते थे। अकाल में लोग उसके पत्ते को उबालकर खाते थे। इसी तरह 'गदापुन्ना' होता। गदापुन्ना तो पुनर्नवा है। बताते हैं वह अनुपम औषधि है लिवर ठीक करने

की। पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी के एक उपन्यास का नाम है 'पुनर्नवा'। वह सर्वत्र अपने आप उगी रहती है। अब पक्की सड़कें बनने, हर जगह मिट्टी को सीमेंट से पाट देने, और पुनर्नवा को न मानने पहचानने के कारण उसे नष्ट किया जा रहा है।

लेकिन यह सुखद सच है कि अब अकाल पड़ने पर वैसी विकराल स्थिति नहीं पैदा होने पाती है। बात यह है कि इंदिरा गांधी के समय से ही भारत खाद्यान्न के मामले में समर्थ और सुरक्षित हो गया है; हरित क्रांति के चलते। उसके आनुषंगिक नुकसानों के बावजूद।

अकाल भी पड़ता है और फसल होने पर अन्न, खाद्य वस्तुओं की बहुतायत भी होती है। अभाव और अतिभाव दोनों झेलना पड़ता है। आम बहुत हो गया तो खाने वाला कोई नहीं, सड़ता है। प्याज, आलू, इमली आदि का भी यही हाल। अब व्यापारिक चलन के कारण स्थिति पहले जैसी नहीं रह गई है लेकिन किसान को अब भी भुगतना पड़ता है। जो पैदा होता है उसी को नानाप्रकार से इस्तेमाल करने का तरीका गांव कस्बों में अपनेआप आ जाता है। आम, इमली, अनार, आंवला की खटाइयां, अमावट और कचावट, गलका, अचार, सिरका, राब, चोइंटा, महुआ, कोइली, चिउरा, भूंजा दाना, गादा ये सब फलों अन्नो के विविध रूप हैं। सरसों, तिल के साथ रेड़ महुआ (कोइली) का भी तेल निकाला जाता है, और भरबंडा (सत्यानाशी) पौधे का भी। इन वनस्पतियों और वस्तुओं का औषधि के रूप में विभिन्न उपयोग भी होता था और होता है— अनुभव के आधार पर बनी परम्परा या जानकारी से। उनके नाशकारी प्रभावों की भी जानकारी रहती थी। आंख आने पर यानी आंख में तकलीफ के साथ ज्यादा कीचड़ आने पर, लाल हो जाने पर, मां सत्यानाशी का दूध आंख में लगाती थी। गर्मी में इमली का शरबत पिलाती थी। गुड़ सौफ और कालीमिर्च के शरबत का स्वाद किसी और शरबत में नहीं। वह शरबत औषधि भी है। शायद उसको मिर्चवानी कहते हैं। मक्का, चावल, बेल, अमरूद, मछली मांस, प्रायः सभी प्रकार के अन्न को भून या कल्हार कर खाया जाता था। भिगोकर भी। चना इनमें सबसे ज्यादा खाया जाता। आम और इमली के अनेक व्यवहार रूप थे। गुड़ के शरबत या गन्ने के रस में आम डालकर कुछ दिनों के लिए छोड़ दो तो सिरका बन जाता है। उसमें पपीता, मूली, पिंहुटला (कचरी) आदि भी डाल देते थे। हमने गांव के आधार बल्देव बनिया के यहां श्राद्ध में आम का ऐसा सिरका खाया है जो राब या गुड़ के शरबत में नहीं— आम के रस में पका आम डालकर बनाया गया था।

कच्ची इमली के रस में कढ़ी बनती थी। उसमें गुड़ भी डालकर बनाओ तो खट्टी मिट्टी बनती थी। कच्ची इमली के रस में उर्द का बड़ा डालकर बनाया जाता था। इमली के बीज से दवा बनती थी। आम की गुठली को सुखाकर उसका आटा तैयार करते थे फिर उसकी रोटी बनती थी। इमली के पत्ते की और फूल की चटनी लाजवाब होती है। रेंड़ का तेल रेचक होता है। एक साग अब गायब हो रहा है— 'चमसुर'।

इमली के पत्तों की एक किंवदंती एक संस्कृत विद्वान से जुड़ी है। उनका नाम वाचस्पति था। जितना अपरिग्रही, आकाशवृत्ति भोगी प्राचीन काल के विद्वान होते थे, वैसे ही वे थे। घर में चावल तो था दाल या अन्य कोई सब्जी नहीं थी। आंगन में इमली का पेड़ था। पत्नी ने उसके पत्तों की चटनी बनाकर भात के साथ खाने को दिया। विद्वान ने खाया तो परम संतुष्ट होकर बोले— "कहीं और कुछ मांगने की क्या आवश्यकता है कल्पवृक्ष तो अपने आंगन में ही लगा है।"

देसी पके आम को चुसुआ कहते हैं, क्योंकि उसे चूसा जाता है। छिलके उतारकर उसे नमक मिर्च और थोड़ा सरसों का तेल मिलाकर भी खाते थे। पक्के आम की सब्जी भी बनायी

जाती थी। थोड़ा सा घी में छौंककर। उसका रस निकालकर शरबत की तरह आमरस तो पिया ही जाता था। वह मैंगोशेक का देसी रूप था। आमपापड़ को अमावट कहते हैं। एक बुड्डी महिला रहती थीं। हम उन्हें निन्नी दाई कहते थे। निन्नी दाई 'बोबरा' बनाती थीं। देशी घी में चावल को पकाकर। उसे पुलाव समझिए। लेकिन असली शाकाहारी पुलाव होता था तेहरी। उसमें सब्जियां डालकर बनाते थे। कच्चे आम का छिलका उतारकर दूध या पानी के साथ छौंक देते थे। गुड़ डालते थे दूध फट जाता था। उसे गुरुम् कहते थे। सिर्फ पानी डालकर भी गुरुम बनता था। मां मेथी की खिचड़ी बनाती थी। मेथी का तड़का करके उसमें चावल पका लेती थी। बहुत स्वादिष्ट लगता था। मेथी की खिचड़ी में आम की कल्ली पड़ी रहती थी। कच्चे आम के टुकड़े करके उसे सुखा लेते थे। उसे पीसकर रखो तो अमचूर। तब आम की खटाइयां कितने प्रकार की बनती थीं इसका वर्णन करके पार पाना मुश्किल है लेकिन अरहर की दाल में कच्चे आम डालकर बनाने से जो स्वाद उभरता है वह वर्णनातीत है। कम घी डालकर जो हलुआ बनता है उसे लपसी कहते हैं। हलुआ बाहर से आया हुआ व्यंजन है। लपसी पहले का लगता है। नमक डालकर आटे में बनी टिक्की/पकौड़ी को नोनबरिया कहते थे।

मांस मछली हिंदू भी शौक से खाते थे। हिंदू कलिया कहते थे। मांस के टुकड़े को बोटी या गोट्टी। दादा मांसाहार करते थे। मां मसाला पीस देती थी। वे बना लेते थे। उनकी देखादेखी हम भाई बहन भी खाने लगे। मां नहीं खाती थी। मेरा बड़ा भाई मांसाहार करके मरा था। एक दो बार मांस दबाकर खाने से मुझे भी भयंकर पेटदर्द हुआ है। अब पेटदर्द के डर से नहीं खाता। कभी कभी जिह्या लालसा से खा भी लेता हूं। गांव में मांस ताजा मिलता है। वह पकता है तो सुगंधि आती है। हो सकता है मसाले की सुगंधि को मैं मांस की सुगंधि समझता हूं। मछली से गंध आती थी जमे पानी की जिसे बिसाहिन कहते हैं। लेकिन मछली खाने में मुझे बहुत अच्छी लगती है। वह अपेक्षाकृत सुपाच्य भी होती है। हिंदू घरों में अंडा नहीं खाया जाता था। मैंने हिरन और खरगोश का मांस भी खाया है। कबूतर, धवरखा, तीतर, बटेर का भी। मुर्गा खाया है लेकिन मुर्गे का रिवाज स्वातंत्र्योत्तर भारत में ज्यादा बढ़ा है। तब शराब अपेक्षाकृत कम पी जाती थी। महए का शराब चुआ लिया जाता था। उसे ठर्रा कहते हैं। दलितों में या जमींदारों या नवाबों में उसका प्रचलन ज्यादा था। ठाकुर, ब्राह्मण, कायस्थ जमींदारों या रईसों के लिए शराब उनकी मर्यादा, उच्च स्थिति का प्रतीक था। शराब पीकर जो हरकतें वे करते थे उनकी कहानियां, अफवाहें खूब कही सुनी जाती थीं। दलित और गरीब शराब पीकर खांसते बीमार पड़ते और परेशान होते। शराबियों का परिवार अक्सर बर्बाद हो जाता। शराब पिये हुए एक आदमी का इमेज आज भी मुझे परेशान करता है। वह शराब में धुत था। उसने मलत्याग कर रखा था और सौंचा नहीं था। मलत्याग के अंग पर मक्खियां भनभना रही थीं। धोती की लाग पीछे से खुली थी। वह मगन भाव से बेटुके सुर में गाना गाते हुए जा रहा था—

*राजा तोरी गोद में फुलगेंदवा बन जाऊंगी*

असल नशा भांग गांजा का था। शहरों में भांग गांजा बहुत बड़ा नशा माना जाता है। बलरामपुर में इसकी दूकान थी। सब्जीमंडी के पास। वहां शाम को तली मछली भी मिलती। उस दूकान के मालिक गौरी शंकर जी आर.एस.एस. में थे, मेरे साथ जेल भी गये थे। बलरामपुर के गावों में इसका सेवन आम बात है। यह घास चारों तरफ उगी फैली होती है। तोड़कर कच्चा ही सुखाकर सेवन करते हैं— गोला बनाकर मिठाई के साथ, चूरन या दूध, मलाई, बादाम और न जाने क्या क्या डालकर शरबत बनाकर भी। कहते हैं कि तांबे का पैसा डालकर भांग का शरबत बनाओ तो वह ज्यादा नशा करती है। भांग के शरबत को ठंडाई कहते हैं। वाराणसी

में तो इसे शंकर भगवान का प्रसाद समझकर ग्रहण करते हैं। वहां के प्रायः सभी पुरुष इसका सेवन कर लेते थे। हम भी कभी कभी। भांग के नशे में हंसी आ जाये तो रुकती ही नहीं। भांग के नशे में भूख बढ़ जाती है। खासतौर पर मिठाई बहुत अच्छी लगती है। कहते हैं कि बाबू देवकी नंदन खत्री ने *चंद्रकांता* भांग के नशे में लिखी है। और तो और आचार्य रामचंद्र शुक्ल भी इसका नियमित सेवन करते थे। अनेकानेक हिंदी लेखक विजया भवानी के अनन्य उपासक बताये गये हैं। दिल्ली में होली के अवसर पर राजकमल और बाद में राधाकृष्ण प्रकाशन के प्रबंधक ओम प्रकाश आयोजन करते थे। बड़े बड़े कलाकार साहित्यिक उसमें आते थे। भांग और नाना प्रकार की शराब वहां होती थी। किसी ने कहा— भांग पीकर शराब पियो तो असली मजा आता है। मैंने दोनों पीया कोई खास बात पैदा नहीं हुई।

गांजा चिलम से दम मारकर पिया जाता था। धूम्रमान की विधि से। मैंने इसका अनुभव नहीं किया है। इसके बारे में सुना ज्यादा है।

गांजे की महिमा में पंक्तियां सुनी हैं—

—जो न पीया गांजे की कली/उस मर्द से औरत भली

—दम मारो दम

—जय जय शिव शंकर/कांटा गड़े न कंकर

दाल मिले अरहर/भात मिले फरहर

मेहरारू मिलै गोरहर/जय जय शिव शंकर

गांजा पीने की विधि का वर्णन कथाकार संपादक भैरव प्रसाद गुप्त बड़े विस्तार से करते थे।

चरस और अफीम ज्यादा गहरा शायद मूल्यवान नशा है। उनके बारे में सिर्फ सुना है। अफीम का सेवन ज्यादातर ऊंचे रईस करते थे और ऐश करते थे। मुगल सम्राट हुमायूँ के बारे में कहा जाता है कि वह अफीमची था।

लेकिन बलरामपुर या अवध की संस्कृति का प्रतीक खैनी है; भांग गांजा चरस या अफीम नहीं।

बलरामपुर में प्रचलित दोहा है—

कृष्ण चले बैकुंठ को राधा पकरी बांह

हियां तमाखू खाय लो हुआं तमाखू नाहि

कृष्ण जी बैकुंठ जाने लगे। राधा की कोई गुहार, कोई प्रेम निवेदन काम नहीं आया। तब राधा ने कृष्ण को रोकने के लिए ब्रह्मास्त्र चलाया— यहाँ तमाखू (खैनी) खाते जाओ वहाँ खैनी नहीं मिलेगी। इस दोहे को पढ़ने सुनने का असली मजा तब है जब पोपले मुंह वाला बुड्ढा होठों में तमाखू रखकर इसे बोलता है। लाचारी है; कलम पोपले मुंह में खैनी रखकर बोल नहीं सकती।

तमाखू के पत्ते को सुखाकर उसके टुकड़े को हथेली में रखकर उसमें चूना मिलाकर बाईं हथेली में दाहिने हाथ के अंगूठे से उसे मसला जाता है। यथावसर दाहिने हाथ की हथेली से उसे बार बार थापा जाता है— खैनी में झार, गंध उठती है— छीकें आती हैं, तब वह खाने के लिए चुटकी से उठाई जाती है या परोसी जाती है। अवध के बड़े से बड़े आदमी का अवधपन इसी खैनीप्रेम से प्रकट होता है। आप बड़े से बड़े अफसर हों, जज हों, वाइस चांसलर हों, महाकवि हों अगर खैनी नहीं खाते हैं तो अवध के नहीं हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार राम प्रसाद त्रिपाठी खैनी खाते थे। निराला को वेदांत में खैनी की गंध आती थी। मिश्र बंधु इसका सेवन

करते थे। हाजत में सुकरता लाने के लिए अक्सर इसका सेवन किया जाता है। इसके प्रभाव से निपटान आरामदायक होता है। बनारसी आदमी जो काम भांग से लेता है ठेठ अवधीजन वह काम खैनी से लेते हैं। अवध में चायपानी का रिवाज न था, न है। किसी परिचित या आत्मीय व्यक्ति के आने पर उसका स्वागत खैनी से ही किया जाता था। पान सुपारी गुड़ पानी तो कभी कभी ही होता था। कुछ नहीं है तो खैनी खिला दिया; आने वाले और घर वाले दोनों की तृप्ति हो गई। अपनापे की रसम पूरी हो गई। पुरुष तो पुरुष औरतों में भी इसका खासा रिवाज था। बच्चे, मां बाप चाचा बड़े भाई की देखादेखी इसे वयस्क होते ही अपना लेते थे; कभी कभी बचपन में ही। पं. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के ज्येष्ठ पुत्र जगदीश द्विवेदी (बबुआ) लुकाछिपी सिगरेट का शौक फरमाने लगे थे। पंडित जी ने ताड़ लिया बोले बबुआ सिगरेट छोड़ो खैनी जमाया करो। अपनी जातीय संस्कृति की चीज है। मरनी करनी, शादी ब्याह, समय असमय, सुख दुख सभी अवसर पर इसका सेवन और वितरण अबाध पुलक प्रदायक था/है। अब यह पाउच में मिलने लगी है। गुटखे से प्रतिद्वंद्विता में है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जगत् जीवन को रूपसमुद्र कहा है। दिल्ली से पहले का जीवन विशेषतः बचपन का जीवन याद आने पर मां के आंचल और पेट से लिपटकर सोने के साथ गांव की प्रकृति आकाश, तालाब, नदी, वनस्पतियां, धान, गेहूं, सिंगाड़े, कमल के फूल, सरसों के फूल, वर्णराशि के साथ जो चीज याद आती है और याद आते ही स्मृतिसेतु बनकर शायद असीम में पहुंचा देती है (असीम यानी असीम सुख— स्मृति का सघनतम रूप— विस्मृति तन्यमता आत्मलोप है— सुरति का निरति हो जाना) वह चीज है— उत्सव, पर्वों, शादी ब्याह के अवसर पर गाये जाने वाले औरतों के गीतों की लय। इनमें तुक नहीं होता, कथा होती है, वर्ण होता है। मुख्य आधार होता है लय। वह लय जो मनोविकारों का ध्वनि रूप है। वह जीवनानुभव से ही पहचान में आकर भावित करता है। मनोविकारों की लीला सीमित अर्थों वाली शब्दावली में नहीं (जैसाकि सामान्यतः इस्तेमाल में आती है) बल्कि अनुभव के असीम लोक में— फिर से साक्षात् अनुभव स्थिति में पहुंचा देने वाली लय तरंगों में है। लय की रची लहरियां कभी चौड़ी होकर कभी पतली होकर, कभी उठकर कभी गिरकर, कभी टूटकर कभी नीचे अटल में झपाक से कूदकर, प्रयोजनातीत अर्थ उत्पन्न करती हैं। मां कभी कभी कोई गाना पूरा गा नहीं पाती थी— गाते गाते ही बीच में कंठावरोध हो जाता, आंसू गिरने लगते। नाक, आंखें लाल हो जातीं, होठ फरफराने लगते। ये गीत होते— सीता के दुख के गीत, नवविवाहित बहन और उसके भाई के गीत, बाप से बेटी की शिकायत के गीत, नवविवाहित वर वधू की बातचीत के गीत, सौत नंद भाभी के घात प्रतिघात के गीत आदि। इन गीतों की संगीत रचना की चर्चा तो हम क्या कर पाएंगे लेकिन उन गीतों की संरचना पर ध्यान देना अभूतपूर्व विवेचन होगा। पता नहीं किन अनाम वाल्मीकों, भासों ने, कालिदासों ने इन लोकगीतों की रचना की है— पता नहीं कि *सामवेद* के किन गायकों, तानसेनों ने इन लोकगीतों को लय में ढाला है— शायद ये शब्द और संगीत लय सहजात हैं/सहजन्मा हैं।

एक गीत है नवविवाहिता बहन की ससुराल में भाई के आने और उसके सामने बहन द्वारा अपनी स्थिति के वर्णन का। पूरा गीत मुझे नहीं याद है। मां के मुख से जितना सुन पाया हूं वह सब भी नहीं याद है; बीच बीच की कुछ पंक्तियां ध्यान में हैं।

गीत शुरू होता है— बहन रास्ता देख रही है सावन का महीना होगा। पति विदेश गया है, भाई की प्रतीक्षा है— अवधी से खड़ी बोली में अनुवाद की अपर्याप्तता को झेलिए।

दो उजली छवियों को आते हुए देख रही हूं। एक सांवली है एक गोरी। सांवली छवि

तो ननद के भाई की है। उजली छवि भाई की।

आओ बैठो भाई रतुली खटिया पर। रतुली खटिया ऐसी चारपाई जिसके चारों पाये रंगे रहते हैं। (यह अर्थ ससुराल में मेरी सास की सास की सास ने बताया था)

भाई मेरी जूड़ी (चोटी) देखो, कुतिया की पूंछ की तरह हो गई है। भाई रात को जो अवशिष्ट खाना मिलता है उसी में से मैं कुतिया को कौरा भी (उच्छिष्ट अन्न) देती हूँ।

भाई रात को झिलंगी खटिया पर लहुरे देवर के साथ सोती हूँ।

बीरन! ननद, जेठानी सास की फटकार सुनती हूँ। भइया तुम्हारे पहुना (पति) शर्मीले हैं कभी कभी ही सबसे आंखें चुराकर दबे पांव आते हैं और फौरन चले जाते हैं।

भइया! मेरा दुख बप्पा (बाप) से न कहना सभा में बैठकर पछताएंगे।

भाई, यह दुख मां से न कहना छाती फाड़कर मर जायेगी।

भाई यह दुख भौजी से मत कहना पड़ोस में बांट आयेगी।

बीरन यह दुख छोटी बहन से न कहना ससुराल जाने से डरेगी।

भाई मेरे बीरन इस दुख को मजबूती से गठरी (गरुई गठरिया) में बांधना और गहरी नदी में प्रवाहित कर देना। *नदिया में दिहेव पवराय।*

गीतकथा का ऐसा अवसान साहित्यकार नहीं कर सकता। सृष्टा—स्वयंभू—ही कर सकता है। जीवनानुभव की रचनाधर्मिता ही कर सकती है। यह गीत इसकी लय इसके गाने, सुनने का प्रभाव असीम रूप समुद्र की तरंग में लीन हो जाना है और करुणा के सेतु से वापस जीवन में आकर बेहतर मनुष्य हो जाना है। करुणास्नात भावित व्यक्ति।

बहन भाई की इस गीतकथा का सम्बंध पूर्वी उत्तर प्रदेश में विवाह की स्थितियों से है। वैवाहिक जीवन और वैवाहिकेतर जीवन से है। अनमेल विवाह आम था। लोग पीठ पीछे हंसते थे, बातें करते थे लेकिन सामने न कोई विरोध करता न आलोचना। अनमेलता दोनों तरह की थी, ज्यादातर तो पुरुष अधेड़ या कभी कभी वृद्ध होता था और लड़की कम उम्र की। कभी कभी इसका उल्टा भी होता था; लड़का कम उम्र का और लड़की ज्यादा उम्र की। तत्कालीन प्रचलित लोकगीतों में इसका प्रचुर उल्लेख पाया जाता था। *नादान बलमा बलम लरिकैयो* एक प्रसिद्ध गीत था—

*छोटा सा बालमा मोरे अंगने मा गिल्ली खेलै*

ऐसी स्थितियों से पारिवारिक जीवन में विकृतियां पैदा होती थीं। अनेक प्रकार के सगोत्रीय यौन संबंध (इनसेस्चुअल) होते थे उसका विवरण बहुत बड़ा होगा और वह अलग से एक सामाजिक शोध का विषय है।

लड़कीवाला घर लड़केवाले घर से छोटा, कमतर माना जाता था। हरिशंकर परसाई ने लिखा है विवाह योग्य लड़की के बाप से ऐसा बर्ताव किया जाता है मानो वह कोई अपराधी हो। वह दीनहीन हाथ जोड़े दासानुदास की भांति लड़के वालों के सामने आगे पीछे घूमता रहता था/है। बड़े जमीदारों के यहां की स्थिति भी अच्छी नहीं थी। उन्हें अपने से बड़े घर के लड़के की तलाश होती थी। उनके और भी नखरे होते थे। लड़कियों की उमर ज्यादा हो जाती। जमीदार अक्सर जमीन का कोई टुकड़ा बेचकर शादी का इंतजाम करते। शादी तो धूमधाम से होनी ही होती थी। खानदान की इज्जत का सवाल रहता था। लड़की की शादी न होने की स्थिति में उसका शारीरिक सम्बंध कहीं हो गया, पेट से हो गई। ऐसी हालत में दो ही समाधान थे, पेट गिरवा दिया जाये या किसी तरह लड़की को मार डाला जाये। अक्सर पेट गिरवाने के ही क्रम में उसकी मौत भी हो जाती। दोनों काम एक ही साथ निपट जाते।

विवाह और स्वतंत्रता के विषय में दलित और पिछड़े वर्गों की लड़कियों की हालत बेहतर थी। वहां विधवा विवाह भी था। उनकी औरतें मजदूरी करती थीं। दूसरों के घरों में बर्तन, कपड़े धोने का भी काम करतीं। खेती मजदूरी भी। पर्दे में नहीं रहतीं। अभावग्रस्त होने पर भी उनका जीवन सवर्ण उच्चतर घरों की औरतों से कहीं बेहतर था। उनके लिए यौन सम्बंधों की जकड़न भी उतनी ज्यादा नहीं थी। उनका यौन शोषण तो होता था लेकिन वे खुला खेल भी खेलती थीं।

विवाह सम्बंध कराने वाले दलाल भी होते थे। हालांकि उन्हें दलाल या बिचौलिया कहा नहीं जाता था। उनकी आवभगत, खुशामद करनी पड़ती थी। लड़के वाले के यहां लड़के को देखने, शादी तय करने, दहेज आदि की बात करने बरदेखुआ आते थे। बरदेखुआ की इज्जत की जाती। अपना रोबदाब आर्थिक स्थिति बढ़ा चढ़ा कर दिखायी जाती। लड़के को सजा संवारकर उनके सामने पेश किया जाता। लड़का खेत में कुदाल चला रहा होता तो हाथ पैर धुलवाकर बालों में तेल लगाकर अच्छे कपड़े पहनाकर पेश किया जाता। घर के अंदर से कोई आवाज होती तो घर का बड़ा सदस्य जोर से डांटकर बोलता— “अरे घी की हांडी तो नहीं टूट गई?”

और बरदेखुआ भी घाघ होते। वे घर के पिछवाड़े नाबदान— घर से निकलने वाली नाली— को देखते— नाली से दाल भात की जूठन बह रही है या सत्तू, कोदो या बेफरी की रोटी की? कई लोग तो चार महीने या और देर तक बरदेखुआ का ही काम करते। जहां जाते आवभगत होती अच्छा खाने को मिलता। दरिद्र ब्राह्मणों या अन्य सवर्णों के यहां बरदेखुआ का आना बहुत महत्वपूर्ण बात मानी जाती। वहां विशेष आवभगत होती। दरिद्र सवर्णों के लड़कों की शादी नहीं होती, लड़के या तो अविवाहित रह जाते या पैसे देकर अपने से दरिद्र घर की लड़की ले आते। अक्सर निम्न कही जाने वाली जाति की औरत को घर में रख लेते। तब अन्य सजातीयजन उनके घर का खाना पीना छोड़ देते। अन्य जातियों में ऐसे लोगों को जाति से बाहर कर दिया जाता।

गांवों में जीवन ठहरा हुआ था। सब काम पारम्परिक, पूर्व निर्धारित, तरीके से होते थे। खेती ही मुख्य साधन था। ऐसे में ब्राह्मण ठाकुर या अन्य जातियों में भी विशेष रूप से अनुभवी वृद्ध लोगों की बड़ी जमात होती जो निठल्ले लेकिन विदग्ध होते। उन्हें उस जीवन के ‘इंटेलेक्चुअल्स’— बुद्धिजीवी— समझिए। वे दुनियाभर की अफवाहों, निंदा, स्तुतियों, जोड़तोड़, खुफियागिरी के स्रोत होते। तुलसीदास ने जिन खलों की वंदना की है वे वस्तुतः ऐसे ही बुद्धिजीवी थे—

*जे काहू की सुनै बड़ाई / सांस जनु जूड़ी आई*

*परहित घृत जिनके मन माखी। जे पर दोष लहहिं सह साखी*

इनके कार्यकलापों का आघात प्रायः निम्नवर्गीय निम्नवर्णीय या सहवर्णी कन्या पिताओं को ही सहना पड़ता था। मतलब यह कि विवाहजोड़क होते थे तो विवाहतोड़क भी होते थे। गांव में एक समृद्ध परिवार था। उसका पुत्र योग्य, सुंदर, लायक। लेकिन गांव के जोगी महाराज ने शादी नहीं होने दी। कारण यह था कि जोगी की शादी उसके पिता ने तुड़वाई थी और जोगी अविवाहित रह गये थे। युवक की शादी को बरदेखुआ आये। उन्हें वर पसंद आ गया। लेनदेन भी पक्का हो गया। बरदेखुआ बात पक्की करके अपने गांव जा रहे थे। बाहर बसअड्डे पर जोगी मिले—

“कैसे हियां महाराज का काम रहा?”

“जोगी बाबा हम लड़की की बात पक्की करने आये थे।”

“बात पक्की हो गई? किसके यहां?”

“उनके हियां।”

“हां हां ठीक किया बहुत अच्छा ई बताओ कितना में पक्का हुआ?”

“अब का बतावें जोगी महाराज कुल मिलाकर पचास हजार के पेटे में जाएंगे।”

“हां चलो कोई बात नहीं। कन्या का विवाह है। दान पुन्न का काम है। मुझे एक बात बताओ।”

“का महाराज?”

“कुछ नहीं हम कहित है पचास हजार खरच कर सकते थे आठ आना नहीं।”

“का बात कहत हौ जोगी? साफ साफ बताओ।”

“इहैं कि बिटेवा को एक पुड़िया संखिया जहर खिला देते सबसे छुट्टी पाय जाते।”

“का बात बोलत हौ जोगी?”

“लड़कवा कै जांच कराओ। देखौ कौनो लायक है कि नाही। कोई से कहेव ना हम तौ तुमको अपना जान कै कहि रहे हैं; कुदरती नुक्स है; अब हम जादा कुछ न कहव।”

और पक्की बात खतम हो गई।

बारात ऐसी सजती थी मानो युद्ध के लिए सेना चल रही हो। बारात में कुछ लोग ऐसे जरूर होते थे जिनका काम होता था, खातिरदारी में कोई न कोई नुक्स निकालकर झगड़ा कराना। बारात पहुंची। जलपान हुआ। शरबत चीनी नहीं, गुड़ की आई। बरपक्ष वालों ने शरबत पीने से मना कर दिया। हल्ला मच गया।

लड़की के पिता दौड़ते हुए हाथ जोड़े आये।

“का गलती हो गई पांडे जी?”

“ई बताओ जब गां.... मा दम नहीं रहा तब के कहा रहा कि बिटिया क बिआह रसूलपुर के तेवारी खानदान मा करौ। हमरे हियां हरवाहा क भेली क शरबत नहीं पिआता, घिउ न होए तौ कूकुर कौरा नाही खात और हियां पानी के साथ न पेड़ा न लड्डू न जलेबी बर्फी ई का है गुड़ मेथी का शरबत। ई हमार नाक कटावै के बदे हमै बोलाएव रहा।”

पांडे जी हाथ जोड़े खड़े रहे। उनके पक्ष का एक आदमी फुसफुसाया— “अरे हम रसूलपुर के तिवारी को जानते हैं। घर मां भूजी भांग नहीं कूकुर पादैं चिउरा कब्वो पेड़ा बर्फी खाये हैं अपने घरे कि इहैं सेखी बघार रहे हैं। पूछौ ए अपनी बिटिया के बिआहे में बारातियों को चना गुड़ खिलाया था कि नहीं?”

फिर दोनों पक्षों के वृद्ध आते हैं— जाने दें, अपनी अपनी जांघ खोलकर देखाने का का फायदा। अब हमारी इज्जत तुम्हारी इज्जत एक ही है।

हमारे बचपन में बारात में नाच गाना, सफेड़ा, नौटंकी न ले जाओ तो गांव वाले तंग करते थे। रात को सोने नहीं देते। ढेला ईटा फेंकते। बारात आम की बगिया में टिकी थी। गांव वालों ने बारातियों के बिछौने पर माटा का झोझा डाल दिया। माटा का झोझा (लाल चींटियों का घोसला जो आम की पत्तियों से चींटियां बना लेती हैं।)

दोनों पक्ष अपनी अपनी शेखी बघारते। पहले बारात दो दिन टिकती थी। शादी हो जाने तक वरपक्ष अकड़ता था। शादी हो जाने पर ढीला पड़ जाता था। दूसरे दिन शाम को ‘शिष्टाचार’ होता था। शिष्टाचार में नृत्यगान होता। इत्रपाश से सुगंधि के फौवारे छोड़े जाते। पान इलायची चलती। कहीं कहीं वर वधू पक्षों के बीच शास्त्रार्थ होता था संस्कृत भाषा में। सारा आर्थिक सामाजिक पारिवारिक मानसिक बोझ कन्यापक्ष को उठाना पड़ता लेकिन यह सब निर्भर था कि



उसके पास आर्थिक स्रोत साधन कैसे हैं।

शिष्टाचार में शास्त्रार्थ शुरू होता था 'मंगलम्' से। एक पक्ष के पंडित जी बोलते 'मंगलम्'। दूसरे पक्ष के पंडित जी बोलते 'मंगलम्'। फिर संस्कृत श्लोकों की बौछार शुरू हो जाती। बाकी बारातियों की निगाह में जिस पक्ष का पंडित ज्यादा जोर से ज्यादा बोलता वह विजयी माना जाता। एक पंडित जी थे वे शास्त्रार्थ करते समय हाथ में छड़ी लिए रहते। संस्कृत के श्लोक पढ़ते जाते और विपक्षी पंडित के सामने खिसकते जाते। जब छड़ी की स्पर्श दूरी में विपक्षी पंडित आ जाता तब वे छड़ी उसकी तोंद में कोंच देते। विपक्षी पंडित घबराकर बोलना बंद कर देता। इसके बाद नाच गाना शुरू हो जाता। विवाह शादी में हमारे बचपन तक कवि और भांड आते थे। शिष्टाचार में कवि कविता पढ़ते। वे प्रायः वरपक्ष की यशोगाथा में कविता पढ़ते। रीतिकालीन दरबारी कवियों की कविताओं का— जिनमें आश्रयदाताओं के वैभव की प्रशंसा होती— वाचन करते। मेरे छोटे भाई की शादी में कवि वैभवगान कर ही रहे थे कि कन्यापक्ष के एक आदमी ने शोर मचाना शुरू कर दिया। तेवारी जी दक्षिणादान नहीं रक्तदान ले रहे हैं यानी वे कन्यापक्ष से अनुचित मांगें कर रहे हैं— जैसे ही उसने शोर मचाना शुरू किया वरपक्ष के आदमी ने उसे सबके बीच, कवितावाचन में ही, पीटना शुरू कर दिया। बाद में झगड़ा इतना बढ़ा कि रात में बारातियों ने खाना ही नहीं खाया। रात भर भूखे रहे और कन्यापक्ष वालों को भी इतना क्रोध आया कि उन्होंने गाय बैलों को जनवासे में हांक दिया।

छोटे भाई की शादी अकाल के दौर में हुई थी। उसकी उमर शादी के लायक नहीं थी। दाढ़ी मूँछ नहीं आई थी। दाढ़ी मूँछ आ जाने पर दूल्हे के बारे में औरतें कहतीं— जाने दो दाढ़ी मूँछ आ गई तौ दुलहा अच्छा नहीं लागत। यह शादी करके दादा ने छोटे भाई का भला नहीं किया। वह इतना छोटा था कि इसी बात से बहुत खुश था कि उसकी शादी हो रही है। बासी खाते समय (शादी के दूसरे दिन सुबह ससुराल में बासी खिलाया जाता है उस समय दूल्हा कुछ मांग करता है यह दे दो तब बासी खाऊंगा। उसे खाने के लिए मनाना पड़ता है।) उसने वरपक्ष के घर के एक सदस्य से उसकी कलाईघड़ी मांग ली। उसके हाथ से कलाईघड़ी उतरवा ली। छोटे भाई को ऐसा करने की राय मैंने ही दी थी।

छोटे भाई की शादी बहुत हड़बड़ी और असमय कुसमय में हुई। अकाल था। हर चीज की कमी थी। लेकिन बाभन के घर बरदेखुआ आये तो शान की बात मानी जाती थी। जब बरदेखुआ आये तो मेरी बहन जिसकी शादी बलरामपुर में हुई थी, मायके में ही थी। दादा नहीं मान रहे थे बड़ी बहन ने समझाया— आती लक्ष्मी नहीं लौटाई जाती और शादी तय हो गई।

'सुबली' (शुभ अवसर पर) कन्यापक्ष को भेजने के लिए न नये कपड़े थे न जेवर। शायद बड़ी बहन के कपड़े ही भेज दिये गये। लड़की वाले ताड़ गये कि कपड़े नये नहीं हैं। हमारे घर की परम्परा थी; सलतनत नहीं थी लेकिन सुलतानी ज्यादा रहती थी। बारात में दलपुर के ठाकुर गुन्नु सिंह की लाठी देखकर मैंने कहा— बाबा लाठी तो जबर्दस्त है। इसपर उन्होंने कहा— बच्चा शादी में ठंडा गरम कब हो जाये तैयारी रखनी चाहिए। हमारी पट्टीदारी के महादेव बाबा थे। वे हर जगह झगड़ा करते थे। ऐसी कोई शादी नहीं हुई जिसमें उन्होंने झगड़ा न कराया हो। पहले मारपीट करते फिर नाराज होकर बारात से लौट जाते। अक्सर उनके अपमान आरोप से बारात भी लौट आती। घर में लड़की की शादी होती तो वरपक्ष से इतना झगड़ा करते कि उनकी बारात लौट जाने पर आमादा हो जाती। बहुत मान मनौव्वल के बाद शांति होती।

मेरी शादी बलरामपुर में हुई। डी.ए.वी. स्कूल के प्रिंसिपल डा. भगवती प्रसाद सिंह ने शादी तय कराई थी। उन्होंने मेरी बड़ी सहायता की थी। वे बलरामपुर के उच्च प्रतिष्ठित ठाकुर

खानदान के थे लेकिन झगड़ा मेरी शादी में भी हुआ। बड़के काका उत्साह के साथ शादी में शामिल हुए थे। मेरे जीजाजी बंदूक लेकर शादी में शामिल हुए। झगड़ा बढ़ा बारात लौट गई। बड़के काका छोटके काका लौट गये। दादा भी लौट रहे थे। भाइयों का साथ कैसे न देते! लेकिन रास्ते में याद आया आज शनिवार है, शनिवार को ही बिंदा काका हनुमान भइया (अपने लड़के) की शादी से लौट आये थे महीने भर में ही मर गये। उनकी भी तबीयत खराब थी, अतः वह डर के मारे चुपके से लौट आये। रास्ते में उल्टी हुई। मेरे ससुर वकील साहब ने दवा कराई, ठीक हो गये। बहुत दिनों के बाद जब बढनी गये तो बड़के काका ने शिकायत की— गये न बेटवा की ओर, भाइयों का मुंह न देखा लड़के की ओर रहे। दादा ने शनिवार और बीमारी वाली बात बतायी— शोहरतगढ़ के बिंदा काका की बात बताई— बड़के काका कुछ नहीं बोले। तीनों भाई भांप गये।

विक्रमाजीत सिंह सनातन धर्म महाविद्यालय बी.एस.एस.डी. कालेज नवाबगंज, कानपुर में ठीक गंगातट पर था। नवाबगंज तब कानपुर का उपनगर मोहल्ला रहा होगा। चुन्नीगंज में निगार टाकीज था। वहां से आगे की बस्ती सघन नहीं थी। मकान दूर दूर पर थे। धनिकों की बड़ी बड़ी विशाल कोठियां थीं। आर्यनगर अपेक्षाकृत नई बस्ती रही होगी। कानपुर का विस्तार हो रहा था लेकिन उस गति से नहीं जैसा अब हो रहा है। यहां बलरामपुर से भिन्न स्थिति थी। बलरामपुर में ठहरने का, खाने का, रात में सोने, नहाने धोने का कोई निश्चित ठिकाना नहीं था। यथावसर ही सब कुछ हो जाता था या नहीं होता था। कानपुर में कालेज में हास्टल के कमरे में रहना हुआ। मेस में दोनों समय का भोजन, नहाने धोने, सोने का स्थान था। सौ जीवनक्रम ही बदल गया।

लेकिन इसके लिए नियमित पैसा चाहिए। 2-3 महीने तक तो बड़के काका ने अपने वचन का पालन किया। बाद में गड़बड़ हो गया। वे व्यापारी थे। व्यापारी के लिए प्रतिमाह निश्चित रकम किसी को यूँ ही देना मुश्किल होता है। इससे बड़ी परेशानियां हुईं। जीवनसंघर्ष का रूप बदल गया और उन परेशानियों का समाधान भी हुआ जो आज मुझे चमत्कार लगती हैं। लेकिन यह सब थोड़ी देर बाद।

इंटरमीडिएट में— तब यह एफ.ए. कहलाता था— अंग्रेजी श्री शालिग्राम मिश्र पढ़ाते थे। बहुत अच्छा पढ़ाते थे। अंग्रेजी के दूसरे अध्यापक श्री प्रयाग नारायण त्रिपाठी थे जो एक साल बाद ही दिल्ली आकाशवाणी में चले आये। बाद में तीसरा सप्तक के कवि हुए। प्रथम वर्ष का रिजल्ट आया तो उन्होंने मुझे अपने निवास पर बुलाया, प्रोत्साहित किया और एक किताब दी *वन हर्ड्रेड ग्रेट लाइज*— कहा इसे पढ़ डालो।

कालेज में पहला वर्ष घटनाविहीन नहीं था। कालेज में छात्रसंघ था। उसका चुनाव होता था। विद्यार्थियों में चुनाव की हलचल मेरे लिए रोमहर्षक नया अनुभव था। क्लास, क्लास में, कमरे कमरे में कन्वेसिंग होती। छात्रावास के प्रतियोगी शिविरों में लाउडस्पीकर से भाषण और फिल्मी गाने प्रसारित होते। चुनाव लड़ने वाले प्रत्याशी तत्कालीन नेताओं की तरह चेष्टाएं करते। राजनीतिक पार्टियों— विशेषतः समाजवादी और आर.एस.एस. का दबाव छात्रसंघ के चुनाव पर था लेकिन दबा दबा। चुनाव प्रचार के लिए जो कार्ड बंटते वे सुगंधित होते। लेकिन सब कुछ शांतिपूर्ण और काफी अनुशासित रहता था।

प्रचारकों के भाषण फरटि से अंग्रेजी में होते। धाराप्रवाह अंग्रेजी मैंने पहली बार सुनी तो मन पर बहुत असर पड़ा। धाराप्रवाह अंग्रेजी बोलने वाले छात्र प्रचारकों का रूतबा बहुत बढ़ जाता था। वे अपनेआप हीरो बन जाते। हिंदी में भी अच्छा या धुआंधार भाषण देने वाले का

रुतबा बढ़ जाता। लेकिन अंग्रेजी वालों जैसा नहीं। पहले चुनाव में समाजवादी पार्टी का प्रत्याशी जीत गया। आर.एस.एस. वाला हार गया। इससे मुझे बड़ी निराशा हुई।

तब कालेजों में रैगिंग का बोलबाला था। नये आने वाले छात्र सीनियरों से बहुत घबड़ाते थे। जूनियर्स, यानी नवागंतुक छात्रों को तंग करने के तरीके भी बहुत स्थूल थे। कभी कभी मारपीट, यहां तक कि हत्या और आत्महत्या तक, हो जाती थी। वी.एस.एस.डी. में ये हालत तो नहीं थी लेकिन रैगिंग का खौफ हम लोगों को जबरदस्त था। एक दिन शाम को आठ बजे हम लोगों ने सुना कि आज रात को मेन हास्टल के सीनियर लड़के हम लोगों की रैगिंग करने आएंगे। अब हम क्या करें? एक सहपाठी ने राय दी। हम लोग हास्टल छोड़कर कहीं शहर चले जाये। देर रात तक लौटें। लेकिन शहर में रहें कहां? एक ने राय दी इसमें क्या मुश्किल है। सेकेंड शो का सिनेमा देखें। राय सबको पसंद आई। कहां, किस हाल में सिनेमा देखें? कालेज से सबसे नजदीक चुन्नीगंज में निगार टाकीज था। वहां दिलीप कुमार कामिनी कौशल की पिक्चर *नदिया के पार* लगी थी। चुन्नीगंज नवाबगंज से 5-6 मील की दूरी पर था। लेकिन यह कौन बड़ी बात थी उस समय हम लोगों के लिए। हमने दूरी पैदल तय की। सिनेमा देखा। रात को दो बजे हास्टल लौटे। यह कानपुर में पहली फिल्म थी जो मैंने देखी। इसके पहले गोंडा में दिलीप कुमार को *मिलन* में देखा था। वह रवींद्रनाथ की कथा *नौका डूबी* पर आधारित थी। मैंने उसे गलती से पहले कहीं शरतचंद्र की कहानी लिख दी थी। *नदिया के पार* का गाना— *अंखियां मिला के अंखिया रोवे दिन रतियां हो भूले न बतिया नाभूले हो सुरतिया तोहार* बहुत पापुलर हुआ गीत मोती बी.ए. का था। एक सहपाठी था 'मल्ल'। वह कहता यह गीत मेरी बोली में है। वह आजगमढ़ का था।

लेकिन हास्टल में सीनियर छात्रों की दादागिरी बरकरार थी। यह दादा शब्द भी विचित्र है। 'दादा' बड़े भाई को कहते हैं। बड़ा भाई छोटे भाई बहनों पर हुकुम चलाता है। आपको प्रेमचंद की कहानी *बड़े भाई* जरूर याद आई होगी। दादा का अनुवाद इसी अर्थ में बिग ब्रदर हो गया है। सो अब दादागिरी रंगदारी का पर्याय हो गया है। बिल्कुल ठीक उसी अर्थ में 'सीनियरगिरी' व्यवहार में प्रचलित थी। गोरे चिट्ठे फ्रेशर्स नवागंतुक छात्रों की मुसीबत थी। वे किसी सीनियर दादा से पटकर बदनाम होते तो बच जाते।

फर्स्ट इयर 1953-54 के बीच सत्र में मैं सख्त बीमार पड़ा। अक्टूबर की छुट्टियों में बलरामपुर आया वहां महाविष्णु यज्ञ हो रहा था। वहां से बढ़नी गया वहीं बीमार पड़ा। टाइफाइड हो गया। करीब एक महीने बिस्तर पकड़े रहा। कालेज खुल गया था। मैं बढ़नी में पड़ा रहा। पढ़ाई छूट गई। कालेज पहुंचा तो नाम कट गया था। पढ़ाई में पीछे छूट गया था। बहुत दिक्कत हुई; अपने को विस्थापित महसूस करने लगा। जैसे नागरिकता खत्म हो गई हो। तब मैं आर. एस.एस. में था। कालेज की प्रबंध समिति के अध्यक्ष बैरिस्टर नरेंद्र जीत सिंह थे। उन्हीं के पिता विक्रमाजीत सिंह थे जिनके नाम पर कालेज खुला था। मेरी फीस माफ हो गई और येनकेन प्रकारेण मेरी पढ़ाई फिर शुरू हो गई।

बलरामपुर में मेरे शुभचिंतक अध्यापक पं. शिवबक्शा जी नमक नहीं खाते थे। उनके बारे में प्रसिद्ध था कि एक बार बिच्छू ने काटा तो बिच्छू मर गया। नमक न खाने से उनका शरीर ऐसा हो गया था कि विष का प्रभाव न पड़ा। वे मेरे आदर्श थे। मैंने उनसे पूछा तो उन्होंने भी राय दी, हां नमक खाना जरूरी नहीं, मैंने भी नमक खाना छोड़ दिया। और उसी के फलस्वरूप सख्त बीमार पड़ा। डाक्टरों ने कहा नमक स्वास्थ्य के लिए जरूरी है। फिर नमक खाना शुरू किया और नार्मल हो गया।

प्रथम या द्वितीय वर्ष एफ.ए. में दो व्याख्यानों की याद है— एक था तत्कालीन सूचना, प्रसारण मंत्री आर.आर. दिवाकर का व्याख्यान। उन्होंने भाषण में कहा— “भारतवर्ष में जन्म लेने का सबसे बड़ा लाभ यह है कि तुम कालिदास पढ़ सकते हो।” उनका यह वाक्य मुझे अक्सर याद आता है।

दूसरा भाषण उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री गोविंद वल्लभ पंत के सचिव गोविंद सहाय का था। गोविंद सहाय प्रभावशाली वक्ता थे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के घोर अनथक विरोधी। मेरी जानकारी में संघ का जैसा तीव्र विरोध उन्होंने किया, वैसा आज तक किसी पार्टी के किसी नेता ने नहीं किया है। वे नेहरूवादी थे। उनका यह वाक्य भी मुझे अक्सर याद आता है— फासिज्म कल्चर का नाम लेकर आता है। वे आर.एस.एस. की विचारधारा को हिटलर और मुसोलिनी की विचारधारा का अनुकरण बताते थे।

और तब मैं संघ का प्रतिबद्ध स्वयंसेवक था। पुराने कानपुर की एक शाखा में मुख्य शिक्षक था। गोविंद सहाय ने भाषण के बीच कहा— संस्कृति क्या है? क्या इस सभा में बैठे कोई संघ समर्थक मुझे बता सकता है कि संस्कृति क्या है। मैं भावावेश में खड़ा हो गया बोला— मैं बता सकता हूँ कि संस्कृति क्या है। मुझे बोलने दीजिए लेकिन तब तक पूरी सभा में शोर मच गया— बैठ जा बैठ जा की इतनी आवाजें आईं कि मैं बोल नहीं पाया बैठ गया। हालांकि मैं संस्कृति समझने के लिए आवेश में खड़ा हो गया था लेकिन जानता नहीं था कि क्या बोलूंगा?

दूसरे दिन मैं लोगों की निगाह में आ गया। संघ के समर्थक छात्रों ने कहा— बोलने देते तो यह लड़का करारा जवाब देता। क्लास टीचर प्रयाग नारायण त्रिपाठी जी क्लास में मुझे देखकर मुस्कराने लगे।

कानपुर में मेरा आर.एस.एस. से सम्बंध प्रथम वर्ष में बना रहा। बलरामपुर में संघ के अधिकारियों ने कानपुर के लोगों को मेरे बारे में सूचित कर दिया था। मैं जब प्रथम वर्ष में था यानी 1949 में, गुरु जी राष्ट्रीय सेवक संघ के सरसंघ चालक माधव राव सदाशिव गोलवलकर बैतूल जेल से छूटकर लखनऊ आये। वहां चारबाग स्टेशन पर उनका भव्य स्वागत किया गया। उस स्वागत समारोह में शरीक होने जो दल कानपुर से गया था उसमें मैं भी था। वहां मंच पर अटल जी ने कविता पाठ किया था गुरु जी के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए जिसकी एक पंक्ति थी— *देव के पावन चरण पखार।*

कानपुर में एक बंगाली संघ प्रचारक थे रजनीकांत लहरी जो ‘रकाल’ नाम से लिखते थे। उन्हें छोड़कर किसी अन्य प्रचारक से मेरा विशेष सम्बंध नहीं बना। वी.एस.एस.डी. कालेज में अवश्य संघ के अनेक पुराने स्वयंसेवक थे। कालांतर में दिल्ली विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के रीडर डा. रामनाथ त्रिपाठी तब कालेज में एम.ए. हिंदी के विद्यार्थी थे। वे कभी कभी क्लास भी लेते थे। उन्होंने कुछ दिनों तक मुझे बी.ए. में पढ़ाया है। बाबूराम शुक्ल थे जो कार्यालय में काम करते थे। रामचंद्र गुप्त थे जो लाइब्रेरियन थे। कालेज की प्रबंध समिति पर संघ का वर्चस्व था इसलिए छोटी छोटी जगहों पर स्वयंसेवकों को रख लिया जाता था। लेकिन अध्यापकों की नियुक्ति में ऐसा कोई भेदभाव नहीं किया जाता था। उनकी नियुक्ति योग्यता के आधार पर ही की जाती थी।

कालेज मुख्यतया कामर्स की पढ़ाई के लिए विख्यात था। वह उत्तर भारत में कामर्स की शिक्षा के प्रमुख विद्यालयों में था। दूर दूर तक के विद्यार्थी वहां पढ़ने आते थे। इसलिए वातावरण लगभग अखिल भारतीय था। वैसे अंग्रेजी, हिंदी, इतिहास, अर्थशास्त्र, संस्कृत विभाग में अवश्य स्थानीय अध्यापकों, छात्रों की बहुतायत थी। हिंदी विभाग के अध्यापक पं. अयोध्यानाथ शर्मा

थे। शर्मा जी बहुत सम्माननीय अध्यापक थे। वे काशी विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्रथम बैच के छात्र थे। बाबू श्याम सुंदर दास और आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शिष्य। उदार, शांत, सौम्य, शिष्य वत्सल थे। मैं अर्थाभाव के कारण पढ़ाई छोड़कर घर जा रहा था। उन्होंने ऐन वक्त पर मुझे घर बुलाकर आश्वस्त किया। फीस और मेस के पैसे दिये जिसकी कथा मैं आगे कहूंगा। आजीवन प्रतिवर्ष आचार्य रामचंद्र शुक्ल के परिवार को एक हजार रुपये भेजते रहे ये लिखकर कि— ‘यह मेरे जीवित रहने का प्रमाण है’। पता नहीं कितने छात्रों को उन्होंने अपने आशीर्वाद का वरदान देकर, उन्हें अभावमुक्त करके, जीवन के रास्ते पर लाकर खड़ा किया।

इतिहास के अध्यापक प्रो. एस.के. भटनागर ऐसे आदर्शवादी, विद्वान अध्यापक थे कि प्रिंसिपल होने से मना करके अध्यापक बने रहना ही उचित समझा। एकाध बार उन्होंने मुझे समझाया— तुम अर्थाभाव में याचना मत करो, तुम योग्य छात्र हो, शिक्षा मिलना तुम्हारा अधिकार है। वे प्रगतिशील विचारों के रहे होंगे। मैंने संस्कृति पर बात करते हुए गोर्की के विचारों को उद्धृत किया तो वे तपाक से बोले— “बिल्कुल यही विचार और परिभाषा ठीक है।” उन्होंने सुना कि मैं सिनेमा बहुत देखने लगा हूँ तो बोले— “अगर बी.ए. में प्रथम श्रेणी नहीं आई तो तुम्हें फांसी पर लटका देंगे, यू विल बी हैंड इफ यू फेल टू गेट ए फर्स्ट क्लास इन बी.ए. इकजाम्स।” मेरी बी.ए. में फर्स्ट क्लास नहीं आई और मैं कानपुर में उन जैसे अध्यापकों से मिलने के डर से करीब 25 वर्षों तक कानपुर नहीं गया। 1953 जुलाई में रिजल्ट निकला। मैं 1988 में कानपुर गया।

श्री एम.पी. श्रीवास्तव अंग्रेजी के सीनियर अध्यापक थे। उन्होंने बी.ए. में पढ़ाया। उनके अध्यापन की याद मुझे सबसे ज्यादा है। बहुत अच्छे अध्यापक थे। उनके क्लास में हम मंत्रमुग्ध होकर पढ़ते सुनते थे। उनके अध्यापन का ढंग विचित्र था। ठीक समय पर आते। घड़ी नहीं पहनते थे। लेकिन क्लास का घंटा कब बजेगा इसका सटीक अनुमान करके ठीक समय पर क्लास छोड़ देते थे। पढ़ाते समय खासतौर पर तन्मयता के अवसरों पर मेज के निचले स्तर को दाहिने पैर से ठोकते रहते। जितना अच्छा पढ़ाते उसी लय में, उसी द्रुति में पैर ठकाठक बजाते रहते। वाक्यों के आरोहावरोह में। वे इतना अच्छा न पढ़ाते तो यह सब निहायत हास्यास्पद लगता। हम लोग उनके पढ़ाने को लेकर आपस में मजा ले लेकर बातें करते।

कहते हैं उनका चयन आई.सी.एस. के लिए हो गया था। आंख कमजोर थी इसलिए नौकरी में बहाल नहीं हुए। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में एम.ए. थे। पूरा नाम महादेव प्रसाद श्रीवास्तव था। बाद में पता चला हिंदी कवि रघुवीर सहाय के श्वसुर थे। रघुवीर सहाय मुझसे कहते— “मेरे साथ चलो बी.ए. में फर्स्ट क्लास न आने के कारण तुम्हें नहीं डाटेंगे।”

एक दिन उन्होंने क्लास में इतना अच्छा पढ़ाया कि मैं उनके घर पहुंच गया। गर्मी के दिन थे वे सिर्फ धोती पहने, बिना कमीज व बनियान के किसी छोटे बच्चे को खेला रहे थे। मुझे देखते ही बोले—

“कैसे आये ह्वाट ब्रिंग यू हियर?”

मैं क्या कहता सीधे बोला— “सर आप बहुत अच्छा पढ़ाते हैं।”

वे कुछ नहीं बोले सिर्फ एक वाक्य कहा— “मैं जानता हूँ कि मैं अच्छा टीचर हूँ। आइ नो दैट आइ एम ए गुड टीचर, जाओ पढ़ाई मेहनत से करो।”

इम्तहान देने के बाद मिले तो कहा— “मैंने सुना है कि तुम्हारे पेपर अच्छे नहीं हुए हैं।”

मैं डर गया, बोला— “सर मेरे पेपर्स अच्छे हुए हैं। मेरी प्रथम श्रेणी तीन अंकों की कमी से रुक गई।” इसके बाद मैं उनके दर्शन नहीं कर पाया।

अंग्रेजी के दो और अध्यापक थे— श्री शालिग्राम मिश्र और के.एन. पांडेय।

मिश्र जी हिंदी के कवि और लेखक भी थे। कई वर्षों बाद उनका उपन्यास *खजुराहो की वधू* प्रकाशित हुआ। वे कालेज के कवि सम्मेलनों में आते थे और कविता सुनाते थे। उन्होंने मेरी सहायता के लिए कुछ दिन अपने यहां— लड़के को पढ़ाने के लिए ट्यूशन भी लगवा दिया था जो मेरे प्रमादवश चल नहीं सका। मैं नियमित ट्यूशन पढ़ाने नहीं जा पाता। बीच बीच में नागा बहुत करता था। ट्यूशन छूट गई तो मैं बहुत डरा। होली पर मिलने उनके घर गया और मैंने क्षमा मांगी तो उन्होंने निहायत आत्मीयता और उदारता से कहा— “यू माइट हैव नॉट डन इट, समझ लो तुमने ऐसा किया ही नहीं।”

के.एन. पांडे, कैलाश नाथ पांडे हमारे क्लास टीचर और परम आत्मीय थे। बहुत अनौपचारिक। एफ.ए. की पढ़ाई समाप्त होने पर इम्तहान के पहले हास्टल में रहने वाले हम विद्यार्थियों ने उन्हें निमंत्रित किया, उनसे बातचीत करने, अनौपचारिक वार्ता के लिए। वे इतने प्रिय थे हमारे।

वे क्लास में फिल्मों की बातें करते। गीताबाली के परम प्रशंसक थे। भारतभूषण और गीताबाली की फिल्म *सुहागरात* उन्हें बहुत पसंद थी। उनकी बातें सुनकर मैं भी गीताबाली का फैन बन गया और अब भी हूँ। मेरे विचार से और यह बात मैंने कृष्णा सोबती से कही भी कि मित्रो मरजानी की भूमिका केवल गीताबाली अदा कर सकती थी। उस फिल्म का गाना— *किस पापी संग उलझी अंखियां रो रो नैन गवाएं*। आज तक मुझे तड़पाता है। श्री के.एन. पांडेय ऐसे अध्यापक थे जिन्होंने क्लास में घोषणा करके मुझसे और सतीश से कहा— “मुझसे पैसे ले लो टिकट के और जाओ *रामराज्य* देख आओ।” वे मेरी और सतीश की दोस्ती समझते थे और हमारी जेब का खालीपन भी समझते थे। ऐसे थे श्री के.एन. पांडे।

उन्होंने हमें ए.जी. गार्डनर के निबंध और *जूलियस सीजर* पढ़ाया था।

एक बार क्लास में तुलसीदास पर वे बोल रहे थे। बहुत प्रशंसा की। मैंने लड़कपन की मूर्खता में कहा— “आज के वैज्ञानिक युग में तुलसीदास की अतिशयोक्तियां गले नहीं उतरतीं।” उन्होंने कुछ नहीं कहा। उन्हीं दिनों कानपुर में प्रसिद्ध वैज्ञानिक नोबेल पुरस्कार विजेता सी.वी. रमन आये थे। उनका भाषण हुआ। हम भी उसे सुनने गये थे।

सी.वी. रमन ने विज्ञान के युग में कविता की उपयोगिता की वकालत की। जीवन जगत में फैले सौंदर्य को आंकने की क्षमता अर्जित करने की बात की।

दूसरे दिन क्लास में श्री पांडेय ने मुझे सम्बोधित करते हुए कहा— “यू द साइटिस्ट विश्वनाथ त्रिपाठी, आई होप यू डिड लिसेन टू सी.वी. रमन।”

विश्वनाथ त्रिपाठी तुम वैज्ञानिक बनते हो तुमने सी.वी. रमन का भाषण सुना होगा।

मैं शर्मिदा और पुलकित।

क्लास में आग्रह करते— किताब लेकर आया करो। मेरे पास किताब नहीं होतीं। मुझे क्लास में खड़ा किया, बोले— “आई स्पेयर नोबडी, माई ब्वाय!” बच्चों मैं किसी को नहीं बख्शाता।

पता नहीं अब वे हैं या नहीं। मैं एक बार भी बाद में उनसे नहीं मिल पाया। ऐसा नोन हारामी।

स्मृतिदंश भी क्या है। इतना घातक और इतना पुनरुज्जीवक। अतीत से इतना साक्षात्कार कराने वाली— मनुष्य को कालजयी बना देने का भ्रम पैदा कराने वाली— कालपाश से मुक्त कर देने वाली— और इतना विवश चीत्कार करा देने वाली होती है यह। काल से मुक्त करा देने

का अहसास और काल से विवश बना देने वाली मानसिक प्रक्रिया है सुरति। कबीर साधना में सुरति को निरति में पर्यवसित कर देने की बात करते हैं। सुरति (स्मृति) घनीभूत होकर निरति (स्मृतिहीनता) में पर्यवसित हो जाती है। गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है। स्मृति घनीभूत होकर साधक को ध्येय से तदरूप तन्मय करके एक कर देती है। दो सत्ताओं को एक कर देती है। व्याकुल को संकुल कर देती है। लेकिन अंतस्साधना में! कबीर बाह्य जगत से विक्षुब्ध अंतर्जगत में सिद्धि पाने वाले साधक हैं। इसी अंतर्लोक में भविष्य के लिए विजन है! स्वप्नलोक है जो आज हमारा ध्येय बन रहा है।

लेकिन हम जैसे गैर साधकों की इतनी बड़ी जमात के साथ क्या होता है?

स्मृतियां अतीत में गहरे समाई रहती हैं। दिनोंदिन समय के साथ अतीत में गहराती जाती हैं। गहरे जाती हुई क्या वे कमजोर— कम प्रभावशाली— हो जाती हैं? नहीं जितना गहरे वे समय में, मन में, व्यक्तित्व में गहराती जाती हैं, ज्यादा तीव्र प्रभावशाली होती जाती हैं। दूर जाकर और ज्यादा तात्कालिक होकर प्रकट होती हैं। अपना देशकाल एक क्षण में त्यागकर सामने और मन में रास्ता रोककर खड़ी हो जाती हैं और लुप्त हो जाती हैं। हमें कालजयी होने का अहसास या भ्रम देकर एक अजीब संतोष दे जाती हैं। दूर दूर की यात्रा करने वाले की थकावट से पैदा होने वाले संतोष का अहसास।

गृद्धकूट पर्वत पर मोमबत्तियां जलाकर बुद्ध की पूजा करने वाले चीनी यात्री ह्वेनसांग ने आंसू बहाते हुए कहा था— हाय मैं क्यों इतने दिनों बाद पैदा हुआ हूँ कि मैं उनके दर्शन नहीं कर सकता।

पहला साल, एफ.ए. का निकल गया। रिजल्ट आया तो मेरे नम्बर सबसे अच्छे थे। नम्बर सबसे अच्छे थे लेकिन मेरे पास कालेज की फीस, हास्टल और मेस का बकाया भरने के लिए पैसे नहीं थे। मुझे हास्टल का कमरा खाली कर देने, फीस न देने पर नाम काट देने की चेतावनी और मेस महाराज के तगादे पर तगादे मिल रहे थे। एक दिन ज्यादा गड़बड़ हो गया। हास्टल में बलरामपुर के कुछ छात्र रहते थे। मैं, अमरपाल सिंह, महावीर अग्रवाल, संतशरण, अनंतशरण अग्निहोत्री बंधु और कोई एक जिसका नाम मुझे नहीं याद आ रहा। अमरपाल सिंह दबंग थे। मुझसे थोड़ा खिंचे रहते थे। शाम को कमरे में साथियों के सामने ही मुझे भला बुरा कहने लगे— “तुम बलरामपुर का नाम कलंकित कर रहे हो, मेस के महाराज का पैसा क्यों नहीं देते? वह जगह जगह घूमकर बलरामपुर वालों की इज्जत धूल में मिला रहा है तुम इतने जलील हो बिसनाथ।”

मैं हक्का बक्का। इतनी बेइज्जती! मैं कुछ नहीं बोला। मैं हास्टल के पास प्लेग्राउंड में जाकर अकेले में रोने लगा। मुझे अम्मा की, पिता की, गांव की, साथियों की याद आने लगी और मैं भोंकार फाड़कर रो पड़ा। साथियों ने बहुत देर तक मुझे न पाकर खोज की तो देखा मैं रो रहा था। उन्होंने कारण समझ लिया और कहा चलो अभी अमरपाल सिंह की खबर लेते हैं। दिक्कत यह थी कि हमारे साथियों के पास भी इतने पैसे नहीं थे कि वे मेरी मदद कर सकें। कोई कमाने वाला तो था नहीं। सबके घरवाले सीमित रकम घर से भेजते थे। आखिरी में मैंने फैसला किया— पढ़ाई छोड़कर घर वापस चलो। बिना पैसे के पढ़ाई नहीं हो पायेगी। लेकिन वापस जाने को भी पैसा चाहिए। रेल का टिकट तो चाहिए न! सो मन मारकर, किंकर्तव्यविमूढ़ पड़ा रहा। किंकर्तव्यविमूढ़ शब्द नहीं उसकी जीवन स्थिति को भोगता हुआ।

दूसरे दिन शाम को नवाबगंज बस स्टैंड के पास वही अमरपाल सिंह मिले बोले बिसनाथ! तुम्हें अयोध्या नाथ शर्मा पूछ रहे थे, मुझसे कहा है फौरन उसे मेरे पास भेजो। मैं उसी क्षण

उनके पास, आर्यनगर, उनके घर पहुंचा। चरणस्पर्श किया। वे शांत सहज मुद्रा में बोले— “सभी विषयों में तुम्हारे अंक सर्वोच्च हैं। क्या तुम्हें कुछ आर्थिक कष्ट है? मैं उनके पैर पकड़कर रोने लगा। सारी स्थिति बता दी। उन्होंने उसी सहजता से कहा— “अब तुम आर्थिक चिंता मत करो। पढ़ाई पर ध्यान दो। उसी समय उन्होंने सौ रुपये दिये। कहा— “इन पैसों से तुम फीस, मेस, हास्टल के पैसे दो।” जब कोई जरूरत हो मुझसे कह दिया करो।” और कोई ज्यादा बात उन्होंने नहीं की। मैं स्तब्ध, चकित मन से रुपये लेकर हास्टल वापस आया। पैसे चुकाए। और निश्चिंत होकर पढ़ने, सोने, चहकने लगा।

आज जीवन के इस निर्णायक मोड़ की घटना पर आश्चर्य होता है। पं. अयोध्यानाथ शर्मा न होते, उन्होंने बिना कहे मेरी खबर न ली होती तो मेरा जीवन क्या होता! क्या उनका ऋण सौ जन्मों में भी उतार सकता हूँ और उससे भी बड़ा आश्चर्य यह कि न तो मैं उनके यहां जाने लगा न मैं उनका कोई विशेष प्रिय छात्र या प्रशंसक शिष्य बना। वे ठीकठाक लेकिन अनाकर्षक पढ़ाते थे। विद्यार्थियों की लगातार सहायता करते थे। लेकिन उसका यश प्राप्त करने की कोई उमंग नहीं थी उनमें। सहायता करने पर आत्मौचित्य का कोई संचारी व्यभिचारी भाव उनकी चाल या वाणी में नहीं आता था। निर्विकार सहज रहते। वे 103 वर्षों तक जीवित रहे। 1999 ई. में उनकी मृत्यु हुई। देहांत के दो तीन दिन पूर्व ही मुझे उनके चरणों का स्पर्श करने का सौभाग्य मिला। लेटे थे। उनकी बड़ी लड़की इंदिरा जी उनकी सेवा कर रही थीं जगने पर उन्होंने उसी सहज मुद्रा में मुझसे पूछा— ठीक हो? डा. नगेंद्र कैसे हैं? डा. रामनाथ त्रिपाठी कैसे हैं? डा. नगेंद्र उनका बेहद सम्मान करते थे। डा. रामनाथ त्रिपाठी उनके शिष्य थे।

इंटरमीडियट में सिक्क्स पढ़ाने के लिए श्री त्रिलोकीनाथ श्रीवास्तव की नियुक्ति हुई। वे इतना अच्छा पढ़ाते थे कि जल्दी ही हमारे प्रिय अध्यापक हो गये। छोटे कद के थे। उनका कद देखकर तो निराशा होती लेकिन क्लास में बोलते ही उनका कद ऊंचा हो जाता। बाद में पता चला कि वे अटल बिहारी वाजपेयी के क्लास फेलो थे। एम.ए. में उनकी पहली पोजीशन आई थी। अटल जी की दूसरी। सबसे पहले उन्हीं से राहुल सांकृत्यायन और रूसो का नाम सुना। इन दोनों के व्यक्तित्व के प्रति उन्होंने ही मेरे मन में आकर्षण पैदा किया। राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में मेरी रुचि उन्हीं के कारण हुई। मूर्खता के वश उनसे मैंने एक बार अजीब व्यवहार किया जिसे याद करके मुझे आज हंसी आती है।

उनके पिता का देहांत हुआ। मैं उनके घर शोक प्रकट करने गया। सहानुभूति के अतिरेक में मैंने सोचा हाय! टी.एन. साहब कितने दुखी हैं। अकेले हैं, कोई साथ देने वाला नहीं। कर्मकांड में पैसे की जरूरत पड़ेगी। मेरे पास उस समय कुछ पैसे रहे होंगे। मैंने संकोच और उदारता के साथ कहा— टी.एन. साहब आपको पैसे की जरूरत होगी। इस समय मेरे पास 15 रुपये हैं आप ले लीजिए।

उन्होंने विस्मयपूर्वक मुझे देखा और कहा धन्यवाद! मेरे पास काम भर के पैसे हैं बेटा तुम चिंता मत करो।

मेरी मूर्खता अव्यावहारिकता का उन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि आजन्म वे मुझे अव्यावहारिक और बेवकूफ समझते रहे। मेरा ध्यान रखते रहे। नैनीताल गवर्नमेंट कालेज में जब मैं पढ़ाने गया तब वहां वह पहले से ही आ गये थे।

शाखा में नियमित रूप से मैं अब भी जाता था। पुराना कानपुर की एक शाखा का मुख्य शिक्षक था। लेकिन अंदर अंदर कुछ विचलन हो रहा था। मैं देखता कि संघ में खाते पीते उच्च स्थिति वाले घरों के स्वयंसेवकों का ज्यादा सम्मान होता। अंदर ही अंदर मैं गांधी, नेहरू, पटेल,



किदवई, मौलाना आजाद का सम्मान करता था। मेरे गांव में और बलरामपुर में भी अनेक मुसलमान दोस्त थे। गांव में मौलवी जकाउल्ला 'जाकिर' के सम्पर्क में मैं उर्दू साहित्य का प्रशंसक हो रहा था। कम्युनिस्ट पार्टी का कानपुर में बहुत अच्छा काम था। अंग्रेजी में पत्रिका आती *ब्लिट्ज* उसे पढ़ता। वह पत्रिका लोकप्रिय थी और आर.एस.एस. का प्रबल विरोध करती थी।

इस बीच एक और घटना हो गई जिसने मेरे जीवन को बहुत प्रभावित किया। प्रथम वर्ष 1949-50 में सहपाठी सतीश बजाज से मेरा परिचय हुआ। द्वितीय वर्ष तक उससे मेरी पक्की दोस्ती हो गई। हम दोनों अक्सर साथ रहते। साथ पढ़ते। मैं जब मेस का पैसा नहीं दे पाता, खाना बंद हो जाता। वह रात की थाली कमरे में मंगाता हम दोनों एक ही थाली में खा लेते। वह भी मेरी तरह अधपेटा रह जाता। सतीश भी घर का बहुत सम्पन्न नहीं था लेकिन उसके पिता आर्मी में थे शायद जे.सी.ओ.; वह प्रतिमास पचास रुपये भेजते। सतीश के चाचा हैलेट नगर, गोविंदपुरी में निजी डाक्टर थे। सतीश पढ़ने में बहुत अच्छा नहीं था। मैं उसकी पढ़ाई में मदद करता।

सतीश फिल्मों का शौकीन था। मैं हर महीने मशीन चलवाकर हजामत करवा लेने वाला। भारतीय संस्कृति, सदाचार, ब्रह्मचर्य का वीर बालक। मैंने उससे साफ कह दिया सिनेमा देखोगे तो मुझसे मित्रता नहीं चलेगी। मैं शाखा चलने को कहता लेकिन वह शाखा नहीं गया। हां उसने मुझे वादा किया कि सिनेमा नहीं देखेगा। मुझे यकीन हो गया कि उसने मेरी बात मान ली।

3-4 हफ्ते बाद एक दिन वह तीसरे पहर गायब हो गया और रात को आठ बजे लौटा। मुझे शक हो गया कि उसने मैटिनी शो— 3 से 6 बजे शाम वाला शो— देखा है। मैंने उससे पूछना शुरू किया। डांटना भी। वह सीधा था कबूल कर लिया। अब मेरी उससे खुट्टी हो गई। बोलचाल बंद। 4-5 दिन हमारी बातचीत नहीं हुई। वह उदास गुमसुम। एक दिन वह खिड़की के पास कुर्सी पर बैठा चुपचाप बाहर देख रहा था। मुझे बड़ी सहानुभूति लगी। मैंने उसके कंधे पर हाथ रखकर कहा सतीश! उसने पीछे मुड़कर मुझे देखा और लगा हिचक हिचक कर रोने। उसकी बड़ी बड़ी आंखों से आंसू गिरते गये, बोला त्रिपाठी तू एक बार वह फिल्म देख ले फिर मैं तुमसे फिल्म देखने के लिए नहीं कहूंगा। इतनी अच्छी फिल्म है कि मैं बिना देखे नहीं रह पाया। मैंने वरदान देने वाले देवता की मुद्रा में कहा चल मैं फिल्म देख लूंगा। उसने मेरे लिए टिकट खरीदा, कहा— तुम टिकट लेकर बिना देखे लौट आओगे। इसलिए मेरे साथ मिनर्वा टाकीज गया। मुझे हाल में बिठाकर तब लौटा— मैंने फिल्म देखी राजकपूर की पहली फिल्म थी *आग*। राजकपूर हीरो, कामिनी कौशल, निगार, नरगिस तीन हीरोइनें। मशहूर गाना— शायद बहनाद लखनवी का लिखा, मुकेश का गाया—

*जिंदा हूं इस तरह कि गमे जिंदगी नहीं  
जलता हुआ दिया हूं मगर रोशनी नहीं  
ओठों के पास आये हंसी क्या मजाल है  
दिल का मुआमिला है कोई दिल्ली नहीं  
गो मुद्दतें हुई हैं किसी से मिले हुए  
लेकिन ये दिल की आग अभी तक बुझी नहीं*

सतीश यह गाना बहुत भावुक, गम्भीर होकर अक्सर गाता। उसमें एक सीन था जिसमें हीरो अपना रिजल्ट देखता है। फेल हो जाता है। हीरो का बाप कहता है बेटा हर कोई पास हो जाये तो रिजल्ट निकले ही न। सतीश इस सीन की बहुत तारीफ करता। हीरो बहुत खूबसूरत है लेकिन दिल की कशमकश में अपना चेहरा झुलसकर बहुत डरावना, बदसूरत कर लेता है।

आखिरी में उसकी पहली प्रेमिका निगार ही उसे मिलती है। प्रेमनाथ *आग* फिल्म में सहनायक है।

और फिर उसके बाद मैं सतीश का सिनेमा सहचर बन गया। संयोगवश सतीश के पिता ने एक साइकिल खरीद दी। हैलेट नगर से नवाबगंज आने जाने के लिए। उस साइकिल के पीछे या आगे मैं बैठता; हम सिनेमा देखते। अगले वर्ष मुझे साठ रुपये का वजीफा मिलने लगा। कभी कभी हम एक दिन में चार शो देखते। सतीश से अब भी झगड़ा होता लेकिन फिल्म न देखने के लिए नहीं; इस बात पर कि दिलीप कुमार बड़ा ऐक्टर है कि राजकपूर।

उन दिनों देखी हुई फिल्मों के नायकों, नायिकाओं, सहनायकों, खलनायकों, कमेडियंस, गानों, गायकों का मेरे ऊपर अभी भी बहुत असर है। इस प्रसंग को इतना जल्दी छोड़ने का मन नहीं कर रहा लेकिन कुछ दूसरी जरूरी बातें हैं। फिल्मों पर आगे कहीं न कहीं बात होगी।

पिछली शताब्दी के पांचवें दशक की शुरुआत थी। देश में उग्र वामपंथी अंदोलन छिड़ा था। रणदिवे की लाइन चल रही थी। 'किसान जागा जमींदार भागा' का नारा दिया गया था। बस्ती जिले में मेरे पिता के एक मित्र जमींदार थे बाबू लाखन सिंह। वे मनकापुर के थे। उनकी बहन की शादी जिले के ही सगरागढ़ के राजा से हुई थी। उनसे कुछ विवाद चल रहा था। लखन सिंह कभी कभी मेरे घर भी आते थे। लखनऊ के प्रसिद्ध पहलवान सादिक भी उनके साथ एकाध बार आये हैं। कानपुर में एक दिन कालेज में मैंने एक पोस्टर लगा देखा— बस्ती जिले का रावण लाखन सिंह। बाद में सुना कि किसानों ने उनकी हत्या कर दी। उनके भाई बेनी माधव सिंह की भी। आंदोलन के नेता का— जिसमें लाखन सिंह मारे गये— नाम कृष्ण मुहम्मद सिंह था। जाहिर है कि उनका यह नाम वामपंथी विचारधारा को स्वीकार करने के बाद रखा गया होगा। इससे पिताजी को बहुत दुख हुआ। कृष्ण मोहम्मद सिंह को सजा हुई। छूटने के बाद वे, जैसाकि मैंने सुना है, अध्यात्म की ओर मुड़ गये।

लाखन सिंह की दबंगई और अन्याय की कहानियां कभी कभी पिताजी के एक पंडित मित्र छिट्ठाई पंडित सुनाया करते थे। उत्तर प्रदेश में कानपुर वामपंथी आंदोलन का केंद्र था। संत सिंह यूसुफ कानपुर के मशहूर कम्युनिस्ट नेता थे। आंदोलन के ही प्रभाव में एक ऐसी जातीय संस्कृति पनप रही थी जो साम्प्रदायिकता को मानसिकता से दूर कर रही थी। कृष्ण मोहम्मद सिंह, संत सिंह यूसुफ जैसे नाम इसके प्रमाण थे। प्रगतिशील लेखक संघ के महासचिव डा. रामविलास शर्मा एक ऐसी भाषा संस्कृति के समर्थक थे जिसमें हिंदी उर्दू की रचनाएं किसान मजदूर के संघर्ष का चित्रण करें। इस चित्रण से एक ऐसी भाषा का विकास अपनेआप हो रहा था जो बहुत दूर तक समान थी— अपनी विशेषताओं, अस्मिता को खोये बगैर।

नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शील, त्रिलोचन, शिवमंगल सिंह सुमन, फैज, फिराक, मख्दूम, मजाज, कैफी, सरदार जाफरी की कविताएं छप रही थीं। संगठन की सभाओं में गूंज रही थीं। इप्ता की लोकप्रियता चरम पर थी। बंगाल के अकाल के दिनों में वामपंथी लेखक संगठनों ने भरपूर काम किया था। इस आंदोलन ने भारतीय भाषाओं के साहित्य में क्रांतिकारी परिवर्तन किया। कालजयी रचनाकार, रंगकर्मी गायक और अभिनेताओं की एकाधिक पीढ़ियों को जन्म दिया। वह भारतीय रचनाधर्मिता का स्वर्णयुग था। फिल्मों पर तो इप्ता का जैसे अधिकार हो गया था। प्रायः हर बड़ा नाम इप्ता से किसी न किसी रूप में जुड़ा था।

यह अखिल भारतीय व्यापक ऊर्जा आंतरिकता में भक्ति आंदोलन और स्वाधीनता आंदोलन की परम्परा में थी। भक्ति आंदोलन मूलतः वर्णव्यवस्था का तिरस्कार करके जन्मा, विकसित हुआ था। राष्ट्रीय आंदोलन की स्वाधीनता राजनैतिक ही नहीं सांस्कृतिक भी थी। नया

भारतीय रोमांटिक साहित्य संस्कृति आंदोलन योरोपीय रोमांटिक साहित्य का पिछलग्गू नहीं था। योरोपीय रोमांटिक साहित्य सिर्फ सामंतवाद का विरोधी था। भारतीय स्वाधीनता संग्राम सामंतवाद और साम्राज्यवाद दोनों का विरोध करता था। इसलिए वह साहित्य संस्कृति का स्वर्णयुग था। अखिल भारतीय था, भक्ति आंदोलन से सीधा जुड़ता था अपने अंतर्विरोधों के साथ साथ। वह कालांतर में शिथिल कैसे हुआ? इसकी कहानी अलग है। उसके विषय में अलग से कभी।

1951 में मेरी बड़ी बहन की मृत्यु हो गई; उनकी मृत्यु प्रसव पीड़ा में हुई। मैं मिडिल स्कूल पास करने के बाद बलरामपुर उन्हीं के पास पढ़ने के लिए आया था। मेरी बहन सुंदर थी। उनकी शादी पिताजी ने अपनी बीमारी के दिनों में, बड़ी मजबूरी के दिनों में की थी। पूर्वी उत्तर प्रदेश में अभावग्रस्त ब्राह्मण समाज में लड़की की शादी का मतलब, उन दिनों क्या होता था; वह आज भी समझा जा सकता है। लेकिन तब वातावरण आज की अपेक्षा कहीं अधिक घातक और पीड़ादायक था। सबसे अधिक पीड़ा अपने सगे सम्बंधी और ब्राह्मण समाज के लोग ही देते थे। लड़की 12-13 वर्ष की हुई नहीं कि कहने लगते— हां भइया बिटिया तो योग्य हो गई। योग्य माने विवाह योग्य। पिता जी थाने में 'हिस्ट्रीशीटर' दर्ज हो चुके थे। पकड़े जाने के डर से बिस्कोहर से शोहरतगढ़ अपने चाचा के पास रहने लगे थे। पुलिस के डर से भागा हुआ आदमी अपनी विवाह योग्य कन्या के साथ अपने अल्पवयस्क पुत्र के साथ। बिंदा बाबा पहलवान थे, दूकानदारी भी करते थे। अघेड़ अवस्था में दूसरी शादी की थी। घर में पिताजी की, उनकी विवाह योग्य लड़की की, अल्पवयस्क पुत्र की क्या स्थिति रही होगी, सोचने की बात है।

इस हालत में उन्होंने गांव आकर बहन की शादी की थी। जीजाजी स्वभाव से बुरे नहीं थे, कुरूप नहीं थे लेकिन पढ़े लिखे नहीं थे। अपने बड़े भाई की बस में झाड़वारी करते थे। कुल मिलाकर मेरी बहन के योग्य नहीं थे। पिताजी के पास पैसा नहीं था। मुझे याद है कठिन संकट में पकड़ी गांव (पास ही के) के एक अहीर ने उन दिनों उन्हें पैसों से मदद की थी।

मां ने छोटे भाई शेर सिंह से कहा— “चनपरभा (बहन का नाम चंद्रप्रभा था) मर गई।” छोटे भाई ने कहा— “अम्मा बड़नी में बड़के काका पकड़ गये।” उन्हीं दिनों बड़नी वाले बड़के काका को— जिन्होंने कालेज में नाम लिखवाने में मेरी आर्थिक सहायता की थी— पुलिस ने पकड़ लिया। बहुत संकट का समय था। भीषण अकाल का समय था। तिवारी परिवार के पास 20-25 बीघे जमीन थी। फुलवारी थी लेकिन अब वे खेती नहीं करते थे। खेती बड़के काका करते थे लेकिन वे बड़नी चले गये थे। दादा जमींदारों की तरह रहना पसंद करते थे। काम नहीं करते। कभी कभी बीच में मन आता तो काम करते लेकिन कर नहीं पाते। खेत बटाई पर दे देते थे। कुछ पैसा लेते, कुछ अनाज का आधा हिस्सा, काम चल जाता। लेकिन अभाव सब समय मंडराता रहता। मोहल्ले में रोब सिर्फ इसलिए था कि परिवार के लोग कद काठी में जबर्दस्त थे और मौका पाते ही पीट देते। बहन हंसमुख स्वभाव की थी। अपने स्वभाव और सुंदरता के कारण जीजाजी उसे मानते थे। उसकी मृत्यु हो जाने के बाद उनके परिवार से मेरा सम्बंध लगभग खतम ही हो गया।

अनाज की कमी थी। गेहूं नहीं हुआ था। अरहर हुई थी। हमें याद है मां अरहर उबाल देती थी। फुलवारी में इमली के दो पेड़ थे। आम के भी कई पेड़ थे। मां उबली हुई समूची अरहर में इमली का घोल मिलाकर खिलाती। तथापि वह अकालावस्थ का भोजन स्वादिष्ट था। स्वादिष्ट तो था लेकिन दाल भात का स्थानापन्न न था। फिर भी हम एकाध दिन उबली हुई अरहर इमली के घोल के साथ खाकर रह जाते।

इस अकाल बेला में सुअन्न का घोर अभाव था। दाल भात गांव के बनियों या जमींदार

के यहां ही बनता। कभी कभी तो जमीदार बाबू साहब के यहां भी चावल कम पड़ जाता। बलरामपुर से या कानपुर से गांव जाता तो अच्छा न खिला पाने का दादा को मन ही मन बहुत दुख होता। दादा इस मामले में भावुक थे। वे सोचते बिसनाथ (घर के और मोहल्ले के लोग मुझे बड़काबाबू कहते थे और कुछ लोग नंगातलाई) घर आता है और हम उसे दाल भात पूड़ी तरकारी नहीं खिला पाते। हमारे पड़ोस में फागू बाबा रहते थे। फागू बाबा ब्राह्मण थे। मिश्र। उनसे अपनापन भी था और प्रतियोगिता भी। झगड़ा भी होता और मंत्रणा भी। फागू बाबा बाबू साहब के यहां 'सिरवार' थे। सिरवार यानी सीर खेती का कामकाज देखने वाला कर्मचारी। उनकी चलती थी। दबंग थे। ऊपर की आमदनी भी थी। उनका एक पुत्र बच्चा सा, बहुत दिनों की शादी के बाद पैदा हुआ था। रिश्ते में मेरा काका, चाचा लगता था। उनके यहां दाल भात बनता था अकाल में भी। दादा ने फागू बाबा से कुछ कहा होगा। फागू बाबा ने एक दिन मुझसे कहा— "बिसनाथ! तुम कुद्दन को (उनके पुत्र का नाम) जब तक यहां हो, पढ़ा दिया करो। पढ़ाने के बाद खाना यहीं खाया करो।" घर पर खाने का कष्ट मुझे था लेकिन मैं अभाव के दिनों में उनके यहां या किसी के यहां खाना तो बिल्कुल नहीं खा सकता था। मैंने कहा— "पढ़ा दूंगा लेकिन खाना नहीं खाऊंगा। छुट्टियों में कुछ दिन के लिए आता हूं। अम्मा के हाथ का नहीं खाऊंगा तो कैसा लगेगा?" मैं समझ गया दादा ने यह इंतजाम अपना स्वाभिमान मारकर मेरे लिए किया होगा। आज सोचकर कैसा कैसा लगता है। दादा का तेज, चौड़ा सीना लगभग अजानु भुज, गन्ने जैसा पतला छरहरा लम्बा शरीर, ऊपर से जिसने कभी प्यार नहीं जताया मेरे लिए, अपने स्वाभिमान को मारकर मेरी इतनी चिंता कर रहे थे! और मैं मरते समय उनके पास भी नहीं था। छुट्टी में जाता तो कहते— "एतना तो पक्का है कि मरते समय तुम रहोगे नहीं। तार जायेगा तब हफ्ते भर बाद आओगे।" और यही हुआ।

असगर वजाहत का उपन्यास *सात आसमान* मुझे बहुत पसंद है। दूर नौकरी न करके गांव में रह जाने के लिए बाप तामीलयाप्ता पुत्र के लिए घर की मरम्मत कराता है, सुखद जीवनयापन की व्यवस्था करता है और पुत्र से कहता है यहीं रहकर नौकरी करो।

पुत्र कुछ नहीं कहता। पिता और पुत्र दोनों समझते हैं। कहते नहीं कि यह असम्भव है।

इन्हीं दिनों की ऐसी ही एक और घटना की याद है— जब दादा को मैंने असहाय होकर झुकते देखा। घर में अन्न का अभाव था। बिस्कोहर के पास ही एक बड़ा गांव है डोमंसरा वहां ब्राह्मणों की अच्छी बस्ती है। मेरे एक खाते पीते रिश्तेदार— मेरे पिता की बुआ— की शादी उस गांव में हुई थी। वे मेरे घर साल में एकाध बार आती थीं। उनके पति दुबले पतले थे। चिड़चिड़े। कभी कभी उन्हें भवानी आती थीं। बोलने लगतीं मानो देवी जी बोल रही हैं। गांव में इसे देवी आना कहते हैं। सामान्यतः देवी औरतों के सिर पे आती थीं। इस स्थिति में उनके व्यवहार को 'अगुआना' कहते थे। एक दिन दादा ने मुझे बुलाया, पास बैठाया, कागज दिया कलम दी और कहा चिट्ठी लिखो। मैंने चिट्ठी लिखनी शुरू की। दादा ने डांटा— "एतना तमीज नहीं है हाशिया छोड़कर लिखो।" मैंने हाशिया छोड़कर लिखना शुरू किया। चिट्ठी बहुत विनम्रतापूर्व लिखवाई गई थी। अपने घर में अन्नाभाव की स्थिति बताई गई थी और कुछ अन्न भेज देने की प्रार्थना की गई थी। चिट्ठी के साथ दादा ने हलवाहे बदरी के हाथ मिठाई भी भिजवायी। मुझे डांट दिया था सो फुसलाने के लिए टोकरी में से एक लड्डू निकालकर मुझे भी दिया।

डोमंसरा से अन्न नहीं आया। बदरी खाली बोरा लेकर लौट आया।

आजादी के बाद गांव छोड़कर बेहतर सुख सुविधा के लिये शहर आ जाने वाली हमारी पीढ़ी इस अपराधबोध से ग्रस्त है और रहेगी। मुक्तिबोध ने कहा है—

लोकहित पिता को घर से निकाल दिया  
जन मन करुणा सी मां को हंकाल दिया  
पाल लिए स्वार्थों के टेरियर

यह हमारा नया, विघटित परिवार है। सकीर्ण हृदय और सकीर्ण जगह। वाह। दो तीन कमरों का घर जहां हमारा भाई भतीजा कोई मित्र ठिकाने से रातभर रह भी नहीं सकता।

सतीश के साथ साइकिल पर बैठकर सिनेमा देखने के साथ साथ वामपंथी साहित्य पढ़ने में भी रुचि बढ़ने लगी। *क्लिट्ज* तो पढ़ता ही था। उन दिनों सोवयत संघ द्वारा प्रकाशित विज्ञापित वितरित साहित्य भी सस्ते में मिलता था। दो प्रकार के साहित्य सस्ते थे। गीता प्रेस गोरखपुर से छपा विपुल प्राचीन धार्मिक साहित्य। *रामचरितमानस* दो आने में। *वाल्मीकि रामायण* एक रुपये में। दूसरा वामपंथी साहित्य। स्तालिन की जीवनी नौ आने में। गोर्की का उपन्यास आठ आने में। इसी तरह तोल्सतोय, पुश्किन, तुर्गनेव, चेखव की रचनाएं। अच्छा साहित्य खूब पढ़ने को मिलता। राजपुर में कम्युनिस्ट पार्टी का काम भी बहुत मजबूत था। छात्रावास में पार्टी के कार्यकर्ता आते। प्रतिभाशाली, पढ़ने में तेज विद्यार्थी प्रायः वामपंथी रुझान के होते। वी.एस. एस.डी. कालेज की प्रबंध समिति के अध्यक्ष बैरिस्टर नरेंद्रजीत सिंह आर.एस.एस. के थे किंतु कालेज में वामपंथी छात्रों का यूनियन पर कब्जा था। एक बार मेरे कमरे में कामरेड झारखंडे राय आये। वे अरुणा आसफ अली के साथ कालेज में भाषण देने आये थे। वे आर.एस.पी. छोड़कर कम्युनिस्ट पार्टी में आ गये थे। बलरामपुर के क्रांतिकारी युवक केशव प्रसाद शुक्ल ने उनसे मेरा परिचय कराया था। उन्होंने मुझे राहुल सांकृत्यायन की किताबें पढ़ने को कहा था। कानपुर में क्लास में पढ़ने के पहले मैं राहुल जी का नाम सुन चुका था। पहले शायद लिख दिया है कि राहुल का नाम सबसे पहले एन. श्रीवास्तव की क्लास में सुना जो गलत है। तब वी.ए. इंग्लिश के पाठ्यक्रम में *वोल्गा से गंगा* की एक कहानी *प्रभा* भी (हिंदी से अंग्रेजी में अनुदित लगी हुई थी) पढ़ा।

सो धीरे धीरे सिनेमा और पढ़ाई के कारण संघप्रेम शिथिल पड़ गया। सिनेमा शाम को देखता। शाखा भी शाम को ही लगती। अब शाखा में जाने में आलस्य लगता। बहाना कर देता। दिक्कत यह थी कि मैं मुख्य शिक्षक था।

निर्णायक घटना यह हुई—

परमपूज्य गुरुजी (माधवराव सदाशिव गोलवलकर) कानपुर आये। गुरुजी गौरवपूर्ण के पतले, मंझोले कद के, दाढ़ी वाले व्यक्ति थे। प्रायः काषायवस्त्र पहनते— धोती और काषायवस्त्र की कमीज। हंसमुख और प्रीतिकर व्यक्तित्व वाले। बहुत सवरे मुख्य शिक्षकों की बैठक बुलाई गई। मैं सवरे सो गया— जा नहीं पाया। वहां जब पता चला तब सुना है, गुरुजी ने दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए मुस्कराकर कहा— “मुख्य शिक्षक ही गायब।”

इसके बाद मेरा शाखा जाना छूट गया। लेकिन संघ के स्वयंसेवकों और अधिकारियों से व्यक्तिगत संबंध बना रहा। आज भी जब मैं वामपंथी हूं, संघ के कई पुराने परिचितों से मेरे व्यक्तिगत सम्बंध बहुत अच्छे हैं। मैं व्यक्तिगत रूप से जानता मानता हूं कि अनेक स्वयंसेवक और संगठन के नेता अधिकारी, ईमानदार और त्यागी थे। वे गलत थे भ्रमित थे लेकिन बेईमान नहीं थे। ज्यादातर निम्नमध्यवर्ग के छोटे व्यक्ति, छोटे किसान, बनिया, ब्राह्मण, कायस्थ और ठाकुर थे। पिछड़े वर्ग या दलित उस समय न के बराबर थे। उच्च पदस्थ व्यक्तियों से संघ के नेता मिलते और उन्हें अपनी ओर लाने का प्रयास करते। संघ के सांगठनिक महत्वपूर्ण पदों पर महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों की संख्या अधिक थी। उनके मन में अपने अतीत और इतिहास को

लेकर अत्यधिक स्वाभिमान और उच्च भू भाव था। उन्होंने अपना जीवन भी इस कार्य को समर्पित कर दिया था। घरबार छोड़कर अविवाहित रहकर वे कस्बों/नगरों में 'राष्ट्रीय कार्य' करते। शाखाओं का जाल देशभर में फैला रहे थे और स्वयंसेवकों की फौज तैयार कर रहे थे। हिंदू राष्ट्र की स्थापना की आधारभूमि तैयार कर रहे थे।

अगले अंक में जारी

# लोकायत के देबीप्रसाद

प्रसन्न कुमार चौधरी

प्रसन्न कुमार चौधरी ऐसे बौद्धिक हैं जो आंदोलन, दर्शन, समाजशास्त्र, इतिहास और कविता में एक जैसे लगाव के साथ काम करते रहे हैं। *सृष्टिचक्र* उनका कविता संग्रह है; उनकी अन्य प्रमुख कृतियां हैं : अनंत का छंद, बिहार में सामाजिक परिवर्तन के कुछ आयाम, स्वर्ग पर धावा : बिहार में दलित आंदोलन, 1857 : बिहार झारखंड में महायुद्ध।

## एक विचार की पुनर्चना

यह एक विचार की खोज थी। इस विचार प्रणाली के साक्ष्य करीब तीन हजार वर्षों के हमारे इतिहास के पन्नों में बिखरे थे; ज्यादातर उसके विरोधियों तथा निंदकों की रचनाओं में; लेकिन अन्य विचार प्रणालियों की तरह इस विचार प्रणाली का कोई मौलिक अथवा प्रामाणिक ग्रंथ उपलब्ध नहीं था। वैसे, कुछेक विवरणों से ऐसे किसी प्रामाणिक ग्रंथ के होने का साक्ष्य अवश्य मिलता था। इस विचार प्रणाली का प्रचलित नाम *लोकायत* था। लोकायत शब्द से ही इस मत की लोक में व्याप्ति का संकेत मिलता है (लोकेषु आयतः लोकायत)। हरिभद्र (आठवीं सदी) अपने षड्दर्शनसमुच्चय में 'इंद्रियग्राह्य सारी चीजों को लोक' के रूप में परिभाषित करते हैं। टीकाकार मणिभद्र इसे और स्पष्ट करते हुए 'समग्र भौतिक अस्तित्व को पदार्थ सार्थ अथवा पदार्थ समूह को लोक' की संज्ञा देते हैं। इस मत को *बार्हस्पत्य* के नाम से भी जाना जाता था, और देवगुरु बृहस्पति को इस विचार प्रणाली का सूत्रधार कहा जाता है। *बृहस्पतिसूत्र* नामक अनुपलब्ध ग्रंथ को इस विचार का मौलिक ग्रंथ माना जाता है। इसका एक और प्रचलित नाम 'चार्वक मत' भी है। महाभारत में इस मत के प्रवर्तक जिन्हें (ब्राह्मण के वेश में राक्षस) चार्वक

कहा गया है, को धर्मराज युधिष्ठिर के समक्ष ब्राह्मणों द्वारा जलाकर भस्म कर देने की कथा भी कही गई है।<sup>1</sup> कौटिल्य (371-283 ई.पू.) अपने *अर्थशास्त्र* में जिन तीन दर्शनों की चर्चा करते हैं, उनमें (सांख्य और योग के साथ) लोकायत भी है और इसे 'अन्वीक्षिकी' (तर्क विज्ञान) कहा गया है। तर्क विज्ञान को 'हेतु विद्या' भी कहा जाता है और कुछेक विवरणों में लोकायतिकों को 'हेतुक' के रूप में भी संबोधित किया गया है।

*ब्रह्मसूत्र* पर अपनी टीका में शंकराचार्य (आठवीं सदी) ने लोकायतिकों की तुलना प्रकृत जनों (विवेक संस्कारहीन भीड़) से की है। कुछ ऐसी ही टिप्पणी (हरिभद्र की '*षड्दर्शनसमुच्चय*' पर अपनी टीका में) 14वीं सदी के जैन टीकाकार गुणरत्न ने भी की है।

बहरहाल, ऐसे कुछ साक्ष्य भी थे जिससे अतीत में इस विचार के प्रतिष्ठित होने का प्रमाण भी मिलता था और ब्राह्मण तथा बौद्ध विचारकों के लिए इसका ज्ञान हासिल करना आवश्यक माना जाता था। *महाभारत* (वनपर्व) में ही द्रौपदी युधिष्ठिर को बताती है कि उनके पिता द्रुपद ने इस विचार प्रणाली में पारंगत एक ब्राह्मण को अपने साथ रहने के लिए आमंत्रित किया था। उनके पिता तथा भाई ने उन्हीं से बार्हस्पत्य मत की शिक्षा ग्रहण की थी। पिता की गोद में बैठकर बालिका द्रौपदी भी उनका प्रवचन सुना करती थी। वैसे, द्रौपदी का यह संस्मरण सुनकर युधिष्ठिर को कोई खुशी नहीं हुई; उन्होंने द्रौपदी पर शास्त्रविरोधी विचारों से प्रभावित होने का आरोप तक मढ़ दिया। इसी तरह, *मिलिंद पन्हो* में बौद्ध दार्शनिक नागसेन (150 ई.पू.) को लोकायत का ज्ञाता कहा गया है।

पांचवीं सदी के बौद्ध टीकाकार बुद्धघोष (पांचवीं सदी) यह सुझाते हैं कि 'आयतः' शब्द का प्रयोग 'आयतन' के अर्थ में भी किया जा सकता है। आयतन से उनका आशय था 'आधार' यानी लोकायत एक ऐसा दर्शन था जिसका आधार भौतिक जगत अथवा 'लोक' था। *षड्दर्शनसमुच्चय* की अपनी टीका में मणिभद्र तो लोकायतिकों द्वारा इंद्रियग्राह्य ज्ञान पर जोर देने को सामाजिक राजनीतिक आयाम प्रदान करते हैं। उनके अनुसार, धर्म की आड़ में धूर्त ठग शास्त्रों आदि का निरर्थक हवाला देकर लोगों के मन में स्वर्ग प्राप्ति का भ्रम फैलाकर उनका शोषण करते थे—इंद्रियग्राह्य ज्ञान पर जोर देकर लोकायतिक लोगों को इस तरह के शोषण से आगाह करना चाहते थे।

किसी किसी रचना में *लोकायत शास्त्र* की चर्चा मिलती है और उस शास्त्र से छिटपुट उद्धरण भी। माध्यमिक शाखा के बौद्ध विचारक तथा नालंदा महाविहार के अध्यापक चंद्रकीर्ति (सातवीं सदी) के प्रज्ञाशास्त्र में जहां किसी लोकायत शास्त्र का उद्धरण दिया गया है, वहीं आर्यदेव (तीसरी सदी) के सत्शास्त्र में *बृहस्पति सूत्र* को उद्धृत किया गया है। बहरहाल, इस मामले में सबसे प्रामाणिक साक्ष्य सातवीं सदी के पुरंदर का है पुरंदर स्वयं लोकायतिक थे, इसलिए उनके सूत्र को लोकायतिकों का प्रामाणिक पक्ष माना जा सकता है। जैन विद्वान वादिदेव सूरी ने भी पुरंदर का एक सूत्र उद्धृत किया है।

लोकायतिकों के बारे में यह कहा जाता था कि वे इंद्रियगोचर ज्ञान को ही प्रमाण मानते थे, और अनुमान को भी खारिज करते थे। पुरन्दर इसका खंडन करते हैं और यह स्पष्ट करते हैं कि लोकायतिक सभी सांसारिक/इहलौकिक चीजों की ज्ञानप्राप्ति में अनुमान की उपयोगिता को स्वीकारते हैं, क्योंकि ये सारी चीजें इंद्रियजन्य अनुभव के दायरे में आती हैं लेकिन परलोक, मरणोपरांत जीवन, कर्मफल आधारित जन्म पुनर्जन्म जैसे सिद्धांतों के मामले में अनुमान को मानने से वे इन्कार करते हैं क्योंकि ये सारी चीजें इंद्रियजन्य अनुभव का विषय नहीं हैं (कोई यह बताने नहीं आता कि मृत्यु के बाद उसे स्वर्ग की प्राप्ति हुई है)। कुल मिलाकर, लोकायतिकों



के लिए अनुमान अनुभवजन्य जगत के दायरे में ही मान्य था, अन्यथा नहीं।

बहरहाल, लोकायत के बारे में जिस ग्रंथ को आधार मानकर आधुनिक समय में कतिपय विद्वानों ने अपनी राय बनाई है, वह है मध्वाचार्य (14वीं सदी) की रचना *सर्वदर्शनसंग्रह*। मध्वाचार्य अपने समय में वेदांत के काफी प्रतिष्ठित सम्मानित विद्वान ही नहीं थे, बल्कि उतने ही प्रभावशाली अपने भाई सायण के साथ विजयनगर साम्राज्य के संस्थापक मंत्री भी थे। ब्राह्मण कुलीन वर्ग के प्रभावशाली प्रतिनिधि के रूप में उनका दर्शन स्वभावतः उनके व्यावहारिक राजनीतिक क्रियाकलापों का एक वैचारिक आयाम था। एक विचार प्रणाली के रूप में लोकायत के उद्भव और उनके बीच कम से कम दो हजार वर्षों का फासला था, तथापि लोकायत के बारे में उनकी बनाई छवि ही विद्वानों के बीच ज्यादा प्रचलित रही है। लोकायत के बारे में मध्वाचार्य ने जो कुछ कहा है, वह सबका सब गलत है ऐसा नहीं है। लोकायतिक ईश्वर को नहीं मानते थे, शास्त्रों की खिल्ली उड़ते थे, बलि में उनका विश्वास नहीं था और वे परलोक का भी खंडन करते थे; *न स्वर्ग है, न अपवर्ग, न परलोक में जाने वाली आत्मा; वर्ण और आश्रम आदि की सारी क्रियाएं निष्फल हैं; अग्निहोत्र, तीनों वेद...बुद्धि और पौरुष से हीन लोगों की जीविका है।* लोकायतिक विश्व की सृष्टि को स्वभाव से ही मानते थे, और चेतना को वे चार भूतों—पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्नि से उसी तरह उत्पन्न बताते थे जैसे विभिन्न उपयोगी सामग्रियों से शराब की शक्ति। लोकायतिकों के बारे में अन्य ग्रंथों में भी इसी तरह की बातें मिलती हैं। बहरहाल, समग्र रूप से लोकायत के बारे में मध्वाचार्य जो छवि प्रस्तुत करते हैं, उसमें कुलीन वेदांती वाला उनका पूर्वाग्रह स्वभावतः सामने आ जाता है। लोकायत की यह प्रचलित छवि एक भोगवादी ऋणकृत्वा घृतम् पिवेत् वाली छवि है।<sup>2</sup>

लोकायत की वास्तविक समझ हासिल करने के लिए मध्वाचार्य की बाधा पार करना, प्रचलित भोगवादी छवि से परे जाकर छानबीन करना जरूरी था। ग्रंथों में वर्णित संदर्भों से आगे जाकर लोकजीवन के धरातल पर इसकी पड़ताल करनी थी। लोकायत, जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट था, लोक में प्रचलित एक विचार परम्परा थी। इसलिए इस विचार प्रणाली की पुनर्रचना के लिए प्राचीन लोकजीवन में, उसके उत्पादक क्रियाकलापों तथा रीति रिवाजों में झांकना जरूरी था। लोकायत की चर्चा चूंकि बौद्ध ग्रंथों में भी बार बार आती है, इसका अर्थ यह था कि इस विचार परंपरा की जड़ें बुद्ध पूर्व के सामाजिक जीवन में, प्राचीन गण समाज में मौजूद थीं।

ऋग्वेद के आरंभिक मंडलों में, पुराने उपनिषदों में, हम जिस असुर दृष्टि का साक्षात् करते हैं, लोकायत के तार उस दृष्टि से जुड़े प्रतीत होते थे। असुर देहवादी थे—जो बाहर था, वही देह में था; उनके लिए देह तथा आत्मा अलग अलग श्रेणियां नहीं थीं। *ब्रह्मसूत्र* में चार्वाक मत की आलोचना इसी आधार पर की गई है *एक आत्मनः शरीरे भावात्* (वे शरीर से अलग आत्मा के अस्तित्व से इन्कार करते थे, क्योंकि आत्मा का अस्तित्व तभी तक है जब तक शरीर है)।<sup>3</sup> इसके अलावा, असुर बलि के कर्मकांड में विश्वास तो नहीं ही करते थे, ऐसा कहा जाता था कि वे बलि की सामग्री खुद खा जाते थे, और इस तरह यज्ञ में विघ्न डालते थे। कुछ जगहों पर ऐसे विवरण भी मिलते हैं कि बलि खा जाने (बलि का चर्वण करने) के कारण इस मत के प्रतिनिधि को चार्वाक कहा जाता था।

गणों की दुनिया में कदम रखते ही हमारे सामने एक नया लोक उद्घाटित होता है। यह गणचिह्नों (टोटेम), गणपतियों, मातृसत्ताक कृषि समाजों तथा पितृसत्ताक पशुपालक समाजों और तंत्र की दुनिया थी। यहां हमारा सामना अन्न के लिए सामूहिक गान गाते श्वानों से होता है,

और देखते देखते हम खुद को विभिन्न प्राणियों से घिरा पाते हैं। वेदों की विभिन्न शाखाओं, उपनिषदों के नामों में हम इन्हीं प्राणी नामों का साक्षात् करते हैं—ऋग्वेद की एकमात्र विद्यमान शाखा शाकल (सर्प की एक प्रजाति के नाम पर), सामवेद की एक शाखा शार्दुलीय (शार्दूल/बाघ), कृष्ण यजुर्वेद संहिता की एक शाखा तैत्तिरीय (तित्तिर), अथर्ववेद की एक शाखा शौनक (श्वान), उपनिषद श्वेताश्वतर (श्वेत खच्चर), मांडुक्य (मंडुक/मेंढ़क), कौषितकी (उल्लू) आदि। इसके अलावा, छागलेय, मत्स्य, कश्यप, गोतम (वृषभ), वत्स, शुनक, इभ (हाथी) जैसे प्राणी नाम तो बहुप्रचलित थे ही। इन प्राणी नाम वाले गणचिह्नों से हम गणपतियों के संसार में दाखिल होते हैं—विघ्नकर्ता गणपतियों का सिद्धिदाता गणेश में रूपांतरण अभी बाकी था। फिर इन गणों की 'तंत्र' की अपनी दुनिया थी।

प्राचीन जनों ने सह संबंधों और अनुकरण के जरिये घटनाक्रम को नियंत्रित करने की अपनी विशिष्ट पद्धति (मैजिक) विकसित कर ली थी—यह देवताओं को प्रसन्न करने तथा उनसे इच्छित फल की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले बलि के कर्मकांड से भिन्न पद्धति थी। मानवीय प्रजनन क्रिया तथा प्राकृतिक प्रजनन क्रिया (उर्वरता) के बीच सहसंबंध का निरूपण और फिर मानवीय यौनक्रिया के अनुकरण के जरिये प्राकृतिक उत्पादक क्रिया को नियंत्रित करने की तांत्रिक पद्धति के साक्ष्य (मातृसत्ताक समाजों में) योनि तथा (पितृसत्ताक समाजों में) शिश्न के विशिष्ट प्रतीकों में मिलते हैं—इन दो प्रतीकों का समन्वय आगे चलकर शिवलिंग के प्रतीक में घटित होता है (गौरीपट पर स्थापित शिवलिंग के रूप में)।

आयतः का प्रयोग, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, आयतन के अर्थ में भी किया जाता है। आयतन का एक पाठ क्षेत्र का भी है, और तंत्र में क्षेत्र का अर्थ है योनि। कई विद्वान यह मानते हैं कि जहां गणसमाजों के तंत्र के मूल में दरअसल असुरों का देहवाद है, वहीं तंत्र के गर्भ से सांख्य और योग जैसे परिष्कृत दर्शन का विकास हुआ (वे सांख्य और योग को वेद से पृथक् मानते हैं)। सांख्य का केंद्रीय सक्रिय तत्त्व है प्रकृति, उसकी प्रजनन शक्ति (मातृ शक्ति), और योग देह की साधना है (देह को साधना प्रकृत घटनाक्रम को नियंत्रित करना है)।

बहरहाल, निरंतर विस्तार पाते कृषि क्षेत्रों पर आधारित राजतंत्रों तथा साम्राज्यों के हिंसक अभियानों, और गणों में विभिन्न उपायों से फूट डालने के प्रयासों के परिणामस्वरूप गणक्षेत्र सिमटते गए, उनके विघटन की प्रक्रिया तेज हुई, और इसी के साथ गणों की संस्थाओं, उनके जीवनमूल्य तथा जीवनदर्शन का भी पतन घटित हुआ। गणों के सामुदायिक जीवन का स्थान अब उत्पादन प्रक्रिया से अलग हो चुके संपत्तिशाली वर्गों के वर्चस्व वाले जनपदीय समाजों ने ले लिया। जनजातीय क्षेत्रों में कृषि अर्थव्यवस्था के प्रसार को (डी.डी. कोसाम्बी जैसे) कई विद्वान भारत की पहली बड़ी सामाजिक क्रांति मानते हैं।

गणों के विघटन और कृषि राजतंत्रों के हिंसक अभियानों के उथलपुथल भरे दौर में जहां बुद्ध भिक्षुसंघ के रूप में गणों की स्मृति को जीवित रखने की कोशिश करते हैं, वहीं 'आजीवक' नियति के सामने घुटने टेक देते हैं।

इसी के साथ, समाज के स्तर पर ब्राह्मण क्षत्रिय वर्चस्व पर आधारित जातिप्रथा का उत्थान होता है, और दर्शन के क्षेत्र में आत्मा, परलोक और पुनर्जन्म के सिद्धांत तथा तर्क बुद्धिसंगत ज्ञान की जगह शास्त्र प्रमाण के भाववादी दर्शन की विभिन्न शाखाएं वर्चस्वशाली वर्गों के दर्शन के रूप में अवतरित होती हैं। इस भाववादी दर्शन का सर्वोच्च विकास शंकराचार्य के अद्वैत वेदांत में होता है—हालांकि बाद के समय में वेदांत दर्शन की भी नई नई शाखाएं सामने आती हैं।

बहरहाल, सभी मानव समुदायों का विकास गणों से ही हुआ है, इसलिए इन समुदायों के वैचारिक दार्शनिक ग्रंथों के प्राचीन पाठों में तथा उनके कर्मकांडों के कतिपय अंशों में लोकायत की, आदिम तंत्र की स्मृति, उसके अवशेष दिख जाते हैं। ऋग्वेद के आरम्भिक मंडलों में, ऋत् के स्वामी वरुण और माया के प्रसंग में, छांदोग्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय आदि उपनिषदों के कुछ अंशों में हम उस स्मृति का साक्षात् कर सकते हैं। वैदिक कर्मकांडों की प्राचीन परतों में हमें आदिम तंत्र की झलक मिल जाती है।

करीब तीन हजार वर्षों के इतिहास के पृष्ठों पर बिखरे संदर्भों से, लोकजीवन की परम्पराओं तथा कर्मकांडों के प्रकट अप्रकट साक्ष्यों से, अस्पष्ट सूत्रों तथा टूटीफूटी कड़ियों से एक विचार परम्परा की पुनर्रचना करनी थी, अथवा (कृष्णचंद्र भट्टाचार्य के शब्दों में) पुनर्रचनात्मक व्याख्या का चुनौतीपूर्ण बौद्धिक कार्य संपन्न करना था। एक पुरात्ववेत्ता हजारों वर्ष पुराने भग्नावशेषों से एक विलुप्त नगर की पुनर्रचना करता है तो उसके पास भौतिक अवशेष होते हैं—यह कम चुनौतीपूर्ण कार्य नहीं होता। यहां तो हजारों वर्षों में बिखरे वैचारिक अवशेषों से (वह भी ज्यादातर विरोधियों की रचनाओं में पाये जाने वाले अवशेषों से) एक विचार परम्परा की इमारत खड़ी करनी थी; यह कितना चुनौतीपूर्ण कार्य था, इसका सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है।

इस चुनौतीपूर्ण बौद्धिक कार्य को, लोकायत की विचार परम्परा को, पुनर्रचित करने का श्रेय जाता है देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय (1918-1993) को। उनकी *लोकायत : ए स्टडी इन एंशिपेंट इंडियन मैटेरियलिज्म* (1959) का भारतीय दार्शनिक वैचारिक परम्पराओं के अध्ययन के इतिहास में विलक्षण योगदान है। चार खंडों ('द प्रोब्लेम एंड द मेथड', 'द सोशल बैकग्राउंड', 'मैटेरियलिज्म', 'आइडियलिज्म') और आठ अध्यायों ('असुर व्यू', 'द चार्टिंग डॉग्स', 'गणपति', 'गौरी', 'तंत्र', 'सांख्य', 'संघ एंड नियति', 'वरुण एंड माया') में विभक्त 678 पृष्ठों के मूल पाठ वाली यह रचना उनके श्रमसाध्य अनुसंधान की प्रेरणादायक उपलब्धि है। ऊपर हमने जो विवरण दिया है, उसे उनकी इसी रचना पर विहंगम दृष्टिपात के मेरे दुस्साहस के रूप में पाठक देख सकते हैं।<sup>1</sup>

यह वर्ष (1918-19) उनका जन्मशताब्दी वर्ष है, और *लोकायत* के प्रकाशन की साठवीं सालगिरह भी।

## पुनर्रचना की चुनौतियां

*लोकायत* की पुनर्रचना का महत् कार्य हाथ में लेते समय देबीप्रसाद इसकी चुनौतियों के प्रति पूरी तरह सजग थे। पहली चुनौती तो खुद लेखक से जुड़ी थी—आज का शोधकर्ता किसी प्राचीन विचार का अध्ययन करने के दौरान किस हद तक निष्पक्ष हो सकता है? आज के लेखक की अपनी कुछ मान्यताएं हैं, अपने 'पूर्वाग्रह' हैं; क्या वह किसी विचार की 'पुनर्रचनात्मक व्याख्या' के क्रम में अपने इन वैचारिक आग्रहों से मुक्त हो सकता है? वे यह स्वीकार करते हैं कि इस तरह के अध्ययन में 'पूरी तरह वस्तुगत' नहीं हुआ जा सकता, और जो आधुनिक विद्वान पूरी निष्पक्षता का दावा करते हैं, वे खुद अपने भ्रम के शिकार हैं। ब्रिटिश मार्क्सवादी विचारक जॉर्ज थॉमसन (1903-1987) को उद्धृत करते हुए वे लिखते हैं, *अतीत का इतिहासकार वर्तमान का नागरिक है। एक नागरिक के रूप में अगर वे वर्तमान सामाजिक परिवर्तनों के प्रति उपेक्षा का भाव रखते हैं (अथवा कोई सरोकार नहीं दर्शाते) तो वे प्राचीन ग्रीक सभ्यता में भी कुछ स्थायी*

और निरपेक्ष रूप से मूल्यवान चीज खोजना चाहेंगे जिसमें खुद उनकी अपनी (यथास्थिति के प्रति) मौन स्वीकृति प्रतिबिंबित हो और उसे मजबूती मिले। लेकिन ऐसे दूसरे लोग जो यथास्थिति को स्वीकार नहीं करते, वे यूनान के इतिहास को निरंतर परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में देखेंगे, और अगर ऐसा करने के क्रम में कुछ अंतर्निहित नियमों का पता चलता है, तो इससे उन्हें वर्तमान समय में परिवर्तनकारी शक्तियों को समझने तथा उन्हें निर्देशित करने में मदद मिलेगी।<sup>1</sup> इस प्रकार, देवीप्रसाद 'वर्तमान के परिवर्तनकारी नागरिक' के रूप में, अपने पूर्वाग्रहों के प्रति जिस हद तक सजग हुआ जा सकता है, उस हद तक सजग रहते हुए, अतीत के इतिहासकार की भूमिका निभाना चाहते थे।

देवीप्रसाद के सामने दूसरी चुनौती भी कुछ हद तक निजी चुनौती ही थी। भारतीय दर्शन के दो प्रख्यात इतिहासकार, प्रोफेसर सुरेंद्रनाथ दासगुप्त (1887-1952) और सर्वपल्ली राधाकृष्णन (1888-1975) उनके शिक्षक रह चुके थे। एस.एन. दासगुप्त उनके शोध निर्देशक भी रह चुके थे। दोनों विद्वान अपनी अपनी किताबों में लोकायत पर काफी कुछ टिप्पणी कर चुके थे। राधाकृष्णन की किताब *इंडियन फिलोसॉफी* (खंड 1, भाग 2) का पांचवां अध्याय ('मैटेरियलिज्म', पृ. 271-285) तो इसी विषय पर केंद्रित था। दोनों विद्वानों का अपना प्रभामंडल था और देवीप्रसाद के मन में उनके प्रति काफी सम्मान था। बहरहाल, भारतीय दार्शनिक परम्परा के एक उपेक्षित पक्ष लोकायत को इस परम्परा में समुचित स्थान तथा सम्मान दिलाने के जिस बौद्धिक कार्य को देवीप्रसाद संपन्न करना चाहते थे, उसके लिए उन्हें अपने इन दोनों शिक्षकों के साथ जिरह में उतरना था, उनसे एक स्वस्थ मुठभेड़ करनी थी। यह जिरह उनकी पूरी किताब में जगह जगह देखी जा सकती है। इस सिलसिले में एक और महत्वपूर्ण नाम हरप्रसाद शास्त्री (1853-1931) का है लोकायत पर उनकी एक किताब 1925 में ढाका से प्रकाशित हो चुकी थी।

ब्रिटिश उपनिवेशवाद के खिलाफ चल रहे स्वतंत्रता आंदोलन की पृष्ठभूमि में और उसकी प्रेरणा से अनेक भारतीय विचारक, वैज्ञानिक, समाजशास्त्री और इतिहासकार उन दिनों ग्रीको यूरोपियन नस्लीय 'श्रेष्ठता' को चुनौती देते हुए प्राचीन भारतीय वैचारिक वैज्ञानिक परम्परा को स्थापित करने तथा मानवजाति के ज्ञानकोश में उसके बहुमूल्य योगदान को समुचित प्रतिष्ठा दिलाने की दिशा में सक्रिय थे। इस मामले में अनेक प्रगतिशील पश्चिमी विद्वान भी अपनी यथोचित भूमिका निभा रहे थे। एस.एन. दासगुप्त की *ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलोसॉफी* (1922-1955 के बीच पांच खंडों में प्रकाशित) और राधाकृष्णन की *इंडियन फिलोसॉफी* (1923 में पहला और 1927 में दूसरा खंड प्रकाशित) को इसी दिशा में एक महत्वपूर्ण योगदान के रूप में देखा जा सकता है। दोनों किताबें भारतीय दर्शन में दिलचस्पी रखने वाले देशी विदेशी शोधार्थियों तथा पाठकों के लिए अनिवार्य संदर्भ ग्रंथ थीं। इसी समय (1927 में) पुणे से प्रकाशित एस.के. बेलवलकर और आर.डी. रानाडे की *हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलोसॉफी* का भी यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। भारतीय विचार परम्परा का समग्रता में अध्ययन करने के अलावा इस परम्परा के अलग अलग पक्षों पर भी कई अध्ययन इन्हीं दिनों सामने आने लगे थे जैसे, बुद्ध पूर्व की विचार परम्परा, बौद्ध दर्शन, मीमांसा, वेदांत, आदि। यहाँ हम इन अध्ययनों के विस्तार में नहीं जाएंगे। बहरहाल, स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान विभिन्न सामाजिक आंदोलनों से जुड़े ऐसे अग्रगामी विचारक भी थे जो वर्चस्वशाली श्रेष्ठतावादी ब्राह्मण परम्परा में उपेक्षित अथवा हाशिये पर डाल दी गई वैचारिक परम्पराओं से अपना नाता जोड़ रहे थे और उन परम्पराओं को भारतीय समाज में सम्मानजनक स्थान दिलाने के लिए प्रयासरत थे—यह आदिवासियों, शूद्रों तथा अन्य वंचित समुदायों में प्रचलित श्रमणों, विद्रोही और सुधारवादी संतों

की समृद्ध वैचारिक परम्परा थी। उपनिवेश के रूप में राष्ट्रीय न्याय की मांग के साथ साथ राष्ट्र के भीतर सामाजिक तथा वर्गीय न्याय की दावेदारी वैचारिक परम्परा के क्षेत्र में भी अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज कर रही थी।

डॉ. राधाकृष्णन का निजी झुकाव अद्वैत वेदांत की ओर था (देवीप्रसाद का स्नातकोत्तर में स्पेशल पेपर वेदांत दर्शन ही था)। स्वभावतः देवीप्रसाद के अनुसार लोकायत तथा प्राचीन भारतीय भौतिकवाद के प्रति उनका दृष्टिकोण इसी वेदांत से प्रभावित था (हम पहले जिक्र कर चुके हैं कि किस तरह लोकायत के प्रति धारणा बनाने में अधिकतर आधुनिक विद्वान मध्वाचार्य से प्रभावित रहे हैं)। देवीप्रसाद को लगता था कि प्राचीन भारतीय दर्शन का भौतिकवादी दृष्टिकोण से कोई अध्ययन नहीं किया गया है वे इस अभाव को पूरा करना चाहते थे। उनके अनुसार आधुनिक भौतिकवादी दृष्टिकोण का सबसे विकसित रूप मार्क्सवाद है—वे इसी मार्क्सवादी स्थिति से लोकायत का अध्ययन करना चाहते थे। आधुनिक भौतिकवादी स्थिति से प्राचीन भारतीय भौतिकवाद का यह अध्ययन चूंकि सर्वथा अभिनव प्रयास था, इसलिए वे इसकी सीमाओं से भी अवगत थे। किताब की भूमिका में वे यह स्पष्ट कर देते हैं कि इस अध्ययन को बहस के लिए एक मसौदा माना जा सकता है। खासकर उनका मकसद भौतिकवादी दृष्टि से बहस और आलोचना को प्रोत्साहित करना था।

बहरहाल, इस रचना में देवीप्रसाद भारतीय इतिहास तथा दर्शन के अपने समय के प्रतिष्ठित मार्क्सवादी विचारकों (डी.डी. कोसाम्बी, राहुल सांकृत्यायन आदि) से भी कतिपय प्रश्नों पर अपनी असहमति दर्ज करते हैं। यहां एक दो उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा। किताब के दूसरे अध्याय ('चांटिंग डॉग्स') में वे राहुल सांकृत्यायन (1893-1963) से बिल्कुल विपरीत मत रखते देखे जा सकते हैं। प्रसंग *छांदोग्य उपनिषद्* के प्रथम अध्याय के अंत में वर्णित सामगान गाते श्वानों का है। राहुल श्वान का शाब्दिक अर्थ लेते हैं और इस पूरे प्रसंग को सामगान का आलाप करनेवाले पुरोहितों के दिलचस्प मजाक के रूप में प्रस्तुत करते हैं : *(छांदोग्य उपनिषद् के) प्रथम अध्याय के अंत में दाल रोटी के लिए 'हावु' 'हावु' (सामगान का आलाप) करने वाले पुरोहितों का एक दिलचस्प मजाक किया गया है। बक दाल्भ्य—जिसका दूसरा नाम ग्लान मैत्रेय भी था—कोई ऋषि था। वह वेदपाठ के लिए किसी एकांत स्थान में रह रहा था। उस समय एक सफेद कुत्ता वहां प्रकट हुआ। फिर कुछ और कुत्ते आ गए और उन्होंने सफेद कुत्ते से कहा कि हम भूखे हैं, तुम साम गाओ, शायद इससे हमें कुछ भोजन मिल जाए। सफेद कुत्ते ने दूसरे दिन आने के लिए कहा। दाल्भ्य ने कुत्तों की बात सुनी थी। वह भी सफेद कुत्ते के सामगान को सुनने के लिए उत्सुक था। दूसरे दिन उसने देखा कि कुत्ते आगे पीछे एक की पूंछ दूसरे की मुंह में लिए बैठकर गा रहे थे—'हिं! ओम्, खावें, ओम्, पीयें, ओम्, देव हमें भोजन दें। हे अन्नदेव! हमारे लिए अन्न लाओ, हमारे लिए इसे लाओ, ओम्।' इस मजाक में सामगायक पेट के लिए यज्ञ के वक्त एक के पीछे एक दूसरे अगलों का वस्त्र पकड़े हुए पुरोहितों के साम गायन की नकल उतारी गई है।'*

देवीप्रसाद राहुल के इस मत से बिल्कुल विपरीत मत रखते हुए श्वान का अर्थ गणचिह्न के रूप में करते हैं और बक दाल्भ्य द्वारा देखे गए दृश्य को श्वान गणचिह्न वाले जन द्वारा अन्न के लिए किये जानेवाले कर्मकांड (मैजिक) के रूप में वर्णित करते हैं। दरअसल, इसी प्रसंग के जरिये वे प्राचीन गणों, गणचिह्नों, गणपतियों तथा तंत्र की दुनिया में दाखिल होते हैं।

इसी तरह, गणक्षेत्रों में कृषि के प्रसार में ब्राह्मणों की भूमिका के प्रश्न पर वे डी.डी. कोसाम्बी (1907-1966) द्वारा *एन इंद्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री* (1956) में व्यक्त

विचारों से सहमत नहीं है। कोसांबी जहां इस प्रक्रिया में पंचांग तथा कृषि ज्ञान से लैस ब्राह्मणों की पथ प्रदर्शक भूमिका देखते हैं और इसे मुख्यतः एक शांतिपूर्ण क्रांति मानते हैं, वहीं देवीप्रसाद ब्राह्मणों को यह श्रेय देने से इन्कार करते हैं। वे गणों में फूट डालने और उनके खिलाफ हिंसक अभियानों में ब्राह्मणों की अग्रणी भूमिका रेखांकित करते हैं।

अंत में, देवीप्रसाद के सामने सबसे बड़ी चुनौती इतने बिखरे साक्ष्यों और सूत्रों को एक सुसंगत, व्यवस्थित रूप देना था; दुनिया भर के प्राचीन समाजों के अध्ययनों को खंगालना और उन समाजों के रीति रिवाजों के साथ प्राचीन भारतीय समाज का तुलनात्मक अध्ययन करना और प्राचीन भारतीय भौतिकवादी जीवनदर्शन को समुचित गरिमा प्रदान करना था। यह कार्य उन्होंने कितनी दक्षता के साथ संपन्न किया है, इसे किताब का पाठक आसानी से लक्षित कर सकता है। प्रस्तुतीकरण की उनकी दिलचस्प पद्धति न सिर्फ अपने इतिहास और दर्शन के हमारे ज्ञान को समृद्ध करती है, बल्कि एक आख्यान का आनंद भी प्रदान करती है। प्रस्तुतीकरण की इस दिलचस्प शैली का कारण यह है कि देवीप्रसाद बांग्ला के साहित्यकार भी थे—कॉलेज के दिनों में ही वे एक उभरते कवि के रूप में स्थापित हो चुके थे। (40 के दशक के शुरुआती वर्षों में) वे प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़ गए थे। बांग्ला के प्रख्यात कवि विष्णु डे (1909-1982) के साथ काम करने के साथ साथ, बाल साहित्य के लेखक के रूप में अनेक कहानियां, उपन्यास, लोकप्रिय विज्ञान साहित्य आदि लिखकर उन्होंने पर्याप्त ख्याति हासिल की थी। अपने भाई कामाक्षीप्रसाद के साथ मिलकर उन्होंने बच्चों की एक पत्रिका *रंगमशाल* का संपादन संचालन किया था और एक चर्चित साहित्यिक पत्रिका *संकेत* का संपादन भी। जैसे 'संकेत' कुछ ही दिनों बाद बंद हो गई। *लोकायत* पहले बांग्ला में 1956 में प्रकाशित हुई थी 1959 में अंग्रेजी में प्रकाशित इसी शीर्षक की किताब उस बांग्ला किताब का अंग्रेजी अनुवाद नहीं है, बल्कि पूरी तरह फिर से मूल अंग्रेजी में लिखी गई किताब है।<sup>7</sup>

## पुनर्चना की पृष्ठभूमि

प्रत्येक सामाजिक राजनीतिक आंदोलन सामाजिक राजनीतिक परिवर्तन को अंजाम देने के साथ साथ समाजशास्त्र, इतिहास, दर्शन ज्ञानानुशासन के लगभग सभी क्षेत्रों में नए शोध अनुसंधान का प्रेरणास्रोत साबित होता है। इन शोध अनुसंधानों से इतिहास के लुप्त हो गए अथवा विस्मृत पन्नों को नए सिरे से जांचा परखा जाता है, अनेक स्थापित वर्चस्वशाली मान्यताओं को चुनौती दी जाती है, घटनाओं को देखने समझने की हमारी दृष्टि परिष्कृत होती है, और कुल मिलाकर हमारी बौद्धिक विरासत, हमारा ज्ञानकोश समृद्ध होता है। स्वतंत्रता आंदोलन, आदिवासी समुदायों के तथा दलित और पिछड़े वर्गों के आंदोलन सभी का हमारे वैचारिक जगत के निर्माण में कितना योगदान रहा है, इसे पिछले करीब सौ डेढ़ सौ वर्षों में अपने देश में हुए बौद्धिक कार्यों का अध्ययन करने वाला कोई भी शोधार्थी सहज ही रेखांकित कर सकता है। ये बौद्धिक शोध अनुसंधान सामाजिक पुनर्चना के हमारे भावी प्रयासों को निर्देशित करने में अहम भूमिका निभाते हैं।

बीसवीं सदी का तीस चालीस पचास का दशक विश्वव्यापी पैमाने पर और भारत में भी कम्युनिस्ट आंदोलन के उभार का दौर था। इस आंदोलन से प्रभावित अनेक बुद्धिजीवी मार्क्सवादी ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि से अपने अपने देशों के इतिहास, समाज और दर्शन के क्षेत्र में शोध अनुसंधानों के जरिये बौद्धिक जगत में अपनी प्रभावकारी दावेदारी प्रस्तुत कर रहे थे।

युवा देवीप्रसाद 1940 के दशक के शुरुआती दिनों में ही कम्युनिस्ट आंदोलन से जुड़ गए थे। बंगाल के प्रख्यात बुद्धिजीवी (*फ्रंटियर* के संस्थापक संपादक और कवि) समर सेन (1916-1987) ने उनका परिचय कम्युनिस्ट घोषणापत्र से कराया था। देवीप्रसाद 1944 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बन गए। समर सेन से उनकी मित्रता जीवनपर्यंत बनी रही। 1940 के दशक का उत्तरार्ध कम्युनिस्ट नेतृत्व में बड़े बड़े मजदूर तथा किसान आंदोलनों का काल था। 1950 के दशक में कम्युनिस्ट पार्टी भारत में प्रमुख विपक्षी पार्टी थी और 1959 में केरल में उनकी सरकार भी बनी।

1951 में बंगाल के प्रख्यात कम्युनिस्ट नेता भवानी सेनगुप्त ने उन्हें मार्क्सवादी नजरिये से प्राचीन भारतीय दर्शन का अध्ययन करने का सुझाव दिया था। 1952 में देवीप्रसाद ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से 'मार्क्सवाद' शीर्षक से (बांग्ला में) एक पुस्तिका भी लिखी थी।

कहने की जरूरत नहीं कि *लोकायत* की रचना के पीछे सबसे प्रमुख प्रेरणास्रोत कार्ल मार्क्स (1818-1883) और फ्रेडरिक एंगेल्स (1820-1895) की रचनाएं थीं—खासकर फ्रेडरिक एंगेल्स की *परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति*। गण समाज, मातृसत्ता, मातृसत्ता से पितृसत्ता में संक्रमण, शारीरिक श्रम तथा मानसिक श्रम का विभाजन और भाववादी दृष्टिकोण का उद्भव जैसे विषयों पर वे मार्क्स एंगेल्स के निष्कर्षों को ही अपना प्रस्थानबिंदु बनाते हैं। ऐसे कुछ निष्कर्षों की बानगी टिप्पणी में देखी जा सकती है।<sup>8</sup>

उनकी रचना का दूसरा महत्वपूर्ण स्रोत 1877 में प्रकाशित ल्यूईस हेनरी मौरगन (1818-1881) की किताब *एंग्लो-सोसायटी* है। यही किताब फ्रेडरिक एंगेल्स की *परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति* का भी महत्वपूर्ण स्रोत थी। इस किताब में भी मौरगन ने लिखित इतिहास के प्रागैतिहासिक आधार को पुनर्निर्मित करने का प्रयास किया था। इस अध्ययन के महत्व को रेखांकित करते हुए एंगेल्स लिखते हैं, *मौरगन की महानता इस बात में है कि उन्होंने मोटे रूप में हमारे लिखित इतिहास के इस प्रागैतिहासिक आधार का पता लगाया और उसका पुनर्निर्माण किया। उनकी महानता इस बात में भी है कि उन्होंने उत्तरी अमरीका के आदिवासियों के यौन संबंधों पर आधारित जनसमूहों के रूप में वह कुंजी ढूंढ निकाली जिससे प्राचीनतम यूनानी, रोमन तथा जर्मन इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण तथा अभी तक अबूझ बनी हुई पहलियों को सुलझाया जा सकता था। परंतु उनकी पुस्तक एक दिन का काम नहीं थी। लगभग चालीस वर्ष तक, जब तक कि वह अपनी सामग्री को पूरी तरह समझ लेने में कामयाब न हो गए, वह उसके साथ जुड़ते रहे। यही कारण है कि उनकी पुस्तक हमारे काल की इनी गिनी युगांतरकारी रचनाओं में से एक है।*

देवीप्रसाद की रचना का तीसरा स्रोत 1950 के दशक में प्रकाशित (और इसी विषय से संबंधित) कुछ चर्चित कृतियां थीं। इस सिलसिले में पहला नाम ब्रिटिश मार्क्सवादी विचारक जॉर्ज थॉमसन (1903-1987) की किताब *स्टडीज इन एंग्लो-ग्रीक सोसायटी* का लिया जा सकता है। इस किताब का दूसरा खंड लंदन से 1955 में प्रकाशित हुआ (इसका पहला खंड 1949 में प्रकाशित हो चुका था)। थॉमसन इसके पहले *ऐशचिलस एंड एथेंस* (लंदन, 1941) और *रिलीजन* (लंदन, 1950) लिखकर पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुके थे। अगले वर्ष (1956 में) ब्रिटिश बायोकेमिस्ट, इतिहासकार और चीन विशेषज्ञ जोसेफ नीडम (1900-1995) की बहुचर्चित बहुप्रशंसित रचना *साइंस एंड सिविलाइजेशन इन चाइना* का दूसरा खंड भी प्रकाशित हुआ। इन दोनों लेखकों तथा उनकी किताबों का देवीप्रसाद पर कितना प्रभाव था, यह उनकी *लोकायत*

में स्पष्ट देखा जा सकता है। थॉमसन और नीटम के साथ उनके पत्राचार में भी इसका ब्यौरा मिलता है। नीटम की किताब देबीप्रसाद की बाद की कुछ रचनाओं का भी प्रेरणास्रोत थी।

1950 के दशक की कुछ और कृतियां जिन्हें *लोकायत* की पृष्ठभूमि में रखा जा सकता है, वे हैं डी.डी. कोसाम्बी की *एन इंद्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री* (बॉम्बे, 1956), वी. गॉर्डन चाइल्ड (1892 1957) की *न्यू लाइट ऑन द मोस्ट एंशिपेंट ईस्ट* (लंदन, 1954) और *व्हाट हैपेंड इन हिस्ट्री* (लंदन, 1957), फ्रांसीसी सर्जन, सामाजिक मानवशास्त्री और उपन्यासकार रॉबर्ट ब्रिफॉउ (1876 1948) की *द मदर्स* (लंदन, 1952, यह किताब मूल रूप से 1931 में प्रकाशित हुई थी), ए एल वैशम की *हिस्ट्री एंड डॉक्ट्रीस ऑफ द आजीवकाज* (लंदन, 1951), आदि।

यह थी देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय की *लोकायत : ए स्टडी इन एंशिपेंट इंडियन मैटेरियलिज्म* की पृष्ठभूमि। *लोकायत* भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन की महत्वपूर्ण बौद्धिक उपलब्धि थी और भारतीय दार्शनिक परम्पराओं की बहुलता के बीच लोकायत को उसका सम्मानजनक स्थान दिलाने तथा उसे हमारी साझा वैचारिक विरासत का महत्वपूर्ण घटक बनाने का श्रेय इसे ही जाता है।

देबीप्रसाद का यह मौलिक शोध अनुसंधान *लोकायत* के प्रकाशन के बाद भी जारी रहा। आगे की उनकी रचनाओं पर सरसरी निगाह डालने से ही उनके असाधारण रचनाकर्म का अंदाजा लगाया जा सकता है : पत्रिका *इंडियन स्टडीज : पास्ट एंड प्रेजेंट* का संपादन (1959-1973); *इंडियन एथेइज्म* (1969); *व्हाट इज लीविंग एंड व्हाट इज डेड इन इंडियन फिलोसॉफी* (1976); *साइंस एंड सोसायटी इन एंशिपेंट इंडिया* (1977); *लेनिन द फिलोसॉफर* (1979); *हिस्ट्री ऑफ साइंस एंड टेक्नोलॉजी इन एंशिपेंट इंडिया* (तीन खंडों में क्रमशः 1986, 1991 और 1996 में प्रकाशित, तीसरा खंड मरणोपरांत प्रकाशित); *इन डिफेंस ऑफ मैटेरियलिज्म इन एंशिपेंट इंडिया* (1989); *ग्लोबल फिलोसॉफी फॉर एवरीमैन* (1990 91, आठ खंडों में प्रकाशित इस ग्रंथमाला की योजना उनकी ही बनाई थी, उन्होंने इसका संपादन किया था और इसका तीन खंड उन्हीं का लिखा था); उन्होंने लामा तारानाथ के तिब्बती ग्रंथ के पहले अंग्रेजी अनुवाद 'हिस्ट्री ऑफ बुद्धिज्म इन इंडिया' का संपादन किया (इसका अनुवाद लामा चिम्पा के साथ मिलकर उनकी पत्नी अलका चट्टोपाध्याय ने किया था)य उनकी एक महत्वाकांक्षी योजना *स्टडीज इन इंडियन कल्चर* शीर्षक से एक ग्रंथमाला के संपादन की थी, हालांकि इसका एक ही खंड 1992 में प्रकाशित हो सका। उनका संपूर्ण रचनाकर्म पचास खंडों से भी ज्यादा माना जाता है। दर्शन तथा विज्ञान के इतिहास के क्षेत्र में उनके योगदान के लिए 1998 में उन्हें (मरणोपरांत) पद्मभूषण से सम्मानित किया गया। अपने रचनाकर्म में वे हमेशा अपने कनिष्ठ और वरिष्ठ सहयोगियों को शामिल करते। कहने की जरूरत नहीं कि उनका असाधारण बौद्धिक उद्यम किसी भी शोधार्थी के लिए प्रेरणादायी है।

*लोकायत* की कई प्रस्थापनाओं पर विद्वानों के बीच, यहां तक कि मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों के बीच भी, काफी विवाद रहा है। देह और आत्मा, भूत और भाव, वस्तु और चेतना के पारस्परिक अंतर्संबंध, चेतना की स्वायत्तता जैसे प्रश्न दार्शनिकों के बीच—गणसमाजों, मैजिक, मातृसत्ता पितृसत्ता और जनपदीय कृषि समाजों के संबंधों के प्रश्न पर मानवशास्त्रियों के बीच—हड़प्पा और वैदिक संस्कृतियों, आर्य अनार्य संबंधों को लेकर इतिहासकारों के बीच—जाति प्रथा के उद्भव और उसके जड़ीभूत होने को लेकर समाजशास्त्रियों के बीच चलने वाले विवादों का कुछ विवरण तो उनकी पुस्तक में भी उपलब्ध है। यहां हमारा उद्देश्य इन विवादों में, या *लोकायत*



की किसी समीक्षा में जाना नहीं है। इन विवादों तथा इन प्रश्नों पर देवीप्रसाद के पक्ष से असहमति रखनेवाले अनेक देशी विदेशी विद्वान भी इस पुस्तक के महत्व को रेखांकित करने से नहीं चूकते और *लोकायत* की पुनरचनात्मक व्याख्या के उनके शोधपूर्ण कार्य की सराहना करते हैं। अपनी भूमिका में देवीप्रसाद खुद ऐसा रचनात्मक विमर्श आमंत्रित करते हैं।

## लोकायत आज

*लोकायत* महज एक बौद्धिक उपलब्धि नहीं है—उसकी पुनरचना हमारे सामाजिक जीवन में एक सक्रिय हस्तक्षेप है। वैदिक, जैन तथा बौद्ध ग्रंथों में, अनेक प्राचीन साहित्यिक कृतियों में, कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* से बाणभट्ट के *हर्षचरित* तक, *महाभारत* से लेकर मध्वाचार्य तक यदि हमें एक विचार प्रणाली के रूप में लोकायत की चर्चा मिलती है, तो इसका सीधा अर्थ है कि गणसमाजों के विघटन और सामाजिक रूप से वर्चस्वशाली शक्तियों द्वारा निंदित होने तथा दबाये जाने के बावजूद इस विचार प्रणाली की सक्रिय उपस्थिति बनी हुई थी; इसे मिटाया नहीं जा सका था; न ही यह परम्परा लुप्त हुई थी। इसके नाम में ही इसकी जीवंतता का राज छिपा था—लोक है तो लोकायत भी है। यह लोक से आवयविक रूप से जुड़ी विचार प्रणाली थी। वैचारिक स्तर पर यह मानवजाति का लोकपक्ष है। हमारे आज के सामाजिक जीवन में भी इसकी सक्रिय उपस्थिति बनी हुई है। यहां हम विज्ञान, समाज तथा विचार के क्षेत्र में लोकायत की उपस्थिति पर सरसरी निगाह डाल सकते हैं (वैसे यह प्रसंग तो काफी विस्तार की मांग करता है, तथापि हम कुछेक उदाहरणों तक ही खुद को सीमित रखेंगे)।

1. प्रकृति में सह संबंधों की खोज और प्राकृतिक क्रियाओं का अनुकरण प्राचीन जन इसी के जरिये प्राकृतिक क्रियाओं को नियंत्रित कर अपनी भौतिक जरूरतों को पूरा करने का प्रयास करते थे। सह संबंध और अनुकरण, यही उनके मैजिक का आधार था, और इसी मैजिक से आदिम विज्ञान तथा तकनीक का विकास हुआ। (साथ ही आदिम मिथ्या विश्वासों का भी—सह संबंध तथा अनुकरण को उसके सापेक्ष संदर्भ से अलग कर सार्विकता प्रदान करना ही मिथ्या विश्वास है।)

सह संबंध तथा अनुकरण आधुनिक विज्ञान का भी आधार है। कृत्रिम बुद्धि (आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस, एआइ) का सर्वाधुनिक विज्ञान इसी सह संबंध तथा अनुकरण के आधार पर मस्तिष्क की क्रियाओं को मशीन में स्थानांतरित करने, चेतना संपन्न मशीनों के निर्माण में लगा है। धर्मेन्द्र मोड़ा के नेतृत्व वाले आइबीएम कॉग्निटिव कम्प्यूटिंग ग्रुप ने ऐसे चिप का निर्माण किया है जो मस्तिष्क की कोशिकाओं और उनके सह संबंधों का हूबहू अनुकरण करता है; ये चिप नए संबंध बनाने की क्षमता से भी युक्त हैं।<sup>10</sup>

लोकायतिक चेतना को वस्तु—पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि, इन चार भूतों से उत्पन्न मानते थे। अब बात चार स्थूल भूतों से क्वार्क और इलेक्ट्रॉन जैसे अतिसूक्ष्म भूतों तक जा पहुंची है। मैक्स टेगमार्क लोकायतिकों जैसी शब्दावली का ही प्रयोग करते हुए लिखते हैं, *एक चेतन व्यक्ति भी अन्न ही है, एक पुनर्संयोजित अन्न...भौतिकी से हमें ज्ञात होता है कि अन्न और कुछ नहीं बल्कि एक विशिष्ट रूप में संयोजित क्वार्क और इलेक्ट्रॉन का समूह है फिर कौन सा संयोजन चेतन है और कौन नहीं?...भौतिक शरीर और अभौतिक आत्मा जैसे द्वैत में अब वैज्ञानिकों की दिलचस्पी नहीं रह गई है।*<sup>11</sup>

इसी तरह, सारे सूक्ष्म कण सूचनाओं के वाहक होते हैं—दर्शन की भाषा में हम उन्हें अपनी

अपनी स्मृतियों के वाहक भी कह सकते हैं। इटली के न्यूरोसाइंटिस्ट ग्युलियो तोनोनी चेतना की व्याख्या समेकित सूचना के रूप में करते हैं। अगर दो सूचनाएं अलग अलग हैं तो समेकित सूचना शून्य होगी, और अगर सूचनाएं अनंत हैं तो समेकित सूचना के रूप में हमें अनंत ही प्राप्त होगा। चेतना इस शून्य और अनंत के बीच समेकित सूचनाओं की किसी विशिष्ट स्थिति का उत्पाद है। वैसे अनेक वैज्ञानिक तोनोनी के इस समेकित सूचना सिद्धांत (इंटीग्रेटेड इंफॉर्मेशन थियरी) से सहमत नहीं हैं।<sup>12</sup>

बहरहाल, आज भी सापेक्ष सह संबंधों तथा अनुकरण को सार्विकता प्रदान करने की प्रवृत्ति आधुनिक मिथ्या विश्वासों को जन्म दे रही है। कृत्रिम बुद्धि के विभिन्न घटकों के लिए विशिष्ट ऐलगोरिद्म के विकास में लगे कुछ वैज्ञानिक अपनी सापेक्ष सफलताओं से इतने गद्गद् हैं जैसे पूरी सृष्टि की कुंजी उनके हाथ लग गई है। वे उसी कुंजी मास्टर ऐलगोरिद्म को पाने और सृष्टिकर्ता बनने के प्रयास में लगे हैं। करीब चार सौ साल पहले गणित आधारित भौतिकी की सफलता से गेलीलियो गैलिली (1564-1642) इतने अभिभूत थे कि उन्होंने भी कुछ ऐसा ही कहा था, *प्रकृति क्या है? गणित की भाषा में लिखी एक किताब! और क्या?*<sup>13</sup>

मामला महज इन आधुनिक मिथ्या विश्वासों का नहीं है। आधुनिक विज्ञान को भी लोक कसौटी से गुजरना है। कृत्रिम बुद्धि के विकास से संबंधित प्रयोगों पर कुछेक महाकाय टेक कॉरपोरेट घरानों का वर्चस्व है। हमारे सामने वास्तविक खतरा लोकचेतना के हरण के साथ मशीनों को चेतनासंपन्न करने का है।

2. सामाजिक क्षेत्र में आज वर्चस्वशाली शक्तियां (अंतर्धार्मिक विवाहों के खिलाफ हिंसक अभियान छेड़कर) गाय के टोटेम के अंतर्गत हिंदुओं को एक आक्रामक अंतर्विवाही कबीले में जबरन संगठित करने की प्रतिगामी मुहिम चला रही हैं; इस मुहिम के कारण शताब्दियों के दौरान अपने जीवनयापन के उत्पादक क्रियाकलापों के क्रम में विभिन्न समुदायों तथा मतावलम्बियों के बीच संबंधों के जो हजारों सूत्र बने, उन्हें तार तार करने की कोशिश की जा रही है, और इसका सबसे ज्यादा खामियाजा हमारे समाज के उत्पादक समुदायों को भुगतना पड़ रहा है। यह लोक के विघटन की कोशिश है। इस प्रतिगामी विघटनकारी अभियान ने हमारे सामाजिक तानेबाने को पहले ही काफी क्षति पहुंचायी है—इस सामाजिक विघटन में संकटग्रस्त देवतुल्य (वित्तीय) पूंजी को भी अपनी प्रतिरक्षा और अपना वर्चस्व बनाये रखने की संभावना दिखायी देती है। लोक के विघटन की यह प्रतिगामी कोशिश तमाम तरह के दकियानूसी, कूपमंडूक, विज्ञानविरोधी प्रवृत्तियों के प्रोत्साहन तथा महिमामंडन के साथ उपस्थित हुई है।

3. विचार के क्षेत्र में, तर्क बुद्धिसंगत ज्ञान की जगह शास्त्र प्रामाण्यवाद का डंका पीटा जा रहा है। शास्त्रों को ज्ञान का एकमात्र साधन (*शास्त्रयोनित्वात्*<sup>14</sup>) बताया जा रहा है। सारे सांसारिक कार्यों को किसी शास्त्रोक्त लक्ष्य के लिए 'समर्पित' करने का समारोह मनाया जाता है, और इस कथित शास्त्रोक्त लक्ष्य के नाम पर संविधान, कानून तथा संस्थाओं को तहसनहस करने को औचित्य प्रदान किया जाता है। संविधान को शास्त्र के अधीन लाने की यह खतरनाक कोशिश एक निरंकुश तंत्र का मार्ग प्रशस्त करने की पूर्वपीठिका है, और हिंसक कार्रवाइयों को 'पवित्रता' की महिमा प्रदान करना है।

बहरहाल, 'शास्त्र', 'शास्त्र' का शोर मचाने वालों को दरअसल शास्त्रों से कुछ लेना देना नहीं है। प्राचीन काल से ही ऐसा करने वाले शास्त्रों पर किसी संवाद को वितंडावाद कहकर उससे पीछा छुड़ाते रहे हैं—लिखित शास्त्र से उनका काफी पुराना बैर है। उनके लिए उनके स्वनामधन्य त्राणकर्ता का वचन ही शास्त्र है। ऐसे 'उद्धारक' देवी मां के बुलावे पर आते हैं

(इसलिए लोक के प्रति वे जवाबदेह नहीं होते), उन्हें ईश्वरीय कार्यभारों को पूरा करना होता है, वे 'देवासुर संग्राम' में देवताओं का नेतृत्व करते हैं, और उनका लक्ष्य भारत को 'असुरों' से मुक्त कर 'पुण्यभूमि' बनाना है। कहां यह 'दैवी' कार्यभार और कहां संविधान आदि की लौकिक तुच्छ बातें!

दरअसल, वर्चस्वशाली शक्तियां शास्त्र की आड़ में अपनी निरंकुशता और हिंसा को औचित्य प्रदान करती रही हैं। समाज के विकासक्रम में शास्त्र और लोक का जो स्वाभाविक अंतर्गुंथन होता रहा है, वह उनकी नजर में शास्त्र का विकृतीकरण है। समय समय पर लोक स्पर्श से दूषित शास्त्र को 'शुद्ध' करने का कर्मकांड वे उग्र अभियान के रूप में चलाते आए हैं।

उनका शास्त्र लोक के विरुद्ध अनवरत् हिंसक अभियान है।

इस प्रकार, आज हमारे सामने लोक को चेतनाशून्य करने, लोक को विघटित करने और लोक के विरुद्ध अनवरत् हिंसक अभियान का मुकाबला करने की चुनौती है।

*लोकायत* के प्रकाशन के बाद के साठ वर्षों के दौरान दुनिया काफी बदल चुकी है। इंटरनेट के करीब पचास साल तथा पर्सनल कम्प्यूटर के करीब चालीस साल हो रहे हैं। इस साल वर्ल्डवाइडवेब की तीसवीं सालगिरह मनाई जा रही है। इन आविष्कारों और उपकरणों ने कितनी तेजी से हमारे जीने का रंगढंग बदल डाला है, यह बताने की जरूरत नहीं है।

इन युगांतरकारी परिवर्तनों के दौर में लोक भी पुनर्संयोजित और पुनर्संगठित होने की प्रक्रिया से गुजर रहा है। नया लोकायत इस पुनर्संयोजन की प्रक्रिया का उत्पाद है और उसे इस पुनर्संगठन की सुदृढ़ वैचारिकी भी बननी है। पूरे विश्व में, और अपने देश में भी, ऊपर वर्णित चुनौतियों के समक्ष नए लोकायत की वैचारिकता के तानेबाने बुने जा रहे हैं। बहरहाल, लोक है तो लोकायत भी रहेगा, और लोकायत है तो *लोकायत* के देवीप्रसाद की स्मृति भी रहेगी।

अंत में, उनके निधन के बाद इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस के एक प्राध्यापक द्वारा उनकी स्मृति में लिखे गए एक लेख का यह अंश प्रस्तुत है : *देवीप्रसाद को भारत के विज्ञान पर भरोसा था—राष्ट्रीय तथा वैश्विक पैमाने पर इसके योगदान की विराट संभावना को तो वे महसूस करते ही थे, साथ ही उनका यह मानना था कि विज्ञान का व्यवहार एक सकारात्मक विचारधारा को भी आमंत्रित करता है। इस देश को वे बेहद प्यार करते थे, इसलिए ऐसी सकारात्मक विचारधारा को वे देश तथा जनता को बांटनेवाली संप्रदायवादी शक्तियों, पोंगापंथियों और अन्य अंध तथा विघटनकारी प्रवृत्तियों से बचानेवाला एकमात्र संभव ढाल मानते थे। इस देश के लिए, उसकी जनता और विज्ञान की खातिर उन्होंने अपना जीवन—एक दिलचस्प, विविध रंगों तथा उपलब्धियों से भरापूरा जीवन समर्पित कर दिया था। निधन से वे इतिहास का हिस्सा जरूर हो गए हैं, लेकिन उनका जीवन, उनके विचार और सर्वोपरि उनकी प्रतिबद्धता...सत्य का अनुसंधान करने वाले जिज्ञासुओं के मार्ग को आने वाली पीढ़ियों में हमेशा रोशन करती रहेगी।<sup>5</sup>*

## संदर्भ

1. *महाभारत* (संवत् 2026), पंचम खंड, शांति पर्व के अंतर्गत राजधर्मानुशासन पर्व : 4519-21
2. सर्वपल्ली राधाकृष्णन (1941), *इंडियन फिलोसॉफी*, खंड 1, भाग 2, द एपिक पीरियड, अध्याय 5, मैटेरियलिज्म : 282 283
3. *ब्रह्मसूत्र* (2001), 3.3.53-54 : 363-364.
4. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय (1959), *लोकायत ए स्टडी इन एंशिअंट इंडियन मैटेरियलिज्म*। ऊपर वर्णित

लगभग सारे प्रसंग इसी पुस्तक के विभिन्न अध्यायों से लिए गए हैं।

5. वही, इंटीडक्शन : ऋषभ.
6. राहुल सांकृत्यायन (1944), *दर्शन दिग्दर्शन*, अध्याय 14, प्राचीन ब्राह्मण दर्शन : 394
7. रामकृष्ण भट्टाचार्य (2010), रिमेम्बरिंग देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय : फिफ्टी ईयर्स ऑफ लोकायत, फ्रंटियर, खंड 43, अंक 12-15.
8. शारीरिक और मानसिक श्रम का विभाजन तथा भाववादी विश्वदृष्टि का उद्भव : 'प्रत्येक व्यक्ति ही में नहीं, बल्कि समाज में भी हाथों, स्वरांगों और मस्तिष्क के सामंजस्य से मानव अधिकाधिक पेचीदे कार्य करने के तथा सतत् उच्चतर लक्ष्य अपने सामने रखने और उन्हें हासिल करने के योग्य बने। हर पीढ़ी के गुजरने के साथ श्रम स्वयं भिन्न, अधिक परिनिष्पन्न, अधिक विविधतायुक्त होता गया। शिकार और पशुपालन के अतिरिक्त कृषि भी की जाने लगी। फिर कताई, बुनाई, धातुकारी, कुम्भकारी और नौचालन की बारी आई। व्यापार और उद्योग के साथ अंततः कला और विज्ञान का आविर्भाव हुआ। कबीलों से जातियों और राज्यों का विकास हुआ। कानून और राजनीति का आविर्भाव हुआ और उनके साथ मानव मस्तिष्क में मानव जगत के काल्पनिक दर्पण प्रतिबिंब धर्म का उदय हुआ। प्रथमतः मस्तिष्क की उपज लगनेवाले और मानव समाजों के ऊपर छाये ज्ञात होनेवाले इन सारे सृजनों के आगे श्रमशील हाथ के अधिक साधारण उत्पादन पृष्ठभूमि में चले गए। ऐसा इस कारण से और भी हुआ कि समाज के विकास की बहुत प्रारंभिक मंजिल से ही (उदाहरणार्थ आदिम परिवार में ही) श्रम को नियोजित करनेवाला मस्तिष्क नियोजित श्रम को दूसरों के हाथों से करा सकने में समर्थ था। सभ्यता की द्रुत प्रगति का समूचा श्रेय मस्तिष्क के विकास एवं क्रियाकलाप को दे डाला गया।...अतः कालक्रम में उस भाववादी विश्व दृष्टिकोण का उदय हुआ जो प्राचीन जगत के अंत के बाद से तो खास तौर पर मानवों के मस्तिष्क पर हावी रहा है।' कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स (वर्ष नहीं), संकलित रचनाएं, भाग 3, इसी में संकलित फ्रेडरिक एंगेल्स का लेख वानर से नर बनने की प्रक्रिया में श्रम की भूमिका : 15-16.
9. 'भौतिकवादी धारणा के अनुसार, इतिहास में अंततोगत्या निर्णायक तत्व तात्कालिक जीवन का उत्पादन और पुनरुत्पादन है। परंतु यह खुद दो प्रकार का होता है। एक ओर तो जीवन निर्वाह के, भोजन, परिधान तथा आवास के साधनों तथा इन चीजों के लिए आवश्यक औजारों का उत्पादन होता है, और दूसरी ओर, स्वयं मनुष्यों का उत्पादन, यानी जाति प्रसारण होता है।...श्रम का विकास जितना ही कम होता है, तथा श्रम उत्पादन की मात्रा जितनी ही कम होती है, और इसलिए समाज की संपदा जितनी ही सीमित होती है, समाज व्यवस्था में यौन संबंधों का प्रभुत्व उतना ही अधिक जान पड़ता है। लेकिन यौन संबंधों पर आधारित इस समाज व्यवस्था के भीतर उत्पादन क्षमता अधिकाधिक बढ़ती जाती है, उसके साथ निजी संपत्ति और विनिमय बढ़ते हैं, धन का अंतर बढ़ता है, दूसरों की श्रमशक्ति को इस्तेमाल करने की सम्भावना बढ़ती है, और वर्गविरोधों का आधार तैयार होता है।...यौन संबंधों पर आधारित जनसमूहों की नींव पर खड़ा पुराना समाज नव विकसित सामाजिक वर्गों की टक्करों में ध्वस्त हो जाता है, उसकी जगह राज्य के रूप में संगठित एक नया समाज ले लेता है, जिसकी नीचे की इकाइयां यौन संबंधों पर आधारित जन समूह नहीं, बल्कि क्षेत्रीय जनसमूह होती हैं, जिसमें पारिवारिक व्यवस्था पूरी तरह संपत्ति की व्यवस्था के अधीन होती है, और जिसमें वे वर्ग विरोध तथा वर्ग संघर्ष अब खूब खुलकर बढ़ते हैं, जो अब तक के समस्त लिखित इतिहास की विषयवस्तु है।...इस प्रकार जैसे जैसे संपत्ति बढ़ती गई, वैसे वैसे इसके कारण एक ओर तो परिवार के अंदर नारी की तुलना में पुरुष का दर्जा ज्यादा महत्वपूर्ण होता गया, और दूसरी ओर पुरुष के मन में यह इच्छा जोर पकड़ती गई कि अपनी पहले से मजबूत स्थिति का फायदा उठाकर उत्तराधिकार की पुरानी प्रथा को उलट दिया जाये ताकि उसके अपने बच्चे हकदार हो सकें। परंतु जब तक मातृसत्ता के अनुसार वंश चल रहा था, तब तक ऐसा करना असंभव था। इसलिए आवश्यक था कि मातृ सत्ता को उल्टा जाये, और यही किया गया। और यह करने में उतनी कठिनाई नहीं हुई जितनी आज मालूम पड़ती है। कारण कि यह क्रांति, जो मानवजाति द्वारा अब तक अनुभूत सबसे निर्णायक क्रांतियों में थी...इस प्रकार मातृक वंशानुक्रम तथा मातृक दाय्याधिकार की प्रथा उलट दी गई और उसके स्थान पर पैतृक वंशानुक्रम तथा पैतृक दाय्याधिकार स्थापित हुआ।...मातृसत्ता का विनाश नारी जाति की विश्व ऐतिहासिक महत्व की पराजय थी। अब घर के अंदर भी पुरुष ने अपना आधिपत्य

जमा लिया। नारी पदच्युत कर दी गई। वह जकड़ दी गई। वह पुरुष की वासना की दासी, संतान उत्पन्न करने का एक यंत्र मात्र बनकर रह गई।' वही, उसी में संकलित फ्रेडरिक एंगेल्स की रचना परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति : 144-5, 204-6

9. वही : 145
10. रे कुर्जवील (2013), *हाउ टु क्रियेट अ माइंड : द सीक्रेट ऑफ हुमन थॉट रीवील्ड*, अध्याय 8, द माइंड एज कम्प्यूटर : 194
11. मैक्स टेगमार्क (2018), *लाइफ 3.0 : वीइंग हुमन इन द एज ऑफ आर्टिफिशियल इंटेलीजेंस*, अध्याय 8, कंशसनेश : 284, फुटनोट 1 : 335
12. वही : 300
13. वही : 289-90
14. ब्रह्मसूत्र (2001), 1.1.3 : 23
15. एस.के. विश्वास (1993), देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय *द माडर्न सेज*, करेंट साइंस, खंड 65, अंक 12, 10 दिसंबर, 1993, बेंगलोर : 891

## संदर्भ सामग्री

- एस.के. विश्वास (1993), देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय—*द माडर्न सेज*, करेंट साइंस, खंड 65, अंक 12, 10 दिसंबर, 1993, बेंगलोर।
- कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स (वर्ष नहीं), संकलित रचनाएं, भाग 3, प्रगति प्रकाशन, मास्को।
- दामोदर धर्मानंद कोसाम्बी (1956), *एन इंट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री*, पोपुलर बुक डिपो, बॉम्बे।
- देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय (1959), *लोकायत ए स्टडी इन एंशिअंट इंडियन मैटेरियलिज्म*, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
- ब्रह्मसूत्र (2001), मूल संस्कृत के साथ अंग्रेजी अनुवाद स्वामी वीरेश्वरानंद, अद्वैत आश्रम, कोलकाता।
- महाभारत (संवत् 2026), पंचम खंड, गीता प्रेस, गोरखपुर।
- मैक्स टेगमार्क (2018), *लाइफ 3.0 : वीइंग हुमन इन द एज ऑफ आर्टिफिशियल इंटेलीजेंस*, पेंग्विन बुक्स, लंदन।
- रामकृष्ण भट्टाचार्य (2010), *रिमेम्बरिंग देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय : फिफ्टी ईयर्स ऑफ लोकायत*, फ्रंटियर, खंड 43, अंक 12 15, कोलकाता।
- राहुल सांकृत्यायन (1944), *दर्शन दिग्दर्शन*, किताब महल, इलाहाबाद।
- रे कुर्जवील (2013), *हाउ टु क्रियेट अ माइंड : द सीक्रेट ऑफ हुमन थॉट रीवील्ड*, डकवर्थ ओवरलुक, लंदन।
- सर्वपल्ली राधाकृष्णन (1941), *इंडियन फिलोसॉफी*, खंड 1, जॉर्ज अलेन एंड अनविन लिमिटेड, लंदन।

## कजरारी 'कुलटा' : हिंदी प्रिंट, सवर्ण लेखन और दलित स्त्री का (कु)चित्रण

---

चारु गुप्ता

यह लेख औपनिवेशिक उत्तर भारत के पूर्वार्ध में जाति, वर्ग, लिंग और लैंगिकता की जटिलताओं को समझने के लिए दलित स्त्रियों के चित्रण को विश्लेषण का केंद्रबिंदु बनाता है। यह दलित स्त्रियों के नाम पर होने वाले सामाजिक और साहित्यिक विवरणों पर ध्यान देते हुए सवर्णों द्वारा हिंदी के वर्चस्वशाली प्रिंट और सार्वजनिक क्षेत्र में स्त्रियों के छवि निर्माण को परत दर परत उजागर करता है।

**बीसवीं** शताब्दी के पूर्वार्ध में उत्तर भारत में जाति के सवाल केंद्रीय महत्व अख्तियार कर रहे थे, जिससे हिंदी प्रिंट हलके भी कई प्रकार से प्रभावित हुए। हिंदी प्रिंट संस्कृति में सवर्ण वर्चस्व बदस्तूर जारी था और सवर्णों द्वारा लिखित उपदेशात्मक, सुधारवादी और राष्ट्रवादी साहित्य में दलित स्त्रियों के मुख्यतः दो तरह के चित्रण सामने आए। एक प्रकार के चित्रण में दलित स्त्री की पीड़िता, अधीनस्थ और अत्याचार बर्दाश्त करने वाली मौन छवि थी जो सहानुभूति का पात्र थी। सवर्ण विमर्श, बिंब और भाषावली में वर्णित इस छवि में चुपचाप दुःख झेलने वाली दलित स्त्री छवि को आदर्श बनाया गया। एक दूसरे प्रकार के चित्रण में दलित स्त्री की नकारात्मक छवि प्रस्तुत की गई—एक कुलटा और कुटनी के रूप में। मैं अपने लेख में दलित स्त्री की कुलटा छवि निर्माण प्रक्रिया, शैली, बिंब आदि का बारीक विश्लेषण करूंगी।

मेरा यह सवाल है कि किस प्रकार और क्यों इस दौर के प्रचारात्मक और उपदेशात्मक हिंदी साहित्य के एक हिस्से में दलित स्त्रियों को एक खास तरह से नकारात्मक और कुलटा

के रूप में चित्रित किया गया? यह चित्रण सवर्ण हिंदुओं की अपनी पहचान और सामाजिक मुद्रा कायम करने के लिए एक आधार और प्रतीक बन गया। एक इतिहासकार के लिए इस दौर में सवर्ण हिंदुओं के एक तबके का यह लेखन काफी महत्वपूर्ण है; इसलिए नहीं कि यह 'तथ्य' बताते हैं, बल्कि इसलिए कि इससे एक खास तरह के विमर्श और विश्वास सामने आते हैं। हमें इनसे सवर्णों की सोच और उसका वस्तुकरण, दोनों दिखता है। ज्यादातर सवर्ण हिंदू पुरुषों के लेखन और उनकी नजर (कभी कभार स्त्री लेखन के कुछ संदर्भों के साथ) के जरिये यह लेख यह देखने की कोशिश करता है कि किस प्रकार दलित स्त्री को एक सुविधापूर्ण तरीके से चित्रित कर एक रूढ़िबद्ध सांचे में ढाला और अंकित किया गया।

यह लेख उस दौर की एक विशेष रचनावली—हिंदी की उपदेशात्मक और घरेलू नियमावलियों पर केंद्रित है, जो विशेषकर मध्यवर्गीय, उच्च जाति की हिंदू स्त्रियों को संबोधित था। विभिन्न इतिहासकारों के अलग अलग क्षेत्रों पर हुए शोधों से पता चलता है कि ऐसी उपदेशात्मक पुस्तकों का अभिप्राय स्त्री और पुरुष के बीच असमान संबंधों को मजबूत करना था। इनमें अधिकतर स्त्रियां हृदय और भावना की प्रतीक थीं, जबकि पुरुष दिमाग और बुद्धिमत्ता के वाहक थे। पुरुषस्थल को धर्मशास्त्र, कानून और चिकित्सा के सामाजिक रूप से स्वीकृत ज्ञान का धरोहर समझा जाता था, जबकि स्त्री जगत को शिशु पालन, खाना पकाने और सफाई जैसे कामों में सीमित देखा जाता था।<sup>12</sup> लेकिन साथ ही, अगर हम दलित स्त्रीवादी नजरिए से इस रचनाखंड का अवलोकन करें तो स्त्री बनाम पुरुष विश्लेषण पर सवालिया निशान लगते हैं। इस दृष्टिकोण से इन संहिताओं में हमें लिंग, जाति, वर्ग और धार्मिक सत्ता का सक्रिय गठबंधन नजर आता है। इन उपदेशात्मक नियमावलियों में जो कथावाचन का काम करती थीं, अक्सर निश्चित जाति पूर्वाग्रह निहित थे। जैसा कि देखा जा सकता है, इन व्यवहार संहिताओं में पुरुषों द्वारा स्त्रियों, और साथ ही साथ सवर्णों द्वारा अस्पृश्यों पर नियंत्रण का भी भाव था।

यह लेख यही जांच करता है कि किस प्रकार ये नियमावलियां खासकर उच्च जाति और मध्यमवर्गीय स्त्रियों को संबोधित करते हुए भी अपने विशेष प्रकार के चित्रणों से दलित स्त्रियों के बारे में कुछ निश्चित विचार प्रवाहित करती थीं। यद्यपि इस इतिहास में दलित स्त्रियां कभी भी मुख्य कर्ता या किरदार के रूप में अवतरित नहीं होतीं, फिर भी कई दृश्य अदृश्य तरीकों से उनकी मौजूदगी समाज के प्रभुत्वशाली सांगठनिक ढांचों को अंकित करने में अहम भूमिका निभाती है। कई बार इन संहिताओं में दलित स्त्रियों को एक स्त्री के रूप में संबोधित ही नहीं किया जाता था। इसके स्थान पर उन्हें प्रायः उनकी जाति और उनके 'लांछित' पेशों—जैसे चमारिन, धोबिन, भंगन, दाई, मालिन, नाइन, कहारिन से संबोधित किया जाता था। यही दलित स्त्रियों की पहचान थी। यह लेख अफ्रीकी अमेरिकी स्त्रीवादी लेखन से भी प्रेरणा लेता है, जो एक आलोचनात्मक नजरिए से दर्शाता है कि किस प्रकार अश्वेत स्त्री और उसके शरीर को कई बार प्रभुत्वशाली श्वेत लेखन में असभ्यता, अविवेक, कुरूपता, निम्नता और 'अतिशय' यौनिकता का प्रतीक बताया गया। इसके विपरीत श्वेत स्त्री और उसके शरीर को सभ्यता, विवेक, सुंदरता और विशिष्टता का प्रतीक माना गया।<sup>13</sup> मेरा यह मानना है कि कई बार इस प्रकार के उपदेशात्मक लेखन में दलित स्त्री केवल एक फुटनोट नहीं थी, बल्कि वह फुटनोट का कोई 'अंतिम छोर' थी जिसमें उसे उच्च जातीय स्त्री के बरक्स सीधे सपाट नजरिए से प्रति विरोधी के रूप में देखा गया। कई प्रकार से यह साहित्य और उसके इर्दगिर्द की भौतिक संस्कृति एक लैंगिक जातीय विमर्श से ओतप्रोत थी, जिससे कुछ निश्चित जातीय सांचे पतिव्रता और कुटनी निर्मित और स्थापित होते थे। साथ ही इस लेख में मैं उस दौर के कई लेखन में चमार

दाइयों के चित्रण पर भी ध्यान देती हूँ, जिसमें उन्हें 'बुरी', 'गंदी' और 'कुटिल' करार किया गया। इस प्रकार का प्रतिनिधित्व और चित्रण औपनिवेशिक उत्तर भारत में लिंग और जाति के बीच के गठबंधन को उजागर करने में सहायता करता है और एक हिंदू वर्चस्ववादी जातीय सोच पर भी प्रकाश डालता है।

दलित स्त्रियों के इस प्रकार के चित्रणों को एक साथ देखा जाए, तो इसमें अतीत के साथ कुछ निरंतरता है, पर इस दौर में इन चित्रणों में कुछ नए मुहावरे, प्रतीक और आयाम जुड़ते हैं, खासकर आधुनिक, व्यापक प्रिंट संस्कृति के विकास के संदर्भ में। अध्येताओं ने अपने शोध में दिखाया है कि किस प्रकार कई प्राचीन ग्रंथों और महाकाव्यों, जैसे *मनुस्मृति*, *रामायण* और *महाभारत* में दलित और द्रविड़ स्त्रियों को प्रायः अश्लील, विश्वासघाती, खतरनाक, प्रदूषित और 'गंदा' चित्रित किया गया। उदाहरण के लिए *रामायण* में शूर्पनखा का चित्रण एक वहशी की तरह किया गया है जो हर प्रकार की कुरूपता और भयंकरता की प्रतिरूप है। शोधकर्ताओं ने लक्ष्मण के हाथों शूर्पनखा के शरीर के अंगभंग को आर्य पुरुष द्वारा एक द्रविड़ स्त्री को सजा देने के रूप में देखा है। *महाभारत* में निम्न जाति की हिंडंबा को कामवासना और इच्छा से भरपूर स्त्री के रूप में चित्रित किया गया। *मनुस्मृति* दलित स्त्री को 'क्रूर' और 'अस्पृश्य' के रूप में अमानवीय बनाती है; ऐसी स्त्री जो सदा सर्वदा और स्थायी तौर पर प्रदूषित है।<sup>1</sup> उमा चक्रवर्ती बताती हैं कि दलित स्त्रियों के निरंतर और बार बार नकारात्मक और झूठे चित्रण की जड़ें प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराओं में गहरे गुंथी हैं।<sup>2</sup> औपनिवेशिक उत्तर भारत के कुछ लेखन में ऐसे चित्रण नए आकार और अर्थ में पुनःप्रवेश करते हैं।

## दलित स्त्री एक कुटनी के रूप में : हिंदी उपदेशात्मक साहित्य में जाति लिंग के सांचे

यह कहा गया है कि औपनिवेशिक काल में एक सवर्ण हिंदू स्त्री के आदर्श स्त्रीत्व की बुनावट का वास्तविक संघर्ष घरों के अंदर खेला गया। घरेलू क्षेत्र को राष्ट्रीय, उच्च जातीय हिंदू संस्कृति के अंतःकरण के रूप में चित्रित किया गया और स्त्री को इस घर और अंतःकरण के अध्यात्मिक सार और वाहक के रूप में देखा गया।<sup>3</sup> साथ ही साथ यह भी दावा किया गया है कि स्त्रियों और विवाह पर केंद्रित औपनिवेशिक कानून और सामाजिक सुधार पितृसत्ता के नए ढांचे और स्त्रियों के लिए कठोर घरेलू और सामाजिक अनुशासन निर्मित कर रहे थे।<sup>4</sup> यद्यपि ये नजरिए इस बात की अनदेखी करते हैं कि स्त्रियां किस प्रकार सृजनात्मक तरीकों से सुधारों और राष्ट्रवाद को अपने हितों के लिए मोड़तरोड़ रही थीं, फिर भी इससे कतई इनकार नहीं किया जा सकता है कि उपदेशात्मक नियमावलिां पितृसत्ता के देशी ढांचों और उच्च जातीय व्यवहारों को नवजीवन दे रही थीं।

औपनिवेशिक उत्तर भारत में, खासकर उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के बाद प्रिंट के विकास और भाषायी प्रेस के उभार के कारण, और समाज सुधार के परिप्रेक्ष्य में, काफी संख्या में हिंदी में उपदेशात्मक किताबें और लेख प्रकाशित हुए। हिंदी हिंदू मध्यम वर्ग के एक मुखर और प्रभावशाली तबके ने, जो अधिकतर सवर्ण जातियों से था, इस साहित्य की मुख्य तौर पर रचना की। यह साहित्य एक प्रकार का ऐसा सांस्कृतिक संसाधन बन गया जिससे एक खास पहचान और सम्मानीय घरेलूपन को शक्ति देने में मदद मिलती थी।<sup>5</sup> इसके लेखक, उनका उपदेश और इसके औपचारिक अनौपचारिक प्रबंधन की प्रक्रिया में यह सारा क्रियाकलाप एक वस्तु या



व्यापार सा बन गया जिसमें छवियों और चित्रणों का सार्वजनिक उपभोग होता था और व्यवहार विचार की एक खास सिफारिश की जाती थी। इस प्रकार की सचेतन उपदेशात्मक और रीति रिवाजी नियमावलियों में यौनिकता पर नियंत्रण, शैक्षणिक सुधार, बचत, शिशुपालन और घरेलू व्यवस्था जैसे विषय एक गंभीर सामाजिक सरोकार, वैज्ञानिक छानबीन और सुधारवादी कोशिशों का हिस्सा बन गए। मुख्यतः मध्यमवर्गीय, उच्च जातीय, सवर्ण हिंदू गृहस्थ स्त्री की स्थितियों, जिम्मेदारियों, समस्याओं और ऊहापोह से संबंध रखने का दावा करनेवाली इन निर्देशिकाओं के अंतर में विस्तृत और सटीक निर्देश थे। ऐसे लेखन से एक ऐसी स्त्री की छवि निर्मित और मजबूत हुई जो उत्पादक संसाधनों और गतिविधियों से ज्यादा से ज्यादा जुदा थी। कई एक पत्रिकाओं, दिशा निर्देशक पुस्तिकाओं और प्रकाशनों में पुरुषों के नजरिए से एक आदर्श स्त्री की ऐसी छवि बनाई गई जो पुरुष दुनिया के अधीन थी और आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं थी। मध्यवर्गीय, उच्चजातीय स्त्री को पतिव्रता, आज्ञाकारी, धार्मिक और घरेलू कामों में पारंगत बनने की सीख दी गई।<sup>9</sup>

इस पर बार बार जोर दिया गया कि स्त्रियों को अर्थार्जन या आर्थिक बेहतरी के बारे में सोचना नहीं चाहिए। इसकी बजाय उन्हें अपनी ऊर्जा नैतिक उत्थान में लगानी चाहिए। साथ ही, उन्हें घरों के अंदर शरीर, हृदय और मस्तिष्क के उत्थान पर ध्यान देना चाहिए।<sup>10</sup> यह आश्चर्यजनक नहीं है कि मुख्यतः सवर्ण पुरुषों ने ऐसी पुस्तिकाएं लिखीं जिनमें 'अच्छी' स्त्री के घरेलू कौशल के महत्व पर जोर दिया गया। इन पुस्तिकाओं में यह सिखाया गया कि उन्हें कैसे व्यवहार करना चाहिए, कैसे समस्याओं का समाधान करना चाहिए, कैसे सोचना समझना काम करना चाहिए। ऐसे लेखन में अधिकतर सवर्ण जाति की सोच और सर्वोच्चता सर्वप्रमुख थी। कभी कभी इस प्रकार का लेखन लिंग संवेदना भी दर्शाता था, लेकिन ऐसे में भी उसके पाठक पहले से निश्चित थे।

इन संहिताओं में एक आदर्श उच्च जाति की स्त्री की छवि निर्मित करने के लिए निम्न जाति की स्त्री के सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवहारों को कलंकित करने की जरूरत थी। दलित स्त्रियों के इस प्रकार के दागी चित्रण से जातिभेद मजबूत हुए, जाति की चहारदीवारियों को बनाए और उस पर निगरानी रखने का चलन बढ़ा, जातिभेदों के सामान्यीकरण की भाषा मजबूत हुई और यथास्थिति बनाने बढ़ाने का औचित्य तैयार हुआ। इन नियमावलियों के लेखकों और पाठकों ने निम्न जाति की स्त्रियों की एक अलग जातीय पहचान बनाने, दिखाने और तेज करने का प्रयास किया। खासकर, निम्न जाति की स्त्रियों की सामाजिक हैसियत, जीवन पद्धति, कपड़े, प्रवृत्ति और व्यवहार को एक अलग सांचे में ढाला गया। उच्च जाति की हिंदू स्त्री के विपरीत दलित स्त्री की एक प्रतिछवि निर्मित करने की कोशिश की गई। इससे 'स्व' और उससे अलग 'दूसरे' के निर्माण को मान्यता मिली। ऐसा चित्रण एक प्रकार का सामूहिक मनमानस भी गढ़ता था—'हम' और 'वो' की मानसिकता और स्त्रीत्व का एक क्षणीबद्ध सामाजिक निर्माण। दलित स्त्री अदृश्य और मौन थी, लेकिन उच्च जाति के निर्माण और पहचान के लिए महत्वपूर्ण थी।

यद्यपि उच्च जाति के पुरुष लेखकों ने ही ज्यादातर ऐसे चित्रण किए, पर उच्च जाति की स्त्रियों ने भी कई बार दलित स्त्रियों के ऐसे (कु)चित्रण और एक खास छवि निर्माण में योगदान किया।<sup>11</sup> सत्ता की लैंगिक राजनीति में स्त्रियां प्रायः पुरुषों के अधीन होती हैं, पर सत्ता की जाति राजनीति में सवर्ण जाति की स्त्रियों ने अस्पृश्य स्त्रियों की एक समानांतर छवि बनाने में पुरुषों के साथ कई बार साझेदारी निभाई। यद्यपि दलित स्त्रियों को स्वीकृत, प्रभुत्वकारी सामाजिक मूल्यों से जुदा दर्शानेवाली छवि गढ़ने में अतीत के मूल्यों का भी हाथ था, पर

उपनिवेशवाद के आगमन और प्रिंट संस्कृति के विकास से ऐसी छवियों के गठन पुनर्गठन को नए मुहावरे और आकार हासिल हुए।

इन संहिताओं में उच्च जाति की स्त्रियों को अपने शरीर को ढांपकर रखने, सुघड़ गृहणी बनने, ज्यादा ऊंची आवाज में नहीं बोलने, लड़ाई झगड़ा और कानाफूसी ना करने और दूसरी स्त्रियों से ज्यादा बातचीत नहीं करने की हिदायत दी गई। साथ ही, इन्हीं सब कार्यवाहियों को दलित स्त्रियों की पहचान के साथ जोड़ा गया। नैतिक रूप से पवित्र, गुणवान और आदर्श हिंदू स्त्री की छवि को दलित स्त्रियों के नकारात्मक चित्रण के आमने सामने स्थापित किया गया। दलित स्त्रियों को कई बार फूहड़, कर्कश, कुलटा, स्त्रीत्वहीन, नग्न, बेशर्म और असांस्कृतिक घोषित किया गया। दोनों प्रकार की स्त्रियों के व्यवहारों के बीच का अंतर सवर्ण स्त्रियों की पहचान के एक प्रतीक के रूप में उभरकर आया। एक ऐसी नियमावली, *कन्याओं की पोथी* या *कन्या सुबोधिनी* जो लड़कियों और स्त्रियों को संबोधित थी और सवर्ण स्त्रियों के सही व्यवहार को विस्तार से रेखांकित करती थी, का मानना था कि सवर्ण स्त्रियों की यही पहचान है कि वे एक दूसरे से झगड़ा नहीं करतीं, किसी की चुगली और बुराई नहीं करतीं, गाली नहीं देतीं और गंदे और अभद्र शब्दों का इस्तेमाल नहीं करतीं।<sup>12</sup> इन व्यवहारों को मानक बताकर सवर्ण और निम्न जाति की स्त्रियों के बीच फर्क करना सिखाया गया। लगातार झगड़ा करना, गाली गलौज, चीखना चिल्लाना और अपशब्द इस्तेमाल करना खासकर निम्न जाति की स्त्रियों के चरित्र का अंग करार किये गए। एक निमावाली में कहा गया : *आपस में झगड़ा लड़ाई, गाली गलौज भलेमानुसों के घरों में नहीं होता। पढ़े लिखे लोग झगड़ा नहीं करते और बुरी बातें मुंह से नहीं निकालते। नीचों ऊंचों में यही भेद है। नीच लोग लुगाई आपस में लड़ते हैं, गालियां बकते हैं, नंगपन करते हैं।*<sup>13</sup>

ये संहिताएं समाज में व्याप्त जातीय लैंगिक सांचों को मजबूत बनाती थीं। इस क्षेत्र में प्रचलित एक कथन में भी इसका हवाला मिलता है : *तेलिन से क्या धोबिन घाट? इसके मूसल उसके लात।*

‘अश्लील’ भाषा निम्न जाति की स्त्रियों का लक्षण माना गया। उनकी निम्नता दूसरी स्त्रियों के साथ नित लड़ाई झगड़े में व्यक्त होती थी। दलित स्त्रियों के हाव भाव, चाल चलन और चित्रण में कुछ बातों को आम माना गया, जैसे चढ़ी हुई त्योरियां, पैर पटकना और फुसलाना। दलित स्त्रियों की इस प्रकार की विपरीत छवि के चित्रण से सवर्ण हिंदू स्त्री की सामाजिक छवि और सभ्य मूर्ति बनाने संवारने का काम आगे बढ़ा। इस प्रकार के साहित्य में ‘स्त्री’ की निर्मित के दो पहलू थे : सवर्ण जैसी स्त्री है और होनी चाहिए; दलित जैसी स्त्री होती है और जैसी कदापि नहीं होना चाहिए। सवर्ण और दलित स्त्रीत्व के बीच लैंगिक विभिन्नता के निर्माण के जरिये जाति विभाजन की सीमाबंदी भी पुख्ता की गई। इससे सवर्णों को अपनी नैतिक और जातीय सर्वोच्चता स्थापित करने का भी मौका मिला। कई बार सुधारवादी धाराएं भी ऐसे जातिवादी सांचों में ढल गईं। उदाहरण के लिए, मल्लाह जाति पर एक प्रायः सहानुभूतिपरक लेख में उस जाति की स्त्रियों के बारे में यह कहा गया :

*मल्लाह स्त्रियां गाली आदि बकने व लड़ाई झगड़ा करने में बहुत ही तेज होती हैं। जरा सी बात पर ये आपको सात पुश्तों तक का स्मरण दिला देती हैं। इनकी जबान पर लगाम लगाने में अभी तक कोई भी सफल नहीं हो सका।*<sup>14</sup>

औपनिवेशिक भाषा भी कभी कभी इसी प्रकार के सूचकों से भरी होती थी। उनमें भी कहीं कहीं दलित स्त्रियों को भद्दी, अश्लील और मोटे रहनसहन वाली चित्रित किया गया। दो

चमार स्त्रियों के बीच झगड़े का एक ब्रिटिश अधिकारी द्वारा यह वर्णन देखिए : निम्न जाति की ग्रामीण स्त्री जब एक बार उत्तेजित होती है, तो उसके फेफड़े की लगातार ताकत विश्वास से परे है। उसकी आवाज कर्कश और मोटी होती है। वह चीख चीख कर गाली गलौज करती है। कभी ऐसा लगता है कि वह अपनेचरम पर पहुंच गई है, लेकिन उसका यह उत्कर्ष भी आखिरी नहीं होता। इसके तत्काल बाद ही विरोधी स्त्री भी इसी प्रकार चीखना चिल्लाना शुरू करती है, जो तेज से तेज होते चरम पर पहुंचने लगता है, ऐसे जैसेकि किसी एक की रक्त की शिराएं फटकर बाहर आ जाएंगी। इसकी निरंतरता असाधारण है। कभी भी शब्दों की कोई कमी नहीं पड़ती है, वो शायद ही कभी सांस लेने के लिए रुकती हैं। दो स्त्रियों के बीच ऐसे लंबे वाक्युद्ध में दोनों ही काफी समय तक संलग्न रहती हैं और साथ ही साथ एक दूसरे पर चिल्लाती रहती हैं।<sup>16</sup>

उपदेशात्मक साहित्य के कुछ उदाहरण देकर मैं अपनी बात आगे बढ़ाती हूं। एक नियमावली में तुकबंदी, किस्से और पत्रों के जरिए विभिन्न स्त्रियों को विस्तृत निर्देश दिए गए। इसमें विशेषकर निम्न जाति की स्त्रियों को ठगनी, चटोरी और कुटनी कहा गया।<sup>16</sup> इसमें और भी 'विशेषताएं' जोड़कर उनको फूहड़, गंवार, कपटी, दुष्ट, खतरनाक और घरतोड़क भी करार किया गया।<sup>18</sup> सवर्ण हिंदुओं के एक हिस्से द्वारा इस प्रकार के कल्पनाचित्र और वर्णन दलित स्त्रियों को पशुवत प्रवृत्ति वाली मानते थे, जो स्वभाव और चरित्र से बुरे व्यवहार से नजदीकी से जुड़ी होती थीं। एक नियमावली तो आखिरी हद तक पहुंच गई और अपने सबसे अंतिम और महत्वपूर्ण अध्याय को 'जोखिमों से चेतावनी' का शीर्षक दिया।<sup>19</sup> इसमें मुख्यतः सवर्ण हिंदू मध्यमवर्गीय लड़कियों और स्त्रियों को संबोधित करते हुए कहा गया : गिरस्तों के घर में तरह तरह की कुटनियां भी आती जाती रहती हैं। मालिन, नाइनि, कहारिन, चमाइन, धोबिन, बरइन, पिसनहारिन, मनिहारिन, दाई आदि अनेक तरह की औरतों से नित्य काम पड़ता है। यही सब कुटनपन भी करती हैं। बसे घर में लड़ाई लगा देती हैं। इधर की उधर शिकायतें करती फिरती हैं। पति की कुचाल की बातें कहकर बहू के मन बिगाड़ती हैं। पुरुष स्त्री में झगड़े करा देती हैं। सास पतोह, नंद भौजाई, देवरानी जेठानी को लड़ा देती हैं। किसी बहू को...घर में सबसे लड़ाकर...भगा ले जाती हैं।...यह कुटनियां बदमाशों से मिली रहती हैं।...प्यारी बेटी! होशियार रहो। ऐसी लुगाइयां आकर के बैठें तो उनका काम है इधर उधर की बुरी कहानियां कहना। तुम उनसे साफ कह दो कि यह बातें बुरी हैं। मुझे इन बातों की फुरसत नहीं है। रामायण महाभारत की कथा हो तो सुनो भी।...यही कुटनियां खाने पीने की चीजें बाजार से लाकर बहू बेटियों की जबान बिगाड़ती हैं।...इनके सारे काम झूठे होते हैं। लड़ाई एक कराती है, दूसरी मेल कराती, तीसरी टोटके करती, इस तरह कभी कभी कई कई कुटनियां देखने में अलग अलग पर असल में मिलीजुली हुआ करती हैं। इनसे बचो।<sup>20</sup>

कई दलित स्त्रियां सवर्ण और 'सम्मानित' घरों के अंदर मेहतरानी, धोबिन या दाई के रूप में लगातार आती जाती रहती थीं। इन स्त्रियों का सवर्ण स्त्रियों से नजदीकी संपर्क खतरनाक माना गया। यह सवर्णों की चिंताओं और डर को भी जाहिर करता था। स्त्रियों के बीच ऐसी विषमता से 'दूसरेपन' की विचारधारा मजबूत हुई। दो विपरीत ध्रुवों पर खड़ी सवर्ण और दलित स्त्री को बतौर 'सही गलत' और 'अच्छा बुरा' के ढांचे में ढालने का प्रयास किया गया। एक अन्य नियमावली हमारी पारिवारिक व्यवस्था में बताया गया कि दाई और भंगन विशेष रूप से सवर्ण स्त्रियों को बिगाड़ने के लिए जिम्मेवार हैं और उनके कारण कई परिवारों में ईर्ष्या, द्वेष और कलह बढ़ रही है। सवर्ण लड़कियों, विधवाओं और बहुओं को ऐसी 'पतित' और कुटनी

स्त्रियों से, जो कभी भी सुघड़ गृहणियों को 'जोखिमों' में डाल सकती हैं, उन्हें भ्रष्ट कर सकती हैं और उन्हें भगा ले जा सकती हैं, सतर्क रहने की सलाह दी गई।<sup>22</sup>

कई जातिगत नियमावलियों और वंशावलियों में भी ऐसे ही संदेश मिलते हैं।<sup>23</sup> यह भी लिखा गया कि सवर्ण इलाकों में ऐसी खतरनाक, 'नीच' और 'भ्रष्ट' स्त्रियों की 'सफाई' कर देनी चाहिए क्योंकि उनसे गंभीर चरित्र स्वलन होने का खतरा होता है।<sup>24</sup> एक अन्य नियमावली में सवर्ण स्त्री को चेताया गया : *नाइन, मनिहारिन, कहारिन इन स्त्रियों से ज्यादा सतर्क रहो। इनके द्वारा बड़े बड़े अनर्थ अब तक हो चुके और हो रहे हैं।...इनकी संगति से तुम्हारे पवित्र मन में पिशाच प्रवेश कर जाएगा।*<sup>25</sup>

इस दौर की एक महत्वपूर्ण नियमावली थी *स्त्री शिक्षा*, जिसे संयुक्त प्रांत के एक आर्य समाजी ने लिखा, और जिस पर बाद में प्रतिबंध भी लगा था। इस उपदेश पुस्तिका का मुख्य मकसद 1920 के दशक में लैंगिक और धार्मिक सीमाबंदी का पुनर्गठन करना था। इसमें सवर्ण हिंदू स्त्रियों को काफी बारीकी से मुस्लिम मर्दों और 'मुस्लिम' के साथ जुड़े प्रतीकों और संस्कृति से दूर रहने के विस्तृत निर्देश दिए गए थे।<sup>26</sup> साथ ही, इस पुस्तिका ने एक हिंदू समाज को कल्पित करने और साथ ही हिंदू उच्च जाति की तथाकथित विशिष्टताओं का दायरा बढ़ाने में भी योगदान दिया। इसलिए विधवाओं के लिए दिशानिर्देश वाले अध्याय में उनके व्यवहार को लेकर गहरी चिंता झलकती थी। उन्हें यह भी चेतावनी दी गई : *कहारी, नायन, धोबिन, पिसनहारी, मनिहारिन और भंगन से...मंसूबे गांठकर बाहर निकलने का यत्न न करें।*<sup>27</sup>

ऐसी चेतावनियां धर्मांतरण के डर से भी जुड़ी हुई थीं। पश्चिमी मिशनरी स्त्रियों पर तो काफी कुछ निगरानी रखी जाने लगी थी, लेकिन कुछ निम्न जाति की स्त्रियां ईसाई या इस्लाम धर्म ग्रहण कर रही थीं। इसलिए यह डर था कि वो सवर्ण स्त्रियों, विशेषकर विधवाओं, को धर्मांतरण के लिए प्रेरित कर सकती हैं। सवर्ण स्त्रियों के साथ निम्न जाति की स्त्रियों के मेल जोल को आसानी से नियंत्रित नहीं किया जा सकता था, क्योंकि वो कई कामों के लिए सवर्ण घरों के अंदर आती थीं और सवर्ण स्त्रियों से अनौपचारिक बातचीत भी करती थीं। सबसे ज्यादा डर था कि निम्न जाति की स्त्रियां विधवाओं को घर से भाग जाने, धर्मांतरण और पुनर्विवाह के लिए उत्साहित कर सकती हैं।<sup>28</sup> मिशनरी और मुस्लिम के अलावे दलित स्त्रियों को धर्मांतरण करानेवाली एक अदृश्य उत्प्रेरक के रूप में देखा जा रहा था। किसी किसी लेख में भी यह चेताया गया कि 'भोली भाली' हिंदू स्त्रियों को चुरिहारिन, पनिहारिन और भंगिन से विशेष सावधान रहना चाहिए क्योंकि वे मेलों, तीर्थस्थानों या घरों से स्त्रियों को भड़काकर भगा ले जाती हैं।<sup>29</sup>

ये 'बेशर्म' स्त्रियां तथाकथित गुणवान सवर्ण हिंदू स्त्रियों से विपरीत थीं। दलित स्त्रियों का और ज्यादा अवमूल्यन 'सच्चे स्त्रीत्व' की वर्चस्वशाली अवधारणा से दूर होने के कारण हुआ। इन नियमावलियों में दलित स्त्रियों को 'स्त्री' का दर्जा भी नहीं दिया गया; यह दर्जा केवल सवर्ण स्त्री के लिए समुचित था। दलित स्त्रियों को तो उनकी निम्न जाति और 'अपमानजनक' पेशों से पहचाना गया। दलित स्त्रियों का ऐसा चित्रण, जो उनके 'बदबूदार' पेशों से जुड़ा था, वास्तव में पारिवारिकता की संकीर्ण विचारधारा से भी जुड़ा हुआ था जिसमें नारीत्व की अवधारणा को श्रम के योगदान और घर में स्त्रीश्रम के आर्थिक पहलू जैसे तत्वों से पूरी तरह जुदा कर दिया गया था। अभिजात स्त्री के श्रम के भौतिक और सामाजिक पहलुओं की अनदेखी से काफी संख्या में श्रम और उपार्जन करने वाली दलित स्त्रियों के काम को हीन दृष्टि से आंका गया।<sup>30</sup>

इन नियमावलियों में मध्यमवर्गीय स्त्रियों के घर के काम को एक विशिष्ट, पुरस्कृत दर्जा और शिशुपालन को एक खास प्रतिष्ठा दी गई। इसके विपरीत दलित स्त्री को, जो घर के बाहर

भी काम करती थी और अपना जीवन विशिष्ट तौर पर पत्नीत्व और मातृत्व के लिए समर्पित करने में असमर्थ थी, कमतर दिखाया गया। यह टिप्पणी की गई कि ये निम्न जाति की स्त्रियां, जो अपने घरों के बाहर काम करती हैं, अकसर दूषित आचरण की होती हैं, अपने बच्चों का भलीभांति लालनपालन नहीं करती हैं, अपने पतियों को पूरी तरह प्रसन्न और सुखी नहीं रख सकती हैं और उनके सारे कोमल गुण नष्ट हो जाते हैं; उनके 'नारीपन' और स्त्रीत्व का नाश हो जाता है।<sup>31</sup> यह भी कहा गया कि दलित स्त्रियां घरों के बाहर लंबे घंटे काम करने के लिए अपने बच्चों को कभी कभी अफीम खिला देती हैं जिससे बच्चों के स्वास्थ्य को गंभीर नुकसान होता है। इस प्रकार इस साहित्य के एक हिस्से में स्त्रियों के बारे में दो तरह के सांचे बनाये गए। पहले प्रकार में जो स्त्रियां घर से बाहर काम नहीं करने की स्थिति में थीं, उन्हें 'आदर्श' स्त्री बताया गया, जबकि दलित स्त्रियां, जिन्हें अपने श्रम के लिए मजदूरी मिलती थी, उनके शारीरिक श्रम और उनके मूल्य का अवमूल्यन किया गया। सवर्ण और दलित स्त्री के बीच के भेद को अंकित करने के लिए इस सांचे के इस्तेमाल से निजी और सार्वजनिक का विरोधाभास भी परिभाषित, पुनर्परिभाषित और मजबूत हुआ।

दलित स्त्रियों में नारीत्व और सौंदर्य कमतर बताया गया, जोकि उनके यौनिक चरित्र को भी इंगित करता था। वैसे भी, सवर्ण पुरुष की दुनिया में दलित स्त्री के शरीर को प्रायः अतिरेक और प्रकट रूप से सेक्सजनित चित्रित किया जाता है, जो मध्यवर्गीय, सवर्ण हिंदू स्त्री के शरीर से जुड़ी हुई शुद्धता, पवित्रता और शील की अवधारणा से अलग होता है। दलित स्त्री के शरीर की छलकती और सवालिया यौनिकता के बरक्स सवर्ण स्त्री के शरीर को शांत और एकांत चित्रित किया जाता है। इन संहिताओं में यह दर्शाया गया कि दलित स्त्रियों में लज्जा की कमी थी। उन्हें कई बार निर्लज्ज और रंडी करार किया गया।<sup>32</sup> अंग्रेजों की सांस्कृतिक समझदारी से इस प्रकार के चित्रण को बढ़ावा मिला। औपनिवेशिक शासन के दौरान भारतीयों के यौनिक व्यवहारों को कई बार 'आवेशी अप्रयोजन', 'अनियमन' और 'दुराचारी' सेक्स के आईने से देखा गया। यह समझ कभी कभी दलित स्त्रियों की निर्मिति में और उभरकर आई। यौनिकता के बारे में मेडिकल इतिहास और सिद्धांत कहीं कहीं उन शरीरों के साथ गुंथे हुए थे जो दलित और स्त्री के थे। इन शरीरों को नग्नता और अपेक्षाकृत अधिक काली चमड़ी से जोड़ा गया।<sup>33</sup> यौनिक स्वच्छंदता को गर्म जलवायु और सार्वजनिक स्थलों में खुले विचरण के साथ भी जोड़ा गया, जिसे दलित स्त्रियां प्रतिबिंबित करती थीं। दलित स्त्रियों को कभी कभी यौनिकता के स्तर पर अनैतिक, आवारा और सुलभ समझा गया, जो खुलेआम व्यभिचार और विवाह से पहले सेक्स के लिए तैयार रहती थीं। उनके नैतिक चरित्र को कमजोर और उनकी शादियों को अस्थायी करार करते हुए उन पर यह आरोप लगाया गया कि वे बार बार विवाह संबंध तोड़ती और छोड़ती हैं। इस सबको उनमें प्रचलित वेश्यावृत्ति और उनकी सहज उपलब्धता से जोड़ा गया।<sup>34</sup> इस प्रकार दलित स्त्रियों के विवाह पूर्व सेक्स जीवन, विवाह विच्छेद, विधवापन और सार्वजनिक उपस्थिति की चर्चा करके उन्हें उच्च जाति से अलग अंकित किया गया।<sup>35</sup> प्राच्य लेखन में 'अशुद्ध' पेशों में संलग्न समूहों को उनकी स्त्रियों की यौनिक उपलब्धता से भी आंका जाता था।<sup>36</sup> विरोधाभासी रूपों में एक ओर दलित स्त्री के शरीर को स्त्रीहीन चित्रित किया गया, तो दूसरी ओर उसे कामुकता से पूर्ण देखा गया। दलित स्त्री का शरीर एक साथ ही अनाकर्षक और लुभावना, वितृष्णापूर्ण और आकर्षक, अस्पृश्य और उपलब्ध, करूप और सुंदर, उत्पादक और प्रजनक रूपों में चित्रित किया गया। दलित स्त्रियों के शरीर पर होनेवाली रोजाना की जाति हिंसा को उनके कथित ओछे चरित्र का नाम देकर अक्सर छिपाया जाता है।<sup>37</sup> औपनिवेशिक

काल में विलियम क्रूक जैसे संवेदनशील अधिकारी ने भी कभी कभी सवर्णों का नजरिया अपनाते हुए दलित स्त्रियों के लैंगिक व्यवहारों, विवाह रीतियों और यौनिकता का आकलन किया : *यह कहने की जरूरत नहीं है कि हमारे कोर्ट के रेकॉर्ड राजपूत वर्ग के पुरुषों के साथ निम्न जाति की स्त्रियों के संबंधों के उदाहरणों से भरे हुए हैं, और ग्रामीण समाज के इस निचले तबके में इस बात को लेकर तनिक भी नैतिक आग्रह नहीं है। इस प्रकार की चीजों का प्रभाव सर्वज्ञात है और इसके व्याख्या की कोई जरूरत नहीं है।*<sup>138</sup>

एक अन्य जगह क्रूक लिखते हैं : *'नियम के तौर पर भंगी स्त्रियां चरित्रहीन ही होती हैं।'*<sup>139</sup> दलित स्त्रियों के चरित्र और शरीर का ऐसा तिरस्कृत सार्वजनिक आकलन कई बार और भी अधिक वृद्ध इसलिए हो जाता था क्योंकि दलित स्त्रियां अधिकतर पुरुषों के साथ साथ कृषि मजदूरी में संलग्न थीं। इसलिए एक पुस्तिका में कहा गया : *यदि मजदूरनियों के अंदरूनी जीवन पर आप जरा दृष्टि डालें तो आप भी हमारे साथ यही कहेंगे, कि उनमें 100 से 80 स्त्रियों के चरित्र हद दर्जे के खराब होते हैं। इन मजदूरियों के चरित्र के बारे में सेन्सस के सुपरिंटेंडेंट ने लिखा है कि मजदूरियों में से बहुत सी तो सचमुच वेश्याएं हैं। दुकानों पर बैठने वाली, तरकारी बेचने वाली और पान आदि बेचनेवालों के बारे में अभी हम कुछ नहीं कह सकते हैं जोकि डंके की चोट पर अपना सर्वनाश करती हैं। यहां तो 1000 में केवल 2-4 सदाचारी होती हैं।'*<sup>140</sup>

इस तरह के पूर्वाग्रह उस दौर के आयुर्वेदिक प्रकाशनों में भी अलग तरह से पुष्ट हुए, जिनमें कई बार निम्न जातियों को विभिन्न बीमारियों के संभावित वाहक के रूप में देखा गया, और सवर्णों को चेतावनी दी गई कि वे उन्हें अपने घरों में ध्यानपूर्वक घुसने दें। गृहस्थ जीवन के सुसंस्कृत परिवेश पर जोर देते हुए एक संहिता ने लिखा कि निम्न जाति की स्त्रियों से निकटता घर के माहौल को गंदा, रोग्य और अस्वस्थ बना सकती थी।<sup>141</sup> इस संदर्भ में यह भी गौरतलब है कि कई संहिताओं में सवर्ण स्त्रियों को निम्न जाति की स्त्रियों और घरेलू नौकरों का व्यवहार सुधारने, उन्हें स्वच्छता का पाठ पढ़ाने और सही रास्ते पर लाने की जिम्मेवारी दी गई।<sup>142</sup> इस बात को एक व्यापक संदर्भ में देखना होगा जहां कई प्रकार की घरेलू जिम्मेदारियों को घरेलू 'अभिशासन' के साथ जोड़ा गया। एक ओर सवर्ण स्त्रियों को अपने बच्चों को शिक्षित करना था, तो दूसरी ओर उन्हें अपने साथ जुड़ी हुई निम्न जाति की स्त्रियों को भी 'सही' व्यवहार और सफाई सिखानी थी। यह तर्क दिया गया कि सवर्ण स्त्रियों की सोहबत में निम्न जाति की स्त्रियां साफ सफाई और संस्कृति के कुछ गुर सीख सकती हैं। कई संहिताओं में यह निर्देश दिए गए कि अस्पृश्य स्त्रियों और नौकरों के साथ कैसे व्यवहार करना चाहिए, और उनसे किस प्रकार काम करवाना चाहिए। सवर्ण स्त्रियों को यह हिदायत दी गई कि वो निम्न जाति की स्त्रियों से पूरा पूरा काम कराएं, उनके काम पर लगातार नजर रखें और जब वो घरों के अंदर आएंगे, तो उन पर विशेष नजर रखें।<sup>143</sup> यह भी समझाया गया कि सवर्ण स्त्रियों को घर का काम ज्यादा से ज्यादा खुद करना चाहिए और जहां तक संभव हो, इन दूसरी स्त्रियों को अपने घरों में प्रवेश नहीं करने देना चाहिए।<sup>144</sup> इस दौर में शिशु पालन और 'उत्तम संतान' से संबंधित साहित्य भी *संततिशास्त्र* के नाम से बड़ी मात्रा में प्रकाशित हो रहा था।<sup>145</sup> इन ग्रंथों में कई बातों के अलावा यह भी कहा गया कि अगर किसी सवर्ण स्त्री को अपने बच्चे को दूध पिलाने के लिए धाय की जरूरत पड़े तो वह हमेशा सवर्ण जाति की ही होनी चाहिए। साथ ही, वह स्वस्थ, पुष्ट, सुडौल, सच्चरित्र, सुशील और नम्र होनी चाहिए।<sup>146</sup> इस प्रकार जाति विशेषताओं को स्तनपान के माध्यम से स्थानांतरित किया गया।

इसके साथ ही साथ कभी कभी सवर्ण पुरुषों और निम्न जातीय स्त्रियों (और सवर्ण

स्त्रियों तथा दलित पुरुषों) के बीच संभावित सेक्स संबंधों और आपसी छेड़छाड़ का भी डर जाहिर किया गया।<sup>47</sup> सवर्ण स्त्रियों को इन 'निम्न' स्त्रियों से सावधान रहने की हिदायत दी गई जो उनके पतियों को रिझा सकती हैं। एक उपदेशिका का मानना था कि सार्वजनिक स्थलों, जैसे सड़कों, गलियों, बाजारों, तमाशों, मेलों और त्योहारों में पुरुषों की दुष्प्रवृत्तियां देखने में आती हैं। वे घर पर अपनी पत्नी से बात नहीं करेंगे, लेकिन बाहर जमादारिन से, जो सफाई करने के लिए आती है, खुलकर हंसी ठट्टा करेंगे। वे मनिहारिन और चमारिन के साथ छेड़खानी करेंगे और अपनी पत्नी की उपेक्षा करेंगे। स्त्रियों को अपने पतियों की गंदी प्रकृति से सावधान रहना चाहिए और इस तरह की बाजारू स्त्रियों से भी चौकस रहना चाहिए।<sup>48</sup> पुरुषों की ओछी यौनिक प्रवृत्तियों की आलोचना करते हुए भी निम्न जाति की स्त्रियों के प्रति पूर्वाग्रह यहां स्पष्ट थे।

इसके अलावा, पुरुषों को संबोधित उपदेशात्मक साहित्य में, विशेषकर ब्रह्मचर्य और देश की सेवा के लिए वीर्य संरक्षण से संबंधित संहिताओं में,<sup>49</sup> यौनिक रूप से दबंग निम्न जाति की स्त्री को इंद्रियों के आवेश और अत्यधिक सेक्स का कारण बताया गया। उदाहरण के लिए एक संहिता में उल्लिखित है कि वीर्य नुकसान के बचाव और सेक्स उकसाने वाले विचारों से दूर रहने के लिए सवर्ण पुरुषों को इन स्त्रियों से विशेषकर दूर रहना चाहिए : तम्बोलिन, मालिन, कुंजरी, भटियारिन, पनिहारिन, धोबिन, नाइन, ग्वालिन और तेलिन।<sup>50</sup>

कभी कभी, यद्यपि ऐसा बिरले ही होता था, दलित स्त्रियां पारंपरिक ज्ञानसंपन्न, जिनकी दिव्य शक्तियां, बेहतर स्वस्थ शरीर और क्षमता थी, चित्रित होती थीं। उदाहरण के लिए, पर्दा पर जारी विचार विमर्श में एक तर्क यह था कि सवर्ण स्त्रियां अस्वस्थ होती थीं क्योंकि वो हमेशा अपने को परदे में कैद रखती थीं। या ऊंची जाति की स्त्रियों को घरेलू कामकाज का औचित्य बताने के लिए यह तर्क दिया जाता था कि निम्न जाति की स्त्रियों का स्वास्थ्य बेहतर था क्योंकि वे ज्यादा शारीरिक श्रम, जैसे कुएं से पानी निकालना, अनाज पीसना और अन्य घरेलू काम करती थीं।<sup>51</sup> इस प्रकार दलित स्त्री के श्रमिक शरीर का कभी कभी सुगठित और स्वस्थ शरीर के रूप में रूमानीकरण किया जाता था, जो लगातार कठोर शारीरिक श्रम कर सकता था। निश्चित तौर पर इसकी यह भी व्याख्या की जा सकती है कि यह दलित स्त्रियों के शरीर से और ज्यादा श्रम कराने और घरों खेतों में उनके श्रम को ज्यादा रोपित करने के मकसद से भी प्रेरित था। अंग्रेजों की समझदारी, जो वितृष्णा और आकर्षण की जटिलताओं से भरी थी, इतिहास, यात्रावृत्तांत और 'वैज्ञानिक' नस्लवाद की पगडंडियों से चलकर दलित स्त्रियों के ऐसे चित्रण को और मजबूत कर रही थी। निम्न जाति की स्त्रियों को सवर्ण स्त्रियों के आमने सामने किया गया, जो जनाना में कैद थीं, परदे में रहती थीं, और अंग्रेजों के अनुसार, काफी अस्वस्थ जीवन जीती थीं। यह तर्क दिया गया कि इसकी तुलना में निम्न जाति की स्त्रियां परदा नहीं करती हैं, कठिन शारीरिक श्रम करती हैं, खुली हवा में जीती हैं, सादा खाना खाती हैं, ज्यादा स्वस्थ होती हैं, और अपने बच्चों के लिए भी ज्यादा दूध सृजित करती हैं।<sup>52</sup> इस तर्क को और विस्तृत करते हुए दलित स्त्री के कथित आसानी से बच्चा जनने और स्तनपान कराने की क्षमताओं का भी जिक्र किया गया। यह कहा गया कि दलित स्त्री शारीरिक श्रम के कारण बच्चा जनने के दौरान दर्द नहीं अनुभव करती हैं। एक नियमावली के अनुसार : *जहां बहुत सी स्त्रियों को प्रसवकाल में असह्य वेदना होती है वहां गांवों की छोटी जातियों की स्वस्थ स्त्रियों को बच्चा पैदा होने के घंटे आध घंटे पहले तक खेतों में काम करते देखा गया है। उन्हें प्रसव में कोई कठिनाई नहीं होती और उन्हें दाई की आवश्यकता भी नहीं होती।*<sup>53</sup>

स्त्रीवादी विचारकों का मानना है कि दर्द का अनुभव—और इस प्रकार शरीर की मूर्तता—

संकट की घड़ी से गुजर रहे समाज की एक प्रकार की वास्तविकता और निश्चितता का बोध कराती है।<sup>54</sup> सवर्ण स्त्रियों की प्रसवपीड़ा का अनुभव इतना संजीदा और सत्य था कि प्रसवपीड़ा का अनुभव कम या नहीं करने वाली स्त्रियों को कभी कभी स्वाभाविक रूप से डाइन होने का प्रमाण माना जाता था। ऐसे चित्रणों में ऊंची जाति की स्त्रियां 'सहानुभूति' का पात्र होती थीं। दलित स्त्रियों को सक्षम और समर्थ बताते हुए सवर्ण स्त्रियों की सत्ताविहीन और वंचना का शिकार होने की मिथ्या छवि भी प्रचारित की जाती थी। इसके अलावे, ऐसी छवियों के जरिये दलित स्त्री को डर और खौफ की मूर्ति के रूप में दिखाना ज्यादा संभव हुआ। दलित स्त्रियों को अशुभ और डाइन बनाने मानने का चलन कई बार अफवाहों से भी शुरू हुआ जिसमें उन्हें बच्चाखोर के रूप में चित्रित किया गया। उदाहरण के लिए, अगस्त 1924 में कानपुर में अफवाह उड़ी, जिस पर काफी विश्वास किया गया, कि एक कहारिन को अपने खाने के लिए एक मृत बच्चे को पकाते हुए पकड़ा गया। यह आरोप लगाया गया कि उसने नवजात बच्चे की हत्या की थी। यह भी रिपोर्ट किया गया कि बच्चे के पिता ने इस सारे मामले को अपने हाथों में ले लिया था और 24 अगस्त को शहर के तीन सार्वजनिक स्थलों में से एक में उस डाइन की जीते जी चमड़ी उतारी जाएगी। इस कारण कई जगहों पर कोई 7000 लोग जमा हो गए। इसी बारे में एक अन्य रिपोर्ट में यह कहा गया कि डाइन को जमीन के अंदर कमर तक गाड़ दिया गया और फिर दो पागल कुत्तों ने उसके टुकड़े टुकड़े कर दिए। इसी प्रकार की अफवाह कोई एक साल पहले लखनऊ में उड़ी थी।<sup>55</sup>

इस प्रकार कई बार दलित स्त्री को कुटनी के रूप में चित्रित किया गया—आक्रामक, प्रतिशोधात्मक और डरावनी—जिससे सवर्ण स्त्री और पुरुष को दूर रहना चाहिए। उन्हें पागल, खतरनाक और बुरा समझा गया, जिन्हें समझदार और वफादार समुदाय के रूप में वर्गीकृत या परिवर्तित नहीं किया जा सकता था। वो सवर्णों की सामंजस्यता के बिखराव की एक सूचक थीं। ऐसे नकारात्मक चित्रणों से वर्चस्वशाली सवर्ण संस्कृति से दलित स्त्रियों के अलगाव का लैंगिक कैनवास तैयार हुआ। इस सामाजिक समूह के लगातार अवमूल्यन के कारण दलित स्त्रियों का एक विशेष प्रकार का रूपक तैयार हुआ। इस साहित्य से संचेवादी सोच और व्यवहार की जमीन मजबूत हुई। यद्यपि आधिकारिक रिकॉर्ड या अभिलेखागार की सामग्रियों में ऐसे चित्रण लगभग नहीं नजर आते हैं, पर औपनिवेशिक उत्तर भारत के उपदेशात्मक साहित्य के एक हिस्से में ये सर्वत्र व्याप्त थे।

## चमार दाई का निर्माण और अर्थ

औपनिवेशिक उत्तर भारत में दलित स्त्रियों की सबसे ज्यादा निंदा चमार दाई के चित्रण के जरिए देखी जा सकती है। दाइयों पर काफी संख्या में शोध कार्य हुए हैं। कई अध्ययनों में दर्शाया गया है कि पश्चिमी आधुनिकता और उद्योगीकरण के आगमन के साथ दाइयों द्वारा घरों में बच्चा जनने का काम अस्पताल, मेडिकल सेवा और डॉक्टर के आने से विस्थापित हो गया।<sup>56</sup> भारत के संदर्भ में भी यह तर्क दिया गया कि उपनिवेशवाद और पश्चिमी मेडिकल व्यवस्था के आगमन से स्वदेशी और पारंपरिक दाइयों के काम पर काफी हमला हुआ,<sup>57</sup> यद्यपि यहां पर बच्चा जनने का काम अभी भी ज्यादातर घरों में और स्त्रियों के हाथों में रहा। लेख के इस हिस्से में मैं पूर्व के इन अध्ययनों को स्वीकार करते हुए अपना दायरा थोड़ा विस्तृत करती हूँ। मैं यह दिखाती हूँ कि किस प्रकार दाइयों का बदलता हुआ चित्रण जाति के साथ नजदीकी जुड़ा



था, किस प्रकार दाई के सवाल पर औपनिवेशिक आवाजों की संगति सवर्ण सुधारकों और राष्ट्रवादियों के साथ बैठ रही थी, और किस तरह कई भर्त्सनाओं के बावजूद दलित दाइयों कुछ अधिकारों की मांग करते हुए अपने लिए एक स्वतंत्र क्षेत्र बनाने की कोशिश कर रही थीं और इस प्रकार 'नियंत्रण से बाहर' साबित हो रही थीं।

पूर्व औपनिवेशिक उत्तर भारत में गर्भधारण और प्रसव को एक प्रकार का प्राकृतिक, सहज कृत्य समझा जाता था, जिसकी कमान दाइयों के हाथों में होती थी। प्रसव का काम करने वाली स्त्री को अशुद्ध और प्रदूषित माना जाता था। वो मुख्यतः 'अस्पृश्य', खासकर चमार स्त्रियां होती थीं, जो दाई का काम करती थीं।<sup>58</sup> वो एक प्रकार से हिंदू धर्म के अंदर और बाहर, दोनों रहती थीं। अंदर, क्योंकि उनका श्रम सामाजिक ढांचे के निर्वाह के लिए अनिवार्य था। बाहर, क्योंकि उन्हें हिंदुओं के सभी विशेषाधिकारों से वंचित किया गया था।<sup>59</sup> यह पेशा प्रायः वंशानुगत था और इसमें निहित श्रम और कुशलता का स्तर काफी उत्तम था। एक लोककथन इस प्रकार था : *चमाइन से पेट न छिपेले*।<sup>60</sup>

दलित दाइयों को आम तौर पर किस्तों में भुगतान किया जाता था और उनकी मजदूरी काफी कम थी।<sup>61</sup> पर चमारिन दाई को आम तौर पर भूस्वामी को जागीरी शुल्क के रूप में साल में आधा रुपया देना पड़ता था।<sup>62</sup> चमारिन दाई को कई प्रकार के शारीरिक, अशुद्ध काम करने पड़ते थे, जैसे प्रसववती स्त्री का नाभि रज्जु काटना, कई तरह के अवशेषों जैसे गर्भनाल, रक्त, आदि निबटाना, जिससे उसका अस्तित्व और भी ज्यादा मलिन होता था।<sup>63</sup> पर ऐसी शोषणकारी व्यवस्था के बावजूद चमार दाई के कुछ अख्तियार भी थे। हर चमार दाई के पास कुछ खास परिवार होते थे जहां प्रसव कार्य पर उसका एकाधिकार रहता था।<sup>64</sup> वो गर्भवती स्त्री के साथ बेहद अंतरंग और नजदीक होकर काम करती थी, विशेषकर सूतिकागृह और अंतरघर में, और सवर्ण घरों का एक निर्णायक हिस्सा बन जाती थी। कभी कभी जब तक उसकी कुछ मांगें नहीं मान ली जाती थीं, वो गर्भावस्था और प्रसव, यहां तक कि गर्भपात और कुछ आपातकाल के समय भी, अपना काम करने से मना कर देती थी। उसका ज्ञान और कौशल अपरिहार्य था। यदि बेटा पैदा होता था, तो वो ऊंची मजदूरी मांगती थी। प्रदूषण और गंदगी से जुड़ी दाई को अपने काम और कौशल के कारण कई बार असाधारण और अलौकिक जादुई ताकतों से भी संपन्न समझा जाता था, और कम से कम जन्म के समय वो सम्मान और भय का प्रतीक होती थी।

औपनिवेशिक शासन के आगमन के बाद भी चमार स्त्रियां दाई का काम करती रहीं, पर उनकी छवि और चित्रण में कुछ महत्वपूर्ण मोड़ आए। उत्तर प्रदेश में अंग्रेजी शासन के शुरुआती सालों में कन्या भ्रूणहत्या के मामलों में दाइयों का हाथ देखा गया।<sup>65</sup> साथ ही, उन्हें एक महत्वपूर्ण पर अनौपचारिक देशी भेदिए के रूप में भी देखा गया, जो अभिजात घरों के निजीखानों के बारे में जरूरी सूचनाएं दे सकती थीं।<sup>66</sup> उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में, जब औपनिवेशिक शासन जम गया और पश्चिमी, एलोपैथी चिकित्सा प्रणाली का चलन बढ़ गया, तब चिकित्सा विमर्शों में, और वैज्ञानिकों तथा डॉक्टरों द्वारा, चमार दाइयों को उनके पारंपरिक पेशे से विस्थापित करने की गंभीर कोशिशें शुरू हुईं। चमार दाइयों को मंदबुद्धि, अज्ञानी, गंदी, फूहड़ और बेकार चित्रित किया जाने लगा, जो नए तौर तरीके सीखने में असमर्थ थीं।<sup>67</sup> दलित स्त्रियों के प्रसव और गर्भावस्था संबंधी कई व्यवहारों और पद्धतियों पर निगरानी रखने का काम शुरू हुआ।<sup>68</sup> शिशु मृत्युदर के कारणों की चर्चा करते हुए उत्तर प्रदेश की 1911 जनगणना रिपोर्ट में कहा गया : *इसका सबसे पहला और मुख्य कारण है अकुशल दाई। दाई एक निम्न जाति की स्त्री होती है उसके तौर तरीके पुरातन हैं, उसकी जानकारी नहीं के बराबर है; वो खुद और उसके उपकरण*

गंदे रहते हैं, और वो रोगाणु से रक्षा के बारे में कुछ नहीं जानती है।<sup>69</sup>

1921 की जनगणना रिपोर्ट में यह समीक्षा जारी रही : बच्चों के जन्मते समय स्त्री मृत्युदर का एक कारण तो दाई के अस्वास्थ्यकर अशुद्ध तरीके हो सकते हैं। ऐसे तरीके अभी भी चलन में हैं और बच्चों को जन्मते समय काफी संख्या में माताओं के लिए खतरनाक हैं; इस बात की शिनाखा कई जानकार पर्यवेक्षकों ने भी की है।<sup>70</sup>

यहां तक कि बालफोर और यंग के अपेक्षाकृत सहानुभूतिपूर्वक वर्णन में भी यह आलोचना छुपी नहीं रह सकी : देशी दाई ही समस्या थी (और काफी हद तक आज भी है)।<sup>71</sup>

बीसवीं शताब्दी के शुरुआती दौर में उत्तर भारत में हिंदुओं के जागरूक मध्यवर्गीय सुधारकों और राष्ट्रवादियों ने चमार दाइयों के बारे में औपनिवेशिक शासकों और पर्यवेक्षकों की हां में हां मिलाना शुरू कर दिया। उनके साहित्य में भी दाई की निंदा प्रकट होने लगी। उपदेशात्मक नियमावलियों, समाचारपत्रों और सवर्ण सुधारवादी साहित्य में चमार दाई की निंदा एक सबब बन गया। यह बार बार जिक्र किया गया कि अपनी गर्भावस्था के दौरान सवर्ण हिंदू स्त्रियां पूरी तरह से चमार दाई के रहमोकरम पर रहती हैं, जबकि इन दाइयों को कोई नियमित प्रशिक्षण नहीं मिला होता और उनकी आदतें बेहद गंदी होती हैं।<sup>72</sup> प्रसिद्ध चांद पत्रिका के एक लंबे लेख में 'नैतिक और लैंगिक रूप से प्रदूषित' चमार दाई को प्रगतिशील भारत में गंदी, भयावह और खतरनाक डाइन के रूप में चित्रित करने की कोशिश की गई। इसमें कहा गया कि चमार दाई का शरीर 'रोग और कीटाणु' से भरा होता है; वह 'चुड़ैल' जैसी दिखती है, उसके 'बाल जुओं से भरे' होते हैं, 'हाथ गंदे होते हैं' और उसके 'लंबे नाखूनों से कई बार जच्चा के मांस के चीथड़े चीथड़े हो जाते हैं'।<sup>73</sup> चांद के ही एक अन्य अंक में एक रंगीन तस्वीर छपी, जिसका शीर्षक था 'हमारी दाईयां'। यह चित्र न केवल उन्हें पूर्वाग्रहग्रस्त सांचे में रखता था, बल्कि उन्हें स्पष्ट तौर पर अपराधी नजर से देखता था।

चमार दाई की कई प्रकार से निंदा की गई। एक उपदेशावली में कहा गया : बच्चा जनने के लिए आजकल जो दाइयां, चमारिनें या नाइनें आती हैं वे अत्यंत मूर्ख होती हैं; उनको बच्चा और माता की सुविधा का इतना ध्यान नहीं होता जितना भरपूर रकम वसूल करने का होता है।...गांवों में...जो जमारिनें नाल काटने आती हैं, वे अपने साथ एक हंसिया या छुरी लाती हैं, जो कीड़ों से भरी होती है।<sup>74</sup>

निम्न जाति की दाइयों को असभ्य, स्त्रियों के लिए खतरनाक, बच्चों की हत्यारिण, प्रायः बूढ़ी और अपने काम में अचल, गैर वैज्ञानिक विश्वासों और तरीकों से प्रभावित, अंधविश्वासी, आंतरिक रूप से गंदी, अपवित्र, जहर भरी, पापी और अनैतिक करार दिया गया। उनके इस (कु)चित्रण के साथ जाति का विमर्श और आधुनिकता, सभ्यता और सांस्कृतिकरण का तर्क भी जुड़ गया। यह सत्ता और ज्ञान की बदलती हुई परिभाषाओं के साथ लिंग, जाति और वर्ग की श्रेणीबद्धता को मजबूत करने की कोशिश थी। इसमें वर्चस्वशाली जातियों द्वारा निर्मित, प्रचारित और आरोपित जटिल सामाजिक और सांस्कृतिक विश्वासों की भी भूमिका थी। शुद्ध और अशुद्ध, व्यवस्थित और अव्यवस्थित, प्रतीकात्मक रूप से तीक्ष्ण मूल्य थे, जिनके साथ नैतिक और शारीरिक जैसी कोटियों का भी खेल चल रहा था, और इसके साथ जाति और स्थल के सामाजिक नियोजन के सवाल भी सीधे जुड़े हुए थे। उदाहरण के लिए, 'स्वच्छ' नैतिक शुद्धता का एक प्रतिमान माना गया, जबकि गंदगी चमार दाई के केंद्रीय चरित्र के जरिये अभिव्यक्त की गई।<sup>75</sup> इन चित्रणों की दलित स्त्रियों के पूर्व की छवियों से भी एक निरंतरता थी, पर अब इन्हें विज्ञान और सांस्कृतिकरण की भाषा से ज्यादा मजबूती मिली।

चमार दाई के बारे में सामान्य, सतही समझदारी और आलोचना सहज रूप से जीव विज्ञान, चिकित्सा और पश्चिमी विज्ञान में समा गई। औपनिवेशिक और सुधारवादी साहित्य में दाई की तीखी आलोचना के रास्ते प्रसव की दुनिया में, जहां अब तक दाई का जोर था, अभिजात हस्तक्षेप को सही ठहराया गया। दोनों धाराओं में दाइयों में पेशेपन की जरूरत पर जोर दिया गया जिसके दो पहलू थे एक तो निम्न जातीय परंपरागत पेशारत दाइयों को हाशिये पर डालना, और दूसरा देशी दाइयों को आधुनिक मानकीकृत तौर तरीकों में प्रशिक्षित और अनुशासित करना।<sup>76</sup> इस बात पर जोर दिया गया कि आंकड़ों के अनुसार प्रशिक्षित दाइयों के संरक्षण में शिशु मृत्युदर में काफी कमी आई और कन्या भ्रूणहत्या कम करने में भी मदद मिली।<sup>77</sup> भारत में 1885 में काउंटेस ऑफ डफरीन फंड की स्थापना की गई, जिसका एक उद्देश्य अस्पतालों और घरों के लिए नर्सों और दाइयों को प्रशिक्षित करना था। उत्तर प्रदेश सरकार ने स्त्री और बच्चों की सुरक्षा के नाम पर कई नियम लागू किये जो काफी विस्तृत थे।<sup>78</sup> नगरपालिकाओं से कहा गया कि वो ऐसे कानून बनायें जिसके तहत दाइयों का पंजीकरण संभव हो, उन पर कुछ नियम कानून हों, पंजीकरण नहीं कराने वाली दाइयों पर बंदिश हो और उन्हें सजा दी जाये।<sup>79</sup> उत्तर प्रदेश में 1933 में 'नर्सिंग, मिडवाइक्स, असिस्टेंट मिडवाइक्स एंड हेल्थ विजिटर्स रेगुलेशन बिल' प्रस्तावित किया गया। सरकार के सचिव पी. मेसन ने ऐसे बिल की जरूरत बताते हुए कहा : *संयुक्त प्रांत में बड़ी संख्या में अयोग्य या आंशिक योग्य नर्स और दाई के प्रचलन के कारण इस अधिनियम की जरूरत है। इसके द्वारा नर्सों और दाइयों का पंजीकरण कराया जाएगा जिससे लोगों को अप्रशिक्षित और अक्षम स्त्रियों से बचाया जा सके। आम जनता, प्रेस और इंस्पेक्टर जनरल ऑफ सिविल हॉस्पिटल ने हाल ही में इस जरूरत पर जोर दिया है। प्रस्तावित बिल में नर्स, दाई और स्वास्थ्य कार्यकर्ता के पंजीकरण और इसके संगठन के लिए एक काउंसिल का प्रावधान है।<sup>80</sup>*

इस अधिनियम में 'दाई' का मतलब था वो व्यक्ति जो मेडिकल काउंसिल द्वारा मान्यताप्राप्त हो या सरकार द्वारा पंजीकृत संस्था से दाई पेशे में डिप्लोमाधारी हो। उत्तर प्रदेश विधानसभा ने अंततः 20 फरवरी 1934 को यह अधिनियम पारित कर दिया।<sup>81</sup>

नए राष्ट्रवादी हिंदू अभिजात वर्ग और सुधारकों ने ऐसी कार्यवाहियों का समर्थन किया और उसे अंगीकार भी किया। *स्त्री दर्पण* में छपे एक लेख 'अच्छी दाइयों की आवश्यकता' में दाई के पेशे में 'सम्माननीय', शिक्षित स्त्रियों, खासकर 'अच्छे' परिवारों की विधवाओं के प्रवेश की जरूरत पर जोर दिया गया : *हमारे यहां अच्छी दाइयों की बड़ी कमी है।...हमारे भले घरों की स्त्रियों को जो कि परदा करना पसंद नहीं करती हैं और उन विधवाओं को जो कि सिर्फ भोजन वस्त्रादि के लिए ही पुनर्विवाह करना चाहती हैं चाहिए कि अपना ध्यान देश की विवाहित स्त्रियों और उनकी संतानों के ओर दें। यदि वे धात्री विद्या के कार्य को अच्छी तरह सीख लें...तो उन्हें ब्रह्मचर्य की दशा में भी अन्य शारीरिक आवश्यकताओं के पूरे होने में कभी कमी नहीं रह सकती।<sup>82</sup>*

लेख में यह भी कहा गया कि इन 'अच्छे' घरों की स्त्रियों को नगरपालिका, मेडिकल कॉलेज और सरकारी अस्पताल के जरिए, जिन्हें समुचित लाइसेंस मिला हो, बाजाप्ता औपचारिक प्रशिक्षण लेना चाहिए। ऑल इंडिया विमेंस कांफ्रेंस के 1934 प्रस्ताव में सभी दाइयों के अनिवार्य पंजीकरण के लिए एक अधिनियम की मांग की गई।<sup>83</sup> इसका विश्लेषण करते हुए विचारकों ने कहा है कि यह सुधारवादी मध्यमवर्गीय स्त्रियों द्वारा पश्चिमी दवा और स्वच्छता की श्रेष्ठता की स्वीकृति थी। साथ ही, यह निम्न जाति की स्त्रियों के खिलाफ कदम था, क्योंकि वही इस

पेशे में सबसे ज्यादा संलग्न थीं।<sup>84</sup> बीसवीं शताब्दी की शुरुआत तक कुछ शहरी मध्यवर्गीय परिवार पेशेवर स्त्री डॉक्टर और प्रशिक्षित दाइयों की सेवाएं लेने लगे थे।<sup>85</sup> इसी समय 'ऑल इंडिया मैटरनिटी एंड चाइल्ड वेलफेयर लीग' की उत्तर प्रदेश शाखा बड़े शहरों में सक्रिय हो गई थी। उनके कर्मचारियों ने 1924 में इलाहाबाद शहर में 1194 प्रसव के मामले निबटारे और 11505 मरीजों के घरों में भी गए।<sup>86</sup> 1933 में ऐसे कर्मचारियों द्वारा प्रसव के कुल मामले निबटारने की संख्या बढ़कर 33037 पहुंच गई।<sup>87</sup> इन गतिविधियों से पता चलता है कि उत्तर प्रदेश के शहरी क्षेत्रों के मध्यवर्ग में प्रशिक्षित दाइयों की स्वीकृति बढ़ रही थी। ऐसा लगता है कि 1920 के दशक में शहरी मध्यम वर्ग का एक तबका चिकित्सा के क्षेत्र में पश्चिमी तरीके अपना रहा था न कि अपनी कमजोरी, बल्कि अपने सामर्थ्य के इजहार और स्वीकृति के लिए।

पश्चिमी चिकित्सा पद्धतियों के पक्ष में शहरी, मध्यम वर्ग का एक पूर्वाग्रह था लेकिन यह मुख्यतः उत्तर प्रदेश के बड़े शहरों में केंद्रित था। साथ ही साथ व्यापक दृष्टि और अर्थ के अभाव में चिकित्सा योजनाओं का अमल भी लगातार बाधित था। उत्तर प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों में मातृत्व के दौरान सहायता के लिए बनाई गई एक 1929 की योजना आर्थिक कठौती के कारण अमल में नहीं आई। शहरों में भी बजट की कमी थी और उत्तर प्रदेश मैटरनिटी एंड चाइल्ड वेलफेयर लीग ने जिला और निगम बोर्डों के लिए पर्याप्त अनुदान हासिल करने में गंभीर कठिनाइयों के बारे में शिकायत की थी। 1929 में ही दाइयों को प्रशिक्षित करने का बजट 21600 से घटाकर 13892 कर दिया गया। इसलिए रोजगाररत स्त्री चिकित्सा कर्मियों और प्रशिक्षित दाइयों की संख्या छोटी ही रही।<sup>88</sup> 1933 तक भी उत्तर प्रदेश के ग्रामीण और शहरी इलाके मिलाकर प्रशिक्षित दाइयों और सहायक दाइयों की संख्या केवल 234 थी,<sup>89</sup> जिससे यह अंदाजा मिलता है कि ज्यादातर आबादी के लिए अभी भी चमार दाई ही एकमात्र उपाय थी। साथ ही, प्रशिक्षित दाई महंगी होती थी और उसके साथ कई शर्तें जुड़ी होती थीं। उत्तर प्रदेश में एक प्रशिक्षित पश्चिमी दाई ई.एच.वाट ने 1918 में प्रसूति पर एक पुस्तिका लिखी। पुस्तक के अनुसार एक अच्छी अंग्रेजी प्रशिक्षित प्रसव करवाने वाली नर्स को कम से कम छः माह पहले बहाल करना चाहिए। ऐसी नर्स को सरल प्रसव के लिए रोजाना 8 से 9 रूपए का शुल्क देना पड़ता था। इसके अलावा, अन्य खर्च, जैसे धोबी और आवागमन इत्यादि भी होते थे। इसके अलावे प्रशिक्षित दाई प्रसव से पहले कई तरह की तैयारियों की मांग करती थी और वो एक पारंपरिक दाई की तरह कई प्रकार के घरेलू काम नहीं करती थी।<sup>90</sup> शहरी क्षेत्रों की गरीब स्त्रियां और महिला औद्योगिक मजदूर भी देशी पारंपरिक दाई ही रखना चाहती थीं क्योंकि वो उनके तौर तरीके समझती थी और 'बहुत ज्यादा स्वच्छता की भी चिंता नहीं करती थी'।<sup>91</sup>

चमार दाई कई प्रकार से मजबूती से अपने वजूद का अहसास कराती रही वो ऊपर से आरोपित प्रशिक्षण का विरोध करती थी, वो उचित भुगतान नहीं मिलने पर काम करने से मना कर देती थी और अपने लिए कुछ अधिकारों की मांग करती थी। 1911 में आगरा के सिविल सर्जन मेजर एच. ऑस्टेन स्मिथ ने अपना मत देते हुए कहा कि दाइयों के खिलाफ चेतावनी निरर्थक रही है और यह देशी आबादी पर असर डालने में असफल रही है।<sup>92</sup> ज्यादातर चमार दाइयां प्रशिक्षण और पंजीकरण की मुखर विरोधी थीं। औपनिवेशिक शासकों की शिकायत थी कि इसको लेकर उत्तर भारत में स्थिति काफी खराब थी, और बहुत कम दाइयों ने अपना प्रशिक्षण पूरा किया। हताश मागरिट बेलफोर ने कहा : *देशी दाइयों को प्रशिक्षित करने की मुश्किलें मुझसे बेहतर कोई नहीं जानता है। सबसे पहले, उनकी अज्ञानता, जिससे वो विश्वास करती हैं कि उन्हें कुछ भी सीखने की जरूरत नहीं है। फिर उनका यूरोपीय पद्धतियों के खिलाफ*

पूर्वाग्रह, और साथ ही मरीजों की उदासीनता, जो कुछ भी ज्यादा की इच्छा नहीं करते। यह भी तथ्य है कि ज्यादातर दाई वृद्ध हैं और यदि चाहें भी तो नए विचार ग्रहण नहीं कर सकती हैं। वो स्वतंत्र स्त्रियां हैं।...इसमें कोई संदेह नहीं है कि दाई जाति से बाहर की स्त्रियों को कहीं ज्यादा अच्छी तरह प्रशिक्षित किया जा सकता है।...उनके अपने कम पूर्वाग्रह हैं, वो कम उम्र में प्रशिक्षण में शामिल की जा सकती हैं, और अपने शिक्षक से स्वतंत्र नहीं होने के कारण वो आज्ञाकारी होंगी और शिक्षक को प्रसन्न करने के लिए उत्सुक रहेंगी।<sup>14</sup>

1923 में उत्तर प्रदेश में देशी चमार दाई को प्रशिक्षित करने में असफलता स्वीकार की गई।<sup>15</sup> 1934 में यह एक बार फिर कहा गया : शिशु कल्याण कार्यकर्ताओं के प्रति देशी दाइयों का रवैया काफी उदासीन है। वो उन्हें आसानी से स्वीकार नहीं करती हैं और अपने पेशे पर एकक्षत्र कब्जा बनाए रखना चाहती हैं। इन दाइयों का विश्वास और सहयोग हासिल करने की हर संभव कोशिश की गई है। प्रशिक्षित दाइयों को यह निर्देश है कि वो दाइयों के साथ संपर्क करने में बेहद सम्मान और होशियारी बरतें।...लेकिन ये प्रयास अधिकतर असफल रहे हैं।<sup>16</sup>

स्पष्ट है कि चमार दाई नियंत्रण से परे थी और उसका अपना मन मस्तिष्क था। 1881 की जनगणना में उत्तर प्रदेश में 60069 स्त्रियां पेशेवर वर्ग में घोषित की गई थीं, जिनमें सबसे ज्यादा संख्या 25419 निम्न जाति की दाइयों की थी।<sup>17</sup> 1911 में मेडिकल पेशे में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से ज्यादा थी हर 1000 पुरुषों पर 1553 स्त्रियां, और इसका मुख्य कारण पारंपरिक दाइयों की ज्यादा संख्या थी।<sup>18</sup> साथ ही साथ, चमार दाइयां प्रसव के लिए उनके श्रम पर निर्भरता के महत्त्व का अहसास करते हुए, अपने वजूद की आवाज भी उठाने लगीं; उन्होंने नगद में भुगतान और अपनी सेवाओं के लिए फीस की मांग उठाई।<sup>19</sup> दलित संगठनों और चमार एसोसिएशनों ने दाइयों के सवाल पर दो प्रकार की प्रतिक्रियाएं व्यक्त कीं। कुछ चमारों ने, खासकर जिन्होंने आर्थिक बेहतरी हासिल की थी, यह प्रस्ताव पारित किया कि उनकी स्त्रियां दाई का कमतर और निम्न चिन्हित काम करना बंद करें। उदाहरण के लिए, जौनपुर में चमारों की एक सभा ने यह प्रस्तावित किया कि चमार स्त्रियां दाई के काम से बाज आए।<sup>100</sup> कुछ ने दाई के काम के लिए बेहतर भुगतान पर जोर दिया। बस्ती में चमारों की एक पंचायत ने यह तय किया कि दाई अपने काम के लिए नगद भुगतान की मांग करें और उन्हें हर रोज 1.40 रुपए से कम नहीं मिलना चाहिए।<sup>101</sup> बनारस में जुलाई 1926 में चमारों की कई परगनाओं की बैठक में प्रस्ताव पारित किया गया कि दाई को प्रसव के दौरान बच्चे की नाल काटने के लिए 5 रुपए से कम नहीं मिलना चाहिए। यह जानकारी भी मिलती है कि इस क्षेत्र में एक चमार दाई ने प्रसव कराने से मना कर दिया, जब तक उसे 5 रुपए नहीं मिल जाते।<sup>102</sup> बीसवीं शताब्दी के शुरुआती दशकों में राज्य के अन्य क्षेत्रों से भी ऐसी 'शिकायतें' मिल रही थीं कि जब तक चमार दाइयों को अच्छा भुगतान नहीं दिया जाए, उनकी प्रसव संबंधी सेवाएं अब आसानी से उपलब्ध नहीं होती हैं। चमार स्त्रियों के लिए दाईगिरी तुलनात्मक रूप में शायद एक लाभकारी पेशा था और इस दौर में उनकी मजदूरी में कुछ इजाफा हुआ।

भारत में उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में प्रकाशित होने वाले उपदेशात्मक साहित्य की तर्ज पर इस दौर में दलित दाइयों की छवि को और भी मलिन किया गया। लेकिन साथ ही साथ दलित दाइयां एक सक्रिय किरदार भी थीं, जो तत्कालीन स्थिति का लाभ लेने की भी कोशिश कर रही थीं और इस दौर में आम तौर पर दलितों के विकसित हो रहे आंदोलनों और विरोधों से भी ताकत अर्जित कर रही थीं। दलित दाइयों की निरंतर निंदा और निगरानी में मुश्किलें पड़ रही थीं।

## निष्कर्ष

उपदेशात्मक साहित्य के एक हिस्से में, और खासकर चमार दाई के चित्रण में, दलित स्त्रियों को कई प्रकार से भ्रष्ट, दुराचारी, गंदी और बिकाऊ प्रस्तुत किया गया। यहां अशुभ, अनैतिक, पुरातन, प्रदूषित और गंदे स्त्री शरीर के सिद्धांत नए मुहावरों, प्रतीकों, साहित्यों और विमर्शों के जरिए पुनरावतरित हुए। इससे हिंदू सवर्णों के व्यवहारों, मूल्यों और विचारों को, विशेषकर स्त्रियों के बारे में, मजबूती मिली। साथ ही साथ इससे सवर्ण पुरुषों के डर, वितृष्णा और दुश्चिंता की झलक मिलती है, जिसने दलित स्त्रियों की एक सामूहिक छवि निर्मित करने में योगदान किया। इस सबको एक साथ देखा जाए तो वर्चस्वशाली सवर्ण जातियों द्वारा इस प्रकार के चित्रण से दलित स्त्रियों के बारे में एक खास मिथक मजबूत करने और उनकी निम्नता को स्वाभाविक बनाने की जमीन तैयार हुई। इन चित्रणों को कई प्रकार से सृजित और निर्मित किया गया जिससे सवर्ण जातियों के हित और गहरे रूप से स्थापित हो सकें। इनसे सभ्यता और अराजकता, कामना और भय पर विचार करने के रास्ते तैयार हुए। इस साहित्य के हमले और निशाने से पता चलता है कि इनमें स्त्रियों का चित्रण जाति के आधार पर गहरे रूप से विभाजित था। इससे न केवल जाति का श्रेणीकरण मजबूत होता था बल्कि स्त्रियों के बीच सवर्ण और दलित का विभेद गहराता था। स्त्रियों के बीच इस प्रकार के सामाजिक और सांस्कृतिक ध्रुवीकरण और किलेबंदी के कारण एक ही लिंग के आपसी द्वंद्व उभरकर सामने आए। सवर्ण और दलित स्त्री के इस प्रकार के परस्पर विरोधी चित्रण से दोनों खेमों की स्त्रियों पर दीर्घकालीन प्रभाव पड़ा। इस प्रकार की संहिताओं से दलित स्त्री का रूपांतरण एक दुष्ट, गंदी, यौनिकता से भरपूर और खतरनाक समूह के रूप में हुआ। दूसरी तरफ सवर्ण स्त्रियां शुद्ध, संपूर्ण और एकज बनी रहीं। इससे यथार्थ और सत्य चित्रित करने का एक भ्रम पैदा और स्थापित हुआ, जिसकी एक मुख्य ताकत थी 'दूसरे' पर कमान कसना। लेकिन इसके साथ ही साथ, दलित स्त्रियां केवल बेजुबान दर्शक नहीं थीं, बल्कि जैसाकि चमार दाइयों की गतिविधियों से जाहिर होता है, वो अपनी छवि और उसके चित्रण का खंडन भी कर रही थीं।

## संदर्भ

1. उदाहरण के लिए : चांद पत्रिका का 'अछूत अंक', मई 1927। इसमें विशेष तौर पर देखें : संपादकीय, 'पाप की ग्रंथियां' : 2-6; 'अछूत नारी की दुर्दशा' : 175-8; 'अछूत नारी का समुद्धार' : 178-80
2. Mary Hancock, 'Home Science and the Nationalization of Domesticity in Colonial India', *Modern Asian Studies*, 35(4), 2001: 871-903; Judith Walsh, *Domesticity in Colonial India: What Women Learned when Men Gave them Advice*, New York: Rowman and Littlefield, 2004.
3. Tony Morrison, *Playing in the Dark: Whiteness and the Literary Imagination*. Cambridge: Harvard University Press, 1992; bell hooks, *Black Looks: Race and Representation*, Boston: South End Press, 1992; W. D. Jordan, *White Over Black: American Attitudes Toward the Negro (1550-1812)*, Chapel Hill: University of North Carolina Press, 1968; Margaret L. Hunter, *Race, Gender, and the Politics of Skin Tone*, New York: Routledge, 2005; Patricia Hill Collins, *African Americans, Gender, and the New Racism*, New York: Routledge, 2005.
4. Vizia Bharati, 'Hindu Epics: Portrayal of Dalit Women', in P. G. Jogdand (ed.), *Dalit Women in India: Issues and Perspectives*, Pune: Gyan Publishing House, 1995: 93-104; Kathleen M. Erndl, 'The Mutilation of Surpanakha', in Paula Richman (ed.), *Many Ramayanas: The Diversity of a Narrative Tradition in South Asia*, Berkeley: University

- of California Press, 1991: 67-87.
5. Uma Chakravarti, 'Whatever Happened to the Vedic *Dasi*?: Orientalism, Nationalism, and a Script for the Past', in Kumkum Sangari and Sudesh Vaid (eds), *Recasting Women: Essays in Colonial History*, Delhi: Kali for Women, 1989: 27-87; Uma Chakravarti, 'Women, Men and Beasts: The *Jatakas* as Popular Tradition', in Aloka Parasher-Sen (ed.), *Subordinate and Marginal Groups in Early India*, Delhi: Oxford University Press, 2004: 210-42.
  6. Partha Chatterjee, *The Nation and its Fragments: Colonial and Postcolonial Histories*, Princeton: Princeton University Press, 1993: 120-21.
  7. Sangari and Vaid (eds), *Recasting Women*; Anne McClintock, *Imperial Leather: Race, Gender and Sexuality in the Colonial Contest*, New York: Routledge, 1995: 1-4.
  8. चारू गुप्ता, स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक : औपनिवेशिक उत्तर भारत में यौनिकता और साम्प्रदायिकता, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2012.
  9. ऐसी निर्देशिकाओं की बीसवीं शताब्दी की उत्तरार्ध में भरमार थी। उदाहरण के लिए देखें : हनुमान प्रसाद पोद्दार, समाज सुधार, गोरखपुर : गीता प्रेस, 1929 : 24-5; बालकृष्ण बाजपेई, स्त्री सर्वस्व, आगरा : रत्नाश्रम, 1934; गुप्त 'पागल', गृहणी भूषण, काशी : पन्नालाल गुप्त, 1921; जयदयाल गोएंका, नारीधर्म, गोरखपुर : गीता प्रेस, 1937; महेंदुलाल गर्ग, कलावती शिक्षा, प्रयाग, 1930; बाबु सन्नूलाल गुप्त गिरदावर, स्त्री सुबोधिनी, लखनऊ, 1922; जनार्दन जोशी, गृह प्रबंध शास्त्र, प्रयाग, 1918; कन्नोमल, महिला सुधार, आगरा : महावीर ग्रन्थ कार्यालय, 1923; चिंतामणि 'मणि', मनु और स्त्रियां, इलाहाबाद : इंडिया बुक एजेंसी, 1935; तोताराम वकील, स्त्री धर्म बोधिनी, अलीगढ़ : भारत बुक डिपो, 1925
  10. विद्यावती सेठ, 'प्राचीन और नवीन भारत की महिलाएं; माधुरी, 1(4), अक्टूबर 1922 : 339-42
  11. उदाहरण के लिए देखें : रुक्मणी देवी, मेम और साहिब, बनारस : दुर्गा प्रसाद, 1919; यशोदा देवी, नारी नीति शिक्षा, इलाहाबाद, 1910; हुक्मादेवी, महिला मनोरंजक प्रश्नावली, लखनऊ, 1932; मनव्रता देवी, नारी धर्म शिक्षा, बनारस : काशी पुस्तक भंडार, 1948
  12. बाजपेई, स्त्री सर्वस्व : 62
  13. रामदास गौड़, कन्याओं की पोथी या कन्या सुबोधिनी, प्रयाग : गांधी हिंदी पुस्तक भंडार, 1927 : 19
  14. एस.एस.गौतम (संकलित), भारतीय साहित्य में महिलाओं पर अभद्र कहावतें, दिल्ली : गौतम बुक सेंटर, 2007 : 103
  15. महेंद्र 'राजा', 'भारत की मल्लाह जाति', विशाल भारत, अगस्त, 1952 : 106
  16. Sir Cecil Walsh] Indian Village Crimes with an Introduction on Police Investigation and Confessions] Ernest Benn Limited] London] 1929 % 98-9
  17. लाला बांकेलाल, कन्या मनोरंजन, मोरादाबाद : लक्ष्मीनारायण प्रेस, 1909
  18. लक्ष्मीधर वाजपेई, धर्मशिक्षा, प्रयाग : तरुण भारत ग्रंथावली, 1941
  19. गौड़, कन्याओं की पोथी : 220-28
  20. गौड़, कन्याओं की पोथी : 222-24
  21. जगपति चतुर्वेदी, हमारी पारिवारिक व्यवस्था, प्रयाग : मात्रा भाषा मंदिर, 1946 : 68-9
  22. चंद्रिकानारायण शर्मा, मानवोत्पत्ति विज्ञान, काशी 1938 : 235; गंगा प्रसाद उपाध्याय, महिला व्यवहार चंद्रिका, प्रयाग, 1928; तोताराम वकील, स्त्री धर्म : 33-4
  23. बासुदेव शर्मा, अग्रवाल जाति प्रबंध, आगरा, 1916 : 10
  24. केशवकुमार ठाकुर, गृहस्थ जीवन, प्रयाग, 1932 : 70
  25. रामतेज पांडे, नारी धर्म शास्त्र, काशी : भार्गव पुस्तकालय, 1931 : 38. यह भी देखें : गोएंका, नारीधर्म 21 22; 34
  26. शिव शर्मा महोपदेशक, स्त्री शिक्षा, बरेली : किंग प्रेस, 1927. पूरी पुस्तिका के लिए देखें : चारू गुप्ता, स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक : 269-78

27. महोपदेशक, स्त्री शिक्षा : 12
28. महोपदेशक, स्त्री शिक्षा; नारायण दत्त शर्मा 'कश्यप', भारतीय विधवाओं की करुणापूर्ण कथाएं अर्थात् हिंदू विधवाओं पर अत्याचार, भाग 1, 2, 3, आगरा : विधवा सहायक ग्रंथमाला कार्यालय, 1927, 1929, 1931
29. एक प्रत्यक्षदर्शी, 'सतीत्व रक्षा के प्रति', दम्पति, 1(1), अगस्त 1930 : 87-9.
30. Samita Sen, *Women and Labour in Late Colonial India in the Bengal Jute Industry*, Cambridge : Cambridge University Press, 1999 : 8-9
31. विद्यावती सेठ, 'प्राचीन और नवीन भारत की महिलाएं', माधुरी, 1(4), अक्टूबर 1922 : 339-42; पोद्दार, समाज सुधार ।
32. वाजपेई, धर्मशिक्षा : 76; रुक्मणी देवी, मेम और साहिब, बनारस : दुर्गा प्रसाद, 1919 : 28
33. Philippa Levine, *Prostitution, Race and Politics: Policing Venereal Disease in the British Empire*, New York: Routledge, 2003
34. *Census of India*, Punjab, 1911: 293-94
35. Pauline Kolenda, *Regional Differences in Family Structure in India*, Jaipur: Rawat Publications, 1987: 289-356
36. Susan Bayly, *Caste, Society and Politics in India from the Eighteenth Century to the Modern Age*, Cambridge: Cambridge University Press, 1999: 196
37. Oliver Mendelsohn and Marika Vcziany, *The Untouchables: Subordination, Poverty and the State in Modern India*, Cambridge: Cambridge University Press, CUP, Cambridge, 1998 : 11
38. W. Crooke, *The Tribes and Castes of the North Western India, I*, Cosmo, Delhi, 1974 [1896]: xxiv.
39. Crooke, *Tribes and Castes, I* : 291
40. रामरख सिंह सहगल, समाज दर्शन अर्थात् सामाजिक कुरीतियों का दिग्दर्शन, इलाहाबाद : चांद कार्यालय, 1922; 77
41. केशवकुमार ठाकुर, गृहस्थ जीवन, प्रयाग, 1932
42. Swapna M. Banerjee, *Men, Women and Domesticity: Articulating Middle Class Identity in Colonial Bengal*, Delhi: Oxford University Press, 2004
43. 'पागल', गृहणी भूषण, काशी : 83; शर्मा, मानवोत्पत्ति विज्ञान : 234
44. कन्नोमल, महिला सुधार : 11-12, 29
45. Luzia Savary] ^Vernacular Eugenics\ Santati Sastra in Popular Hindi Advisory Literature ¼1900 1940½] SouthAsia: Journal of SouthAsian Studies] 37¼3½] 2014 % 381 97
46. गणेश दत्त शर्मा गौर 'इंद्र', संतानशास्त्र, इलाहाबाद : चांद कार्यालय, 1928 : 489 91; अयोध्याप्रसाद भार्गव, संततिशास्त्र : अर्थात् मनुष्य जाति की उत्तम संतान उत्पन्न करने के नियमों का संग्रह, बनारस : भार्गव बुक डिपो, 1923
47. पोद्दार, समाज सुधार : 25
48. केशवकुमार ठाकुर, विवाह और प्रेम, इलाहाबाद : चांद कार्यालय, 1930 : 105-6
49. गुप्ता, स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक;
50. गणेशदत्त शर्मा 'गौड़', स्वप्नदोष रक्षक, बनारस, 1929 : 10
51. 'स्त्री समाज', सुधा, जुलाई 1929 : 659
52. अबला हितकारक, लखनऊ : अमेरिकन मिशन प्रेस, 15 अक्टूबर 1887 : 88
53. रामनाथलाल 'सुमन', भाई के पत्र : विवाह समस्या और नारी जीवन, अजमेर : सस्ता साहित्य मंडल, 1933 : 264
54. Elaine Scarry, *The Body in Pain: The Making and Unmaking of the World*, New York: Oxford University Press, 1985: 185-91.
55. *Police Abstracts of Intelligence, UP (PAI)*, 6 September 1924: 287.
56. Ann Oakley, *The Captured Womb: A History of the Medical Care of Pregnant Women*,



- New York: Basil Blackwell, 1984; Barbara Ehrenreich and Deirdre English, *Witches, Midwives and Nurses: A History of Women Healers*, New York: Feminist Press, 1973; Charlotte G. Borst, *Catching Babies: The Professionalization of Childbirth, 1870-1920*, Cambridge, 1995; Judith W. Leavitt, *Brought to Bed: Child-Bearing in America, 1750-1950*, New York: Oxford University Press, 1986; Robbie Davis-Floyd and Carolyn F. Sargent (eds), *Childbirth and Authoritative Knowledge: Cross-Cultural Perspectives*, Berkeley: University of California Press, 1997; Wendy Perkins, *Midwifery and Medicine in Early Modern France, Louise Bourgeois*, Exeter, 1996.
57. Cecilia Van Hollen, *Birth on the Threshold: Childbirth and Modernity in South India*, Berkeley: University of California Press, 2003: 36-56; Kalpana Ram and Margaret Jolly (eds), *Maternities and Modernities: Colonial and Postcolonial Experiences in Asia and the Pacific*, Cambridge: Cambridge University Press, 1998; Patricia Jeffery, Roger Jeffery and Andrew Lyon, *Labour Pains and Labour Power: Women and Childbearing in India*, London: Zed Books, 1989; Santi Rozario and Geoffrey Samuel (eds), *Daughters of Hariti: Childbirth and Female Healers in South and Southeast Asia*, London: Routledge, 2002; Supriya Guha, 'From Dais to Doctors: The Medicalisation of Childbirth in Colonial India', in Lakshmi Lingam (ed.), *Understanding Women's Health Issues: A Reader*, Delhi: Kali for Women, 1998: 145-61; Janet Chawla (ed.), *Birth and Birthgivers: The Power Behind the Shame*, Har-Anand Publications, New Delhi, 2006; Anshu Malhotra, 'Of Dais and Midwives: "Middle Class" Interventions in the Management of Reproductive Health in Colonial Punjab', *Indian Journal of Gender Studies*, 10(2), 2003: 229-59; Geraldine Forbes, 'Managing Midwifery in India', in Dugmar Engels and Shula Marks (eds), *Contesting Colonial Hegemony: State and Society in Africa and India*, London: British Academy Press, 1994, p. 152-72.
  58. Geo. W. Briggs, *The Chamars*, Calcutta, 1920: 24-26, 53-54; E. A. H. Blunt, *The Caste System of Northern India: With Special Reference to UP*, London, 1931: 242; J. C. Nesfield, *Brief View of the Caste System of the North Western Provinces and Oudh*, Government Press, Allahabad, 1885: 22.
  59. Louise Ouwerkerk, *The Untouchables of India*, London: Oxford University Press, 1945: 8-9.
  60. सतनाम सिंह, चमार जाति का गौरवशाली इतिहास, दिल्ली' सम्यक प्रकाशन, 2011 : 195
  61. S. C. Chaturvedi, *Rural Wages in the United Provinces (A study of the material collected during the seventh Quinquennial Inquiry into Rural Wages, conducted in December, 1944)*, Allahabad: Government of the UP, Dept of Economics and Statistics, 1947: 16.
  62. E. T. Atkinson, *Badaun: Statistical, Descriptive and Historical Account of the North Western Province of India, Vol. V, Part I*, Allahabad: Government Press, 1879; H. R. Neville, *Barabanki: A Gazetteer, Vol XLVIII of the District Gazetteers of UPA&O*, Allahabad: Government Press, 1904: 134-35.
  63. Margaret I. Balfour and Ruth Young, *The Work of Medical Women in India*, London, 1929: 126-27; K. O. Vaughan, 'Should the Dai be Trained or Superseded?', *Journal of the Association of Medical Women in India*, 5(9), February 1916: 14.
  64. Crook, *Tribes and Castes of the North Western India, II*: 190.
  65. *Selections from the Records of Government, North-Western Provinces, Vol. II*, Allahabad, 1866: 51-52; 27-28/August 1877, Police, A, Home Deptt, National Archives of India; Radhika Singha, *A Despotism of Law: Crime and Justice in Early Colonial India*, Delhi: Oxford University Press, 1998: 130-37; Malavika Kasturi, *Embattled Identities: Rajput Lineages and the Colonial State in Nineteenth-Century North India*, Delhi: Oxford University Press, 2002.
  66. C. A. Bayly, *Empire and Information: Intelligence Gathering and Social Communication in India, 1780-1870*, Cambridge University Press, Cambridge, 1996: 54, 92, 164-65, 177.
  67. Forbes, 'Managing': 163-68.
  68. Sean Lang, 'Drop the Demon Dai: Maternal Mortality and the State in Colonial Madras, 1840-1875', *Social History of Medicine*, 18(3), 2005: 357-78.
  69. *Census of India, 1911, UP, Vol. XV, Part I*, Allahabad, 1912: 193.

70. *Census of India, 1921, UP, Vol. XVI, Part I*, Allahabad, 1923: 87.
71. Balfour and Young, *Medical*: 126
72. ज्योतिर्मयी ठाकुर, घरेलू विज्ञान, प्रयाग, 1932
73. भवानीदयाल संन्यासी, 'स्त्री और सेवा', चांद, अक्टूबर 1928 : 650-55
74. 'सुमन', भाई के पत्र : 273-4
75. Briggs, *Chamars*: 24-26, 53-54; Blunt, *Caste*: 242
76. 'Review: Report of the Royal Commission on Labour in India, 1929-30', *The Journal of the Association of Medical Women in India*, XIX(4), November 1931: 54; Balfour and Young, *Medical*: 38
77. प्रतापसिंह (सं.), अखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महामंडल का रजत जयंती ग्रंथ, बनारस : महाशक्ति प्रेस, 1936 : 330
78. *Sixty-Third Annual Report of the Director of Public Health of UP*, Allahabad, 1931: 48.
79. File 68-69, June 1900, Medical, A, Home Deptt, National Archives of India.
80. File 25-26, October 1919, Legislative Deptt, National Archives of India.
81. File 1248/33, 1933, Judicial, Home Deptt, National Archives of India.
82. *Proceedings of UP Legislative Council*, 20 February 1934; File 124-II/1934, Publication, Legislative Deptt, National Archives of India.
83. प्रसादीलाल झा, 'अच्छी दाइयों की आवश्यकता', स्त्री दर्पण, 29(3), सितम्बर 1923 : 476-78; यह भी देखें : ईश्वरदत्त शर्मा, 'आत्मत्याग', सरस्वती, 17(2, 3), सितम्बर 1916 : 182
84. AIWC, *Annual Report*, Calcutta, 1934: 150
85. Forbes, 'Managing': 152.
86. Forbes, 'Managing': 169-71.
87. *Fifty-Seventh Report of the Director of Public Health of UP*, Allahabad, 1925: 36.
88. *Sixty-Sixth Annual Report of the Director of Public Health of UP*, Allahabad, 1934: 43.
89. *Sixty-Third Annual Report of the Director of Public Health of UP*, Allahabad, 1931: 46-47.
90. *Sixty-Sixth Annual Report of the Director of Public Health of UP*, Allahabad, 1934, Appendix C: 46A-47A.
91. E.H. Wyatt, *Maternity: A Simple Book for Mothers and Maternity Nurses in India*, Allahabad, 1918: 5-28.
92. M.I. Balfour, 'Indian Women in Industry', *The Journal of the Association of Medical Women in India*, XX(4), November 1932: 12.
93. *Census, 1911, UP*: 199.
94. Balfour and Young, *Medical*: 130-35.
95. M.I. Balfour, 'The Training of Dais', *Journal of the Association of Medical Women in India*, 5(9), February 1916: 19.
96. A. W. R. Cochrane, *Triennial Report of Civil Hospitals and Dispensaries of UP, years 1920, 1921 and 1922*, Allahabad, 1923: 9.
97. *Sixty-Sixth Annual Report of the Director of Public Health of UP*, Allahabad, 1934: 44.
98. Edmund White, *Report on the Census of NWP, Preliminary Dissertation*, Allahabad, 1882: 113.
99. *Census, 1911, UP*: 402.
100. Briggs, *Chamars*: 54, 65.
101. *Police Abstracts of Intelligence, CID Office, UP, (PAI)*, 9 October 1926, No. 39, Para 904: 544.
101. *PAI*, 20 May 1922, No. 19, Para 604: 880.
102. *PAI*, 7 August 1926, No. 30, Para 701: 417.

# सूफी साहित्य : सत्ता, संघर्ष और मिथ

कमलानंद झा

इन दिनों विद्यापति पर मूल्यांकनपरक काम कर रहे कमलानंद झा के आलोचनात्मक लेखन को गंभीरता से लिया जाता है। यूं वह एक समय में साहित्यिक एक्टिविस्ट भी रहे हैं। संप्रति अलीगढ़ मुस्लिम वि.वि. के हिंदी विभाग में आचार्य।

हिंदी साहित्य के पाठक सूफी साहित्य के नाम पर अमूमन प्रेमाख्यान काव्य से ही परिचित हैं प्रेमाख्यान काव्य में भी मल्लिक मुहम्मद जायसी से। हिंदुस्तान या हिंदुस्तान से बाहर के सूफी साहित्य के प्रति यहां उदासीनता ही नजर आती है। दूसरी तरफ सूफी साहित्य के प्रति यहां दृष्टिकोण भी नितांत एकांगी रहा है। सामान्य रूप से हम लोग सूफियों के बारे में यही जानते हैं कि वे सत्तातंत्र से बेफिक्र, धार्मिक रूढ़ियों से इतर, प्रेम और मनष्यता के गीत गाने वाले मस्त फकीर होते हैं। यह एक मिथ है। इसके उलट कई बड़े सूफी कवियों की सत्तातंत्र से गलबहियां भी रही हैं और धार्मिक संकीर्णता भी। किंतु 'राजनीतिक रूप से सही' (पोलिटिकल करेक्टनेस) होने की विवशता में प्रगतिशील लेखक इसे रेखांकित करने से परहेज करते हैं और दूसरे खेमे के लोग पठन पाठन के अभाव में या तो लिखते नहीं और अगर लिखते हैं तो पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर। प्रस्तुत आलेख में सूफी साहित्य में विन्यस्त अंतर्विरोधों और अंतर्द्वंद्वों को उसकी सीमाओं और सम्भावनाओं के साथ देखने की कोशिश की गई है।

आजकल आधुनिकता के अतिरिक्त दबाव में मध्यकालीन साहित्य को पढ़ना प्राचीन होने का जोखिम उठाने से कम नहीं। लेकिन सचाई यह है कि वर्तमान की कई समस्याओं, चिंताओं और सरोकारों की गांठ वहीं बंधी हुई है। इतिहास में ही चयनवादी और खारिजवादी (पिक एंड चूज)

दृष्टि नहीं होती बल्कि साहित्य के किसी खंड या प्रवृत्ति के पढ़ने पढ़ाने में भी यह दृष्टि सक्रिय रहती है। होता यह है कि हम चयनात्मक तरीके से टकराहटों के चिह्नों को सहमति के स्वर में रूपांतरित करने का प्रयास करते हैं। यह रूपांतरण उसमें विन्यस्त बहुस्वरता और बहुवचनात्मकता को खत्म करता है। *अतीत की निर्मिति यानी इतिहास आज के सत्तामूलक प्रभुत्व के संजालों में अनिवार्यतया अटकता ही है और इस तरह इतिहास कभी तटस्थ नहीं होता। इतिहास का मतलब यह नहीं है कि अतीत असल में किस तरह का था, बल्कि इसका मतलब है अतीत का वर्तमान में निर्माण, जो समकालीन राजनीतिक बहसों से उलझता है।* भक्ति साहित्य के अध्ययन की एक सीमा यह है कि इसमें सहमति, स्वीकारोक्ति और 'आल इज वेल' वाली दृष्टि अधिक प्रभावी रही है। 'भक्ति के वृहत आख्यान' में इसके विविध शाखाओं के आपसी 'कनफिलक्ट' या किसी शाखा विशेष के अंदर व्याप्त टूट, फांक या तनाव पर कम ध्यान दिया गया है। यहां सूफी साहित्य के आंतरिक दरारों और अंतर्विरोधों को समझने की कोशिश की गई है। साहित्य का कोई भी कालखंड या शाखाविशेष निर्विवाद या निर्द्वंद्व नहीं होता। वह आंतरिक कशमकश, रस्साकसी और द्वंद्व से ऊर्जा ग्रहण करते हुए प्रखरता प्राप्त करता है।

स्वस्थ और सामंजस्यपूर्ण समाज का यूटोपिया धार्मिक लोकतंत्र की बुनियाद पर खड़ा किया जा सकता है। लेकिन विडम्बना यह है कि इस बुनियाद को चुनौती आधुनिक हो रहे समाज से ही मिल रही है। जैसे जैसे समाज आधुनिक होता गया धार्मिक धुवीकरण का विस्तार होता गया है। भारत में भी इसकी फसल लहलहा रही है। भारतीय संदर्भ में इसका एक कारण धर्म और भक्ति के घालमेल से बना रसायन है। बड़े तफसील से धर्म को भक्ति का पर्याय बनाने का एजेंडा चलाया गया और धीरे धीरे जनमानस की चित्रवृत्ति को भी इसी तरह अनुकूलित कर लिया गया। 'शास्त्रोक्त अध्यात्म और धर्मन्तर अध्यात्म' की दूरी साजिशतन पाट दी गई। जबकि सचाई यह है कि भक्ति संवेदना का उद्भव ही धर्म के वाह्य संस्थानिक रूप से संघर्ष करते हुए हुआ था। और इसी संदर्भ में इसे 'अखिल भारतीय विराट जनआंदोलन' का दर्जा प्राप्त हुआ था। लगभग सभी भारतीय भाषाओं में भक्ति आंदोलन की जबरदस्त धमक और व्यापक अनुगूंज ने पंडे, पुरोहितों और मौलवियों को रास्ते से हटाते हुए भक्त और भगवान के बीच सीधा मुखामुखम का अवसर प्रदान किया। इसमें दो राय नहीं कि दुनिया भर में सत्तातंत्र की धर्म के साथ गलबहियां रही हैं। स्वभावतः भक्ति कविता का असली मिजाज इस गठजोड़ को प्रश्नांकित करता था और सत्ता सरोकार को निरर्थक मानता था। इसलिए भक्त कवयित्रियों और कवियों ने समय समय पर अपनी सीमाओं और सम्भावनाओं के साथ राजसत्ता, धर्मसत्ता, वर्णसत्ता, पितृसत्ता और भाषाई सत्ता का प्रतिपाठ रचा है।

प्रेमभक्ति संवेदना की मूल आत्मा है; और सामंती सत्ता उसका जन्मजात शत्रु। प्रेम सभी तरह के विभाजन को तिनके के समान उड़ा देता है। प्रेम धर्मसत्ता, राजसत्ता, वर्णसत्ता, पितृसत्ता की चूलें हिलाकर रख देता है। भक्ति परिसर में प्रेम की केंद्रीयता उसके सामंतविरोधी चरित्र का पक्का सबूत है। यह अकारण नहीं है कि सामंती व्यवस्था प्रेम को सहन नहीं कर सकती। धर्माधिकारियों के लिए तो प्रेम उनकी गले की हड्डी साबित हुई है। इस मामले में कोई भी धर्म अपवाद नहीं है। इम्बर्ट इको के उपन्यास *नेम ऑफ द रोज* का पादरी प्रेम के महात्म्य से भयानक रूप से भयभीत है, *संसार भर में प्रेम से अधिक संदिग्ध कुछ भी नहीं है। न मनुष्य, न शैतान। वजह यह कि जितनी गहराई से प्रेम आत्मा में पैठता है, और कुछ नहीं। हृदय को प्रेम जैसे भरता है, जैसे बांधता है कोई और चीज नहीं बांधती, नहीं भरती। प्रेम आत्मा को अनंत भूलभूलैया में ले जाता है इसलिए जरूरी है कि आपके पास इसे काबू में रखने के अस्त्र शस्त्र हों। ध्यान*

रहे कि ये बातें सिर्फ वासनापूर्ण प्रेम पर लागू नहीं होती। यह तो है ही शैतान की खुराफात लेकिन कितना भी डरावना लगे सच है यही कि स्त्री पुरुष का प्रेम, यहां तक कि ईश्वरीय प्रेम भी उतना ही भयावह है, जितना कि पापपूर्ण प्रेम। भक्ति कविता में प्रेम की विविध, विषद, विलक्षण और सर्जनात्मक अभिव्यक्ति इसे तत्कालीन सामंती व्यवस्था का सबसे बड़ा क्रिटीक बनाती है। और यही भक्ति कविता की सार्थकता भी है और समकालीनता भी, क्योंकि आज भी सामंती मनोवृत्ति और इस मनोजगत से संचालित राजनीति प्रेम का सबसे बड़ा पहरेदार बनी हुई है। प्रेम को 'बैकुंठ' तक की यात्रा कराने वाले सूफी प्रेमाख्यान को वह गरिमापूर्ण स्थान प्राप्त नहीं हो सका, जिसका वह अधिकारी था। इसके कई कारण थे। पहला कारण था सूफी साहित्य का फारसी लिपि में लिखा जाना। अवधी में लिखे जाने के बावजूद फारसी लिपि के कारण आरम्भिक समय में प्रेमाख्यान काव्य जनसुलभ नहीं हो पाया। जिन आरम्भिक विद्वानों ने इसका अनुवाद/सम्पादन किया उनमें से अधिसंख्य ने इसे विदेशी प्रभाव (इरान आदि मुस्लिम देश की मसनवी शैली) का आख्यान मान लिया। लोकचित्त में यह प्रेमाख्यान परदेसी ही रहा। हिंदी अकादमिक दुनिया में भी इसके साथ 'अन्य' सा व्यवहार ही हुआ।

हिंदी समाज के समक्ष प्रेमाख्यान के महत्व को रेखांकित करने वाले पहले आलोचक हैं आचार्य रामचंद्र शुक्ल। यद्यपि जार्ज ग्रिअर्सन और सुधाकर द्विवेदी इसका परिचय हिंदी समाज को करा चुके थे। मुल्ला दाउद रचित *चंदायन* (1475) से जिस सूफी प्रेमाख्यान का सिलसिला शुरू हुआ वह नासिर कृत *प्रेम दर्पण* (1917) तक चलता रहा। लगभग 600 साल की इस लम्बी यात्रा में कुतुबन, मंझन, आलम एवं जायसी सरीखे कई महत्वपूर्ण कवियों ने मध्यकालीन भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में प्रेमाख्यानों की रचना की। मलिक मुहम्मद जायसी की रचना *पद्मावत* के सही अर्थों में मध्यकालीन भारत का अभूतपूर्व सांस्कृतिक आख्यान है। *पद्मावत* मध्यकाल की एकमात्र प्रसिद्ध और लोकप्रिय रचना है जिसमें कवि ने अपने समय समाज का प्रत्यक्ष जायजा लिया है। वैसे कबीर की रचना भी 'आखिनदेखी' ही है किंतु मुक्त होने के कारण और तीव्र आलोचनात्मक होने के कारण उसमें समाज का एक ही पक्ष उद्घाटित हो पाया है। सूर और तुलसी ने प्राचीन पौराणिक कथाओं (*रामायण* और *महाभारत*) के माध्यम से काव्याभिव्यक्ति की है। उनकी रचनाओं में तदयुगीन समाज के सीधे सीधे वर्णन चित्रण का अभाव है। दूसरे शब्दों में सायास या अनायास इन भक्त कवियों ने उस समय के राजनीतिक परिदृश्य की उपेक्षा की है। एक तरह से मुगलकालीन भारत की नोटिस ही नहीं ली गई है। इसके कारणों की पड़ताल अलग शोध का विषय हो सकता है। क्योंकि उत्तर आधुनिकता का अनुपस्थिति पर ज्यादा बल है। अस्तु।

इस दृष्टि से जायसी मध्यकाल के विरल कवि हैं। वे अत्यंत आत्मचेतस और आत्मसजग कवि हैं। उन्होंने *पद्मावत* में समग्र भारतीय समाज का वर्णन किया है। इस वर्णन में भारतीय मध्यकाल का गांव भी है, शहर भी है, बाजार भी है, हिंदू भी हैं, मुसलमान भी हैं, शासकों के युद्ध भी हैं, उनके अत्याचार भी हैं, उनकी सदाशयता भी है, हिंदू समाज में प्रचलित लोककथाएं, पर्व त्याहार और धार्मिक आस्थाएं भी हैं, रामकथा भी है (उस समय तक तुलसी ने *रामचरितमानस* की रचना नहीं की थी) शिवभक्ति तो है ही। तात्पर्य यह कि *पद्मावत* सिर्फ रत्नसेन और पद्मावती की प्रेमकथा ही नहीं हैं, अलाउद्दीन खिलजी की युद्धकथा ही नहीं है बल्कि हिंदुस्तान की सांस्कृतिक कथा है। ध्यान देने की बात यह है कि यह सांस्कृतिक कथा कवि के शब्दों में जस का तस है, दर्पण के समान यथार्थ—*बरनक दरपन भांति बिसेखा*। वासुदेव शरण अग्रवाल *पद्मावत* के सम्पादकीय में लिखते हैं : *मध्यकालीन सांस्कृतिक इतिहास की*

महत्वपूर्ण सामग्री पद्मावत के अध्ययन का इतर रोचक विषय है। जिस प्रकार बाण के हर्षचरित में सातवीं शती के भारतवर्ष का समृद्ध रूप देखने को मिलता है, उसी प्रकार सोलहवीं शती की भारतीय संस्कृति का पल्लवित रूप पद्मावत में प्राप्त होता है। यह समकालीनता बोध जायसी को मध्यकाल का अन्यतम कवि सिद्ध करता है।

## राजसत्ता और सूफीभक्ति

राजसत्ता के प्रति घोर विमुखता भक्ति कविता की एक प्रमुख विशेषता है। तुलसीदास को मनसबदारी से कोई लेना देना नहीं था— *अब का होइहें मनसबदार*। कुम्भनदास सीकरी से कोई सरोकार नहीं रखना चाहते— *मो सो कहा सीकरी सौं काम*। कबीर तो राजसत्ता की ऐसी तैसी कर ही देते हैं। भक्तिकाल के किसी कवि ने दरबार में रहना स्वीकार नहीं किया। सूफी प्रेमाख्यान काव्य और उसके कवियों में राजसत्ता के प्रति यह उदासीनता नहीं है। वैसे कोई साक्ष्य अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है जिससे यह सिद्ध हो सके कि प्रेमाख्यान काव्य के कुछ कवि किसी दरबार में रहे हों। फिर भी मंझन और कुतुबन की कविता से जरूर इतना पता चलता है कि इन्हें किसी राजा या सामंत से सहायता प्राप्त होती थी। प्रेमाख्यान काव्य में सीधे सीधे राजा और राज्य की आलोचना नहीं की गई है। इसके विपरीत सभी कवियों ने अपने शाहेवक्त की वंदना ही की है। जायसी ने शेरशाह सूरी, मंझन ने सलीम शाह और कुतुबन ने हुसैन शाह की भरपूर प्रशंसा की है। ऐसी प्रशंसा कि इन राजाओं के पराक्रम से इंद्र का आसन भी डोलने लगता है। पैगम्बर की वंदना और शाहेवक्त की तारीफ मसनवी शैली की रूढ़ि थी, जिसका पालन सभी कवियों ने किया है। प्रेमाख्यान काव्य में समकालीन शासकों की तारीफ को इस रूप में लिया जा सकता है। मुख्यधारा के सूफी साहित्य में राजसत्ता और धर्मसत्ता के प्रति गठजोड़ और विरोध दोनों अपने चरम रूप में रहे हैं। सत्तातंत्र विरोध के कारण कई सूफी कवियों को सूली पर चढ़ा दिया गया। इस्लाम के बिल्कुल आरम्भिक समय में ही 922 ई. में महान सूफी संत मंसूर अल हलाज की, इस्लाम की नयी और मानवी व्याख्या करने के कारण, हत्या कर दी गई। यह सिलसिला लगातार चलता रहा। इस कड़ी में अल हमदानी (1131 ई.) तथा साहब अल याहया सुहारबर्दी अल मकतुल (1191 ई.) आदि का नाम लिया जा सकता है। दो वर्ष पूर्व ही 2016 ई. में प्रसिद्ध सूफी कव्वाल अमजद साबरी की, धर्म के वाह्य रूप की आलोचनापरक कौव्वाली गाने के कारण पाकिस्तान में धर्म के अतिवादियों द्वारा हत्या कर दी गई।

भक्ति को धर्म की बंधी बंधाई चौहद्दी से निकालने में जहां कई सूफी कवियों ने अपनी कुर्बानियां दीं, वहीं कई सूफी कवि ऐसे भी हुए जिन्होंने सत्ता से साथ गठजोड़ कर अपना 'लोक' भी सुधारा और सूफी भक्ति कविता रचकर 'परलोक' भी। सूफी कवियों और सत्तातंत्र के बीच रिश्ते के कई सोपान थे। सूफी साहित्य के विद्वान तनवीर अंजुम के अनुसार अधिसंख्य सूफी कवि अपने समय के शासकों से मधुर सम्बंध इसलिए भी रखते थे कि वे जनता का अधिक शोषण न कर सकें। इस रूप में ये सूफी संत जनता और राजा के बीच पुल का काम करते थे। कई बार ये सूफी भक्त राजा को जनता के हित में निर्णय लेने के लिए दिशा निर्देश भी देते और जनता तथा खानकाहों के लिए आर्थिक सहयोग भी प्राप्त करते।<sup>3</sup> तनवीर साहेब ने अपने इस आलेख में स्पष्ट रूप से रेखांकित किया है कि दक्षिण एशियाई देशों में कई सूफी संत शासन के ऊंचे ऊंचे पदों को सुशोभित कर रहे थे। इसमें दो राय नहीं कि राज्य के साथ इनके पारस्परिक लाभप्रद सम्बंध भी थे। बारहवीं शताब्दी के एक महत्वपूर्ण सूफी ग्रंथ *अदब अल मुरिदीन* जिसके

लेखक नजीब अलदीन अबू अल सुहारबदट्ट हैं, के अनुसार सूफियों को राज्य के किसी पद पर इस शर्त के साथ ही आसीन होना चाहिए कि वे जनता की शासन के अत्याचार से रक्षा करें और पीड़ितों की आवाज सुनें।<sup>4</sup> राज्य पर कई सूफी संतों का प्रभुत्व अत्यधिक था। कारण, कई शासक इन सूफी संतों के शिष्य भी थे। ऐसे शासक अपने गुरु को धनधान्य से पूर्ण संतुष्ट कर देते और इसके बदले सूफियों के माध्यम से राज्य की जनता में अपनी स्वीकृति और सहमति प्राप्त करते। ये शासक समय समय पर खानकाह जाते और पूरे भक्तिभाव से सजदा भी करते।<sup>5</sup> सम्राट अकबर के हृदय में अजमेर के ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती के प्रति अगाध आस्था थी। वे कई बार वहां जाते और शेख से आशीर्वाद प्राप्त करते। उन्होंने वहां के शेख सलीम चिश्ती से पुत्र प्राप्ति का आशीर्वाद मांगा, संयोगवश उन्हें पुत्र की प्राप्ति भी हुई और उसका नाम उन्होंने शेख के नाम पर सलीम रखा, जो बाद में जहांगीर के नाम से प्रसिद्ध हुए।<sup>6</sup> कुछ सूफी संत तो राजनितिक रूप से भी अत्यंत शक्तिशाली हो गये थे। वे राज और राजनीति को भी अपने हिसाब से प्रभावित करते।

इसके विपरीत कई सूफी फकीर ऐसे भी थे जिन्होंने फाकाकशी में रहना पसंद किया किंतु राज्य से किसी प्रकार की सहायता कबूल नहीं की। 1260 ई. के आसपास शेख कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी के शिष्य बाबा फरीद को सुलतान नसीरुद्दीन महमूद ने चार गांव देने की पेशकश की लेकिन घोर अभाव में रहते हुए भी उन्होंने इस प्रस्ताव को एक सिरे से खारिज कर दिया। बाबा फरीद के शिष्य हजरत निजामुद्दीन औलिया (1258-1375) की लोकप्रियता से प्रभावित होकर अलाउद्दीन खिलजी ने उनसे मिलने की ख्वाहिश जाहिर की तो उन्होंने साफ कहा कि मेरे घर में दो दरवाजे हैं। यदि सुलतान एक से प्रवेश करेंगे तो मैं दूसरे से निकल जाऊंगा।

किंतु दूसरी ओर हिंदुस्तान के दो बड़े सूफी कवियों की राजभक्ति रेखांकित करने वाली है। अमीर खुसरो हिंदी के बड़े कवि ही नहीं बल्कि ऐतिहासिक सूफी कवि भी हैं। हिंदुस्तान से इनका गहरा लगाव था। यहां की भाषा, तहजीब और फिजा के तो वे मुरीद थे। *नुह सिपेहर* के एक पूरे अध्याय में उन्होंने हिंदुस्तान के गुण गाये हैं। उन्हीं के शब्दों में : मैंने हिंदुस्तान की तारीफ दो कारणों से की है। एक, इस कारण से कि हिंदुस्तान मेरी जन्मभूमि तथा हमारा देश है। देशप्रेम बहुत बड़ा धर्म है। ...हिंदुस्तान स्वर्ग के समान है, यहां की जलवायु खुरासान से कहीं अच्छी है।<sup>7</sup> खुसरो हिंदुस्तान की ज्ञान परम्परा की दिल खोलकर तारीफ करते हुए *नुह सिपेहर* में लिखते हैं, *फिकह के अतिरिक्त हिंदुस्तान में सभी प्रकार के ज्ञान तथा दर्शनशास्त्र पाये जाते हैं। यहां का ब्राह्मण अरस्तू के समान होता है। तर्कशास्त्र, गणित, तथा पदार्थ विज्ञान में हिंदुस्तान के विद्वान बहुत बढ़े हुए हैं। किंतु अभी तक किसी ने उनसे पूर्णतया लाभ नहीं उठाया। अतः उनके विषय में अधिक जानकारी नहीं हो सकी। मैंने उन लोगों से कुछ शिक्षा ग्रहण की है, अतः मैं उन लोगों का महत्व समझता हूं।*<sup>8</sup>

अमीर खुसरो ने अपनी राजभक्ति और धनप्राप्ति की आकांक्षा को कहीं भी छिपाया नहीं। वे सात शासकों के दरबार में अच्छे पद पर रहे। *मिफताहुल फूतूह* उनकी महत्वपूर्ण तारीख की पुस्तक है, जिसमें उन्होंने जलालुद्दीन खिलजी की विजयों का वर्णन किया है। इस पुस्तक की रचना 1291 में खुसरो ने की थी। पुस्तक लिखने के जो तीन उद्देश्य वे बताते हैं, उनसे उनकी राजभक्ति, यशप्राप्ति की आकांक्षा और धनप्राप्ति की चाहत का पता चलता है—

1. मैं बादशाह की प्रशंसा करके दान का हक अदा कर सकूँ।
2. यह संसार एक दिशा में नहीं रहता। कदाचित्त यह रचना स्थायी हो सके। जिस प्रकार बादशाह का नाम जीवित रहेगा, उसी प्रकार मेरा नाम जीवित रह सके।
3. इस सेवा के कारण मुझे बादशाह से सैकड़ों सोने के खजाने प्राप्त हो सकें।<sup>9</sup>

जायसी ने *पद्मावत* में जिस अलाउद्दीन खिलजी के चित्तौड़ आक्रमण का विशद वर्णन किया है, अमीर खुसरो ने भी इसका 'आंखोंदेखा हाल' *खजायेनुल फुतूह* में लिखा है : *सोमवार मुहर्रम 703 हिजरी (25 अगस्त 1303) सुल्तान उस किले में जहां चिड़िया भी प्रविष्ट न हो सकती थी, दाखिल हो गया। उसका दास अमीर खुसरो भी उसके साथ था। राय (चित्तौड़ नरेश) सुल्तान की सेवा में क्षमायाचना के लिए उपस्थित हो गया। उसने राय को हानि न पहुंचाई किंतु उसके क्रोध द्वारा तीस हजार हिंदुओं की हत्या हो गई। जब शाही क्रोध ने समस्त मुकदमों का विनाशकर दिया तो उस भूमि से दुरंगी का अंत कर दिया।*<sup>10</sup> अमीर खुसरो ने इस पुस्तक में अलाउद्दीन खिलजी की उदारता और न्यायप्रियता का प्रशंसात्मक वर्णन किया है। अलाउद्दीन हिंदुस्तान के अधिकांश हिस्सों पर विजय प्राप्त करता चला गया। जब उसने माबर पर विजय प्राप्त करने की सोची तो इस सम्बंध में अमीर खुसरो लिखते हैं, *युग की खलीफा के तलवार ने, जो कि वास्तव में इस्लाम का ही दीपक है, हिंदुस्तान का समस्त अंधेरा दूर कर दिया। केवल माबर शेष रह गया।*<sup>11</sup>

एक दूसरे बहुत बड़े सूफी संत हैं शेख अब्दुल कुदुस गंगोही (1456, बाराबंकी)। शेख कुदुस ने फारसी के साथ साथ हिंदी में भी अच्छी कविताएं लिखी हैं। उन्होंने मुल्ला दाउद की रचना *चंदायन* को छंदबद्ध फारसी में रूपांतरित किया है। *रुश्दनामा* इनका प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमें अन्य समकालीन कवियों की हिंदी कविताएं भी हैं। इस काव्य संग्रह का हिंदी अनुवाद इतिहासकार अतहर अब्बास रिजवी ने *अलखबानी* नाम से किया है। हिंदी जगत कदाचित सूफी कवि अब्दुल कुदुस से अपरिचित है। प्रेम की महिमा पर इनकी एक कविता है—

आप गंवाए पिड़ मिलै

पिड़ खोए सब जाय

अकथ कथा लै प्रेम कै

जो कोई पूजे जाये।

होली पर भी इनकी एक कविता है—

जान अजान सभ खेलैं लोई

बिन पिय खेल न खेला होई

कुदुस राजाओं को पत्र लिखते। पत्र के माध्यम से मध्यकालीन भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप करते। *मक्तूबाते कुदुसिया* शेख अब्दुल कुदुस के पत्रों का संग्रह है। इन पत्रों से जहां एक ओर इनकी राजभक्ति का पता चलता है, वहीं इनकी धार्मिक संकीर्णता का भी। सूफी संतों के बारे में एक मिथ यह है कि ये धार्मिक रूप से काफी उदार होते हैं और सभी धर्मों का समान रूप से सम्मान करते हैं। शेख अब्दुल कुदुस जैसे सूफी संतों से यह मिथ टूट जाता है। सुल्तान सिकंदर को लिखे पत्र में वे लिखते हैं : *धर्म और राज्य का स्थायित्व सुल्तान पर निर्भर है, यदि सुल्तान न होते तो मानव प्राणी एक दूसरे को खा जाते। जिस प्रकार शरीर का स्थायित्व प्राण पर निर्भर है, उसी प्रकार संसार का जीवन सुल्तान पर अवलम्बित है।*<sup>12</sup> वे अपने पत्र में निःसहाय लोगों विशेषकर सूफियों और आलिमों पर कृपा करने की बात सुल्तान को लिखते हैं और ऐसा न करने पर अनिष्ट का भय भी राजा को दिखलाते हैं : *सुल्तान के सर पर अल्लाह की छाया है। यदि वे निःसहाय जनों, पवित्र लोगों, आलिमों और सूफियों के प्रति कृपा न दिखाएंगे और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति न करेंगे तथा उनकी ओर से असावधान रहेंगे तो संसार के कार्यों में विघ्न पड़ जायेगा। लोक तथा परलोक का कल्याण दो बातों पर निर्भर है, एक अल्लाह तआला की सचाई और निष्ठापूर्वक सेवा करने पर दूसरे अपनी पूर्ण शक्ति*



से लोकसेवा पर, विशेष रूप से मोमिनों (धर्मनिष्ठ मुसलमान) और पवित्र लोगों तथा आलिमों की सेवा पर।<sup>13</sup> इनके पत्रों में पवित्र लोगों पर विशेष जोर है। ध्यान देने की बात है कि ये 'पवित्र लोग' आम पवित्र लोग नहीं हैं। बाबर को लिखे पत्रों से यह ज्ञात होता है कि पवित्र और निःसहाय लोगों से उनका तात्पर्य सिर्फ पवित्र मुसलमानों एवं निःसहाय मुसलमानों से है। इस पत्र में वे बाबर को लिखते हैं : राज्य के पदाधिकारी पवित्र विचारों के मुसलमान होने चाहिए। इस्लाम के दीवान और राजधानी में किसी काफिर को दिवानी का कोई पद न दिया जाये। उन्हें वहां से कोई आर्थिक सहायता न मिले। वे कार्यालयों में कलम न चलाने पायें। उन्हें अमीर एवं आदिल न नियुक्त किया जाये। शरा में जिस प्रकार उन्हें अपमानित रखने का आदेश दिया गया है, उन्हें अपमानित रखा जाये। वे मालगुजारी चुकाते रहें, जजिया देते रहें और अपने (व्यापार) धन पर 'शरा' के आदेशानुसार कर अदा करते रहें। जो वस्त्र मुसलमान धारण करते हैं, उन्हें काफिर लोग न धारण करने पायें। अपने कुफ्र को छिपाये रखें। कुफ्र की प्रथाओं का पालन खुल्लमखुल्ला न करने पायें। इस्लाम के बेतुल माल (खजाना) से वेतन पायें। अपने अपने पेशों को करते रहें। मुसलमानों की जरा भी बराबरी न करें ताकि इस्लाम को पूरी रौनक प्राप्त हो जाये।<sup>14</sup>

शेख अब्दुल कुददुस की गणना असाधारण सूफी संतों में की जाती है। गुजरात तक इनके जलवे थे। रुश्दनामा में इन्होंने अपनी कविताओं के साथ अन्य हिंदी सूफी कवियों की कविताओं को स्थान दिया है। इन कवियों में शेख नूर तथा शेख अहमद हक की रचनाओं को आदरपूर्वक महत्व दिया गया है। इन हिंदी सूफी कवियों का समय 14वीं शती के उत्तरार्द्ध से लेकर 16वीं शती के पूर्वार्द्ध तक निश्चित किया जा सकता है। शेख नूर कबीर से पहले अब्दुल हक कबीर के बाद के कवि ठहरते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि इन पदों में अरबी फारसी शब्दों की नितांत कमी है। तत्सम और तद्भव शब्दों की बहुलता है। अपभ्रंश और स्थानीय भाषाओं के शब्द अधिक हैं। रुश्दनामा की हिंदी कविताओं में सबद, दोहा, चौपद, उकदा, श्लोक, रेखा तथा चौपाई का उपयोग हुआ है। वहां शेख नूर का एक दोहा उपलब्ध होता है, जो बाद में चलकर कबीर और दादू दयाल के काव्य में भी साधारण परिवर्तन के साथ मिल जाता है—

जगा गुरु जो डूबना, चेला काय तिराना

अर्थें अंधा ठोलिया दीउ कूउ पूरन।<sup>15</sup>

रुश्दनामा में शेख अब्दुल कुददुस की कविताएं हैं, जो अत्यंत सहज हिंदी में लिखी गई हैं। उनकी एक बड़ी प्यारी हिंदी कविता है—

क्यों न खेलूं तुअ संग मीता

मुझ कारण तें ईता कीता

अलखदास आखै सुन लोई

सोई बाक अरथ फुन सोई<sup>16</sup>

रुक्नुद्दीन भी धर्म के मामले में पिता के पदचिह्नों पर चल रहे थे। हुमायूं ने हिंदू मुस्लिम एकता की भावना को प्रश्रय दिया तो यह बात सूफी शेख रुक्नुद्दीन को हजम नहीं हुई। लताएफ कद्दूसी में उसने लिखा है कि सपने में मेरे पिता आये और कहा कि हुमायूं बादशाह इस्लाम को नष्ट भ्रष्ट कर रहा है। उन्होंने मुझे कहा कि तुम गुजरात जाओ और वहां सभी पीरों को हमारा संदेश सुनाओ। गुजरात में सभी सूफी संत मेरे संदेश का इंतजार कर रहे हैं। शेख रुक्नुद्दीन गुजरात गया और पिता का संदेश सुनाते हुए कहा—“कुफ्र तथा इस्लाम के बीच में हुमायूं कोई भेदभाव नहीं करता। सबको नष्ट भ्रष्ट कर रहा है। हम इस्लाम और तुम्हारी सहायता

हेतु आये हैं। यदि आप लोग स्वीकार करें तो हम मंदू (माडू) चले जायें और वहां से हुमायूँ को भगा दें और आप लोग उसे गुजरात से भगा दें ताकि इस्लाम को शांति प्राप्त हो जाये।”<sup>17</sup>

सत्ता के साथ अभूतपूर्व सम्बंध बैठते हुए धार्मिक संकीर्णता की वकालत करने वाले कोई एक या दो ही सूफी संत नहीं थे, बल्कि ऐसे सूफी संतों की एक लम्बी परम्परा रही है। सत्ता सम्बंध के मामले में चिश्ती और सुहारवर्दी में मतभिन्नता भी रही है। चिश्ती सम्प्रदाय सत्ता के साथ गठजोड़ और खानकाह में धन प्राचुर्य का विरोधी था, किंतु सुहारवर्दी सम्प्रदाय में इसे बुरा नहीं माना जाता। सैयद अतहर अब्बास रिज्जी ने *रुश्दनामा* (अलखबानी) की प्रस्तावना में लिखा है कि— *चिश्ती सूफी धन सम्पत्ति से दूर भागते, उसे सर्प के समान समझते थे। सुहारवर्दी सम्प्रदाय के शेख बहाउद्दीन का कथन है कि जिसे सांपकाटे का मंत्र आता हो, उसे सर्प का क्या भय?*<sup>18</sup> इसी सुहारवर्दी सम्प्रदाय के एक बहुत बड़े सूफी संत हुए— सैयद नरुद्दीन मुबारक गजनवी। इन्हें सुल्तान शम्सुद्दीन इल्तुतमिश ने अपने राज्य का ‘शेख इस्लाम’ (धर्मगुरु) बना दिया था। दिल्ली के मुसलमानों की इनके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। इस बात का प्रमाण यह है कि वे ‘मीर देहली’ (दिल्ली का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति या हाकिम) कहे जाते। मगर इनकी धार्मिक दृष्टि अत्यंत संकीर्ण थी। एक तरफ वे राजाओं से यह भी आशा रखते कि— *अत्याचार का अंत कर दे और पूर्ण रूप से न्याय करे।* और दूसरी तरफ वे यह भी कहते कि— *मूर्तिपूजक हिंदू खुदा और हजरत मुहम्मद के शत्रु हैं। अतः उन्हें अपमानित किया जाये। ब्राह्मणों का समूल उच्छेद कर दिया जाये। मूर्तिपूजकों को राज्य के किसी भाग में उच्च अधिकार न प्रदान किये जायें। हिंदू मुसलमानों से भयभीत रहें और आराम से सांस भी न ले सकें।*<sup>19</sup>

इस तरह के कथन भारत के मध्यकालीन इतिहास का एक पहलू हैं। इसे नजरअंदाज कर या इसे छिपाकर हम सही रास्ते पर नहीं चल सकते। हम तथ्यों को विलोपित नहीं कर सकते। हम इन तथ्यों से बहस जिरह कर ही सही दिशा निर्देश प्राप्त कर सकते हैं। रामस्वरूप चतुर्वेदी अपने इतिहास ग्रंथ *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास* में लिखते हैं— *यह सब आज अत्यंत अप्रिय लग सकता है पर इतिहास हमारे अप्रिय लगने से नहीं बनता। इतिहास को दबाने और झुठलाने से वर्तमान अधिक अप्रिय हो सकता है जो हमारे लिए ज्यादा बड़ी समस्या है।*<sup>20</sup> अगर हम इन दरारों से आंखें चुराकर आगे बढ़ेंगे तो प्रतिक्रियावादी शक्ति इसकी मनमानी व्याख्या कर इसका गलत उपयोग करेंगे, जैसे कि कर भी रहे हैं। मध्यकालीन राजनीतिक व्यवस्थाओं की सकारात्मकता, जटिलताओं और अंतर्विरोधों में धंसे बगैर वे इसकी घोर साम्प्रदायिक व्याख्या करेंगे।

तात्पर्य यह कि सभी सूफी संत अत्यंत उदार और समग्र मानव कल्याण की भावना से ओतप्रोत थे, एक मिथ है। उसी तरह का मिथ जिस तरह कहा जाता है कि रामभक्ति और कृष्णभक्ति शाखा के भक्त कवि वर्णव्यवस्था के विरोधी थे। इसमें दो राय नहीं कि अधिसंख्य सूफी भक्त विश्व मानव कल्याण की भावना से भरे होते थे और प्रेम का संदेश बांटना उनका मुख्य ध्येय था, किंतु संकीर्ण विचारों वाले सूफियों की मौजूदगी भी रही है। इन सत्तालोलुप, धनप्रेमी और संकीर्ण धार्मिक सोच वाले सूफी कवियों के सामने हिंदी प्रेमाख्यान काव्य परम्परा के कवियों की उदारता, राजा और राज्य से निर्लिप्तता (रूढ़ियों का पालन छोड़कर) इन्हें बहुत बड़ा भक्त कवि सिद्ध करती है।

## धर्मसत्ता और सूफी भक्ति

सूफी भक्त कवियों का महत्व धर्म की बंद व्याख्या से मुक्ति की छटपटाहट में है। सूफियों ने

अल्लाह के रूह को मनुष्यमात्र में लक्षित किया। असहायों, पीड़ितों, वंचितों के दिलों की धड़कनों में उस परवरदिगार की आवाज सुनी। धर्म की इस नवीन धर्मेतर व्याख्या की जितनी और जैसी निर्मम कीमत सूफियों को झेलनी पड़ी है, वह समूचे विश्व इतिहास में विरल और अनोखा है। एक सामान्य मिथ यह है कि इस्लाम में धर्म की आलोचना सम्भव नहीं है और हिंदू धर्म की विशेषता इसकी आलोचना में निहित है। सूफी भक्त कवियों की कविता इस मिथ को खंडित करती है। इस्लाम धर्म के आरम्भिक समय से ही सूफियों ने हजरत मुहम्मद के उपदेशों को शंका की दृष्टि से देखना शुरू कर दिया था। सन् 1057 के आसपास उमर खैयाम और अब्दुल आरा इसमें अग्रणी थे। अब्दुल आरा की यह कविता इसी ओर संकेत करती है—

ईश्वर को छोड़ और ईश्वर नहीं है, यह सत्य है  
 और सत्य यह भी है, मन के सिवाय कोई दूसरा नबी नहीं  
 घूम रहा आदमी का मन अंधकार में  
 खोजते हुए अपूर्व स्वर्ग को  
 स्वर्ग जो छिपा हुआ है हममें और तुममें

इस अवधारणा के विपरीत सूफी संतों और आचार्यों की एक दूसरी धारा भी रही है जो धर्म की कट्टरता की ओर संकेत करती है। सूफियों के सिरमौर साधक जुनैद बगदादी *अल रिसाला अल कुरेसिया* में लिखते हैं— *हमारा यह मजहब (सूफी मत) उसूल अथवा किताब व सुन्नत के साथ प्रतिबद्ध है।*<sup>21</sup> यहां किताब का अर्थ कुरान से है और सुन्नत का अर्थ मोहम्मद साहेब के उपदेशों से है। एक दूसरे बड़े सूफी शेख अब्दुल कादिर जिलानी *फुतूहल गैब* में लिखते हैं : *हजरत मुहम्मद के सिवाय हमारा कोई नबी नहीं कि हम उस पर अमल करें, इसलिए तुम इन दोनों की मनोदशाओं से बाहर न निकलो, वरना नष्ट हो जाओगे। तुम्हारी मनोकामनाएं और शैतान तुम्हें पथभ्रष्ट कर देंगे। शांति और आनंद किताब व सुन्नत के साथ है और विनाश सुन्नत के प्रतिकूल व्यवहार में है।*<sup>22</sup>

इस तरह के वचन सूफी साहित्य में मिलेंगे। *मकातीव व रसाइल* के पत्र संख्या 9 में प्रसिद्ध सूफी विद्वान एवं दार्शनिक शेख अब्दुल हक मुहद्दिस देहलवी लिखते हैं : *हजरत मुहम्मद सल्ला की रोशन सुन्नत की पैरवी, इबादतों और आदतों में, चरित्र व आचरण में और विश्वास व आस्था में अनिवार्य है, और यह विश्वास रखना चाहिए कि जो कुछ उनकी सुन्नत और तरीके के खिलाफ है, वह असत्य है और जिस व्यक्ति ने भी नई बात पैदा की है, जिससे रसूल की सुन्नत का विरोध होता है, या उसमें परिवर्तन होता है, भले ही यह विरोध और परिवर्तन कथन में हो, कर्म में हो या विश्वास व आस्था में हो, गुमराही है।*<sup>23</sup>

इन विचारों के बरक्स जब अमीर खुसरो गाते हैं— *मैं इश्क में काफिर हो गया हूं, मुझे मुसलमानी की जरूरत नहीं— मेरा रंग तार तार हो गया है, मुझे जुन्नार की भी जरूरत नहीं तो सूफी कविता का असली मिजाज भासित हो जाता है। मानवता, प्रेम और सौहार्द की भावना को जन जन तक विस्तारित करने में सूफी कवियों का विकल्प खोज पाना कठिन है। सूफी शायर रूमी भविष्य के बच्चों की धार्मिक जकड़बंदी से मुक्ति का आह्वान करते हुए लिखते हैं—*

*तो ही आजाद ए बच्चे, कैदों से दरारों की  
 रहोगे बंद कब तक चांदी में दीवारों की।*

रूमी की धूम पूरी दुनिया में आज भी है और उनकी कविताएं आज भी वैश्विक स्तर पर सर्वाधिक बिकने वाली पुस्तकों में शुमार हैं। रूढ़ धार्मिक क्रियाकलापों की अनिवार्यता को प्रश्नांकित करते हुए वे लिखते हैं—

नशे में बैठे हैं रिंदों जैसे मैकदे में आज  
 जहद न करेंगे और न नमाज पढ़ेंगे आज  
 धार्मिक कट्टरता के विरोधी रूमी कहते हैं कि तुम चाहे जितनी तकलीफ दे दो, दमन कर लो,  
 हम अपने ईश्वर को अपने ही तई खोजेंगे और अपने ही तई उसकी बंदगी करेंगे—  
 चाहे तोड़ दो हमारे साज आय मुल्ला  
 साज हमारे पास हजारों और भी हैं।

उमर खैयाम, अब्दुल आरा, मंसूर और रूमी आदि सूफी कवियों से लेकर प्रख्यात सूफी कवि बुल्लेशाह तक सूफियों की एक लम्बी परम्परा रही है जिन्होंने धर्म के बाह्य आडम्बर के विरुद्ध संस्थानिक धर्म की कट्टरता के प्रतिरोध में अपनी आवाजें बुलंद कीं। बुल्लेशाह दो टूक कहते हैं—

बुल्ला की जान में कौन  
 ना मैं मोमिन बिच मसीतां  
 ना मैं बिच कुफर दीयां रीतां

बुल्लेशाह धर्म के बाह्यआडम्बर की तीखी आलोचना करते हैं, फलस्वरूप उनकी नाराजगी जगजाहिर है—

इश्क तो नित नूतन है  
 आसन फूँको, लोटा फेंक के तोड़ो  
 जपमाला, प्याला, दंड मत पकड़ो  
 ऊंचे स्वर में आलिम कहता  
 सत को त्यागो, असत अपनाओ

मस्जिद में तूने उम्र गंवाई  
 अंतरात्मा मैली है तेरी  
 प्रभु से सायुज होने को कभी नमाज पढ़ी न कोई...

तेरे इश्क ने मुझे सिज्दा भुलाया  
 अब क्यों करता है तू झगड़ा  
 मौन रहा, कहता है बुल्ला  
 शांत हुई सब हाहाकार<sup>24</sup>

सूफियों ने प्रेम की दिव्यशक्ति से धर्म के बाह्यचारों को चुनौती दी। जनसामान्य के बीच सूफी संतों की अकूत लोकप्रियता उनके काव्य और प्रेम पर ही निर्भर है। सूफियों के प्रेमप्रवाह में वह शक्ति है जो उनके काव्य को अमृत बना देती है और लोग उसके आस्वादन में अपने को भूल जाते हैं। लोग उनकी बातों को ध्यान से सुनने लगे और 'गैर इस्लामी' होने पर भी उसकी प्रशंसा करते रहे।<sup>25</sup>

सूफियों के वैराग्य भाव को दर्शनशास्त्री के. दामोदरन सामंती व्यवस्था के खिलाफ विरोध की अभिव्यक्ति मानते हैं। सामंतवाद के खिलाफ विरोध, सामंती सरदारों के रहनसहन के तौर तरीकों, उनकी शाहखर्ची और एशोआराम के पीछे दीवाने रहने की उनकी आदतों के खिलाफ विरोध के रूप में प्रकट होता था। सांसारिक सुखों से विरक्ति की इच्छा इस विरोध की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति थी। इस प्रकार देहातों और शहरों के गरीबों में सामंती दमन जैसे जैसे

बढ़ा, वैसे वैसे इस दमन के प्रति किसानों का विरोध भी बढ़ा और सूफी मत का प्रभाव भी अधिक शक्तिशाली एवं व्यापक होता गया।<sup>26</sup>

सूफियों ने घोषणा की कि मुसलमान मुल्लाओं द्वारा शरिअत की जो व्याख्याएं की जा रहीं हैं, वे इस्लाम की भावना के विरुद्ध हैं। इस्लाम की व्याख्या करने वाले कट्टर मुल्ला लोग जहां कुरान और हदीस के औपचारिक पठनपाठन, हज, नमाज वगैरह पर अधिक जोर देते थे, वहां सूफियों ने आंतरिक अनुशासन और हृदय की शुद्धता पर जोर दिया। उन्होंने घोषणा की कि ईश्वर के सामीप्य के लिए मुल्लाओं ने जो आदेश जारी किये हैं और जो पाबंदियां लगायी हैं, वे सब बेकार हैं। सूफियों के मतानुसार केवल निःस्वार्थ और आध्यात्मिक रूप से पूर्ण व्यक्ति ही 'ईश्वरीय सारतत्व' प्रतिबिम्बित कर सकते थे और यह केवल प्रेम के द्वारा सम्भव था, जो अनिवार्यतः ईश्वर से उनका सामीप्य स्थापित करेगा।<sup>27</sup>

## पितृसत्ता और सूफीमत

स्त्रीपक्ष भक्ति साहित्य में भारी द्वंद का विषय रहा है। भक्त कवियों ने पूज्य स्त्री पात्रों की महिमा का बखान तो किया है किंतु सामान्य स्त्रीजाति के प्रति उनके विचार पितृसत्ता समाज से अनुकूलित आम पुरुषों जैसे ही हैं। कबीर, तुलसी, चैतन्य आदि को भी इन आरोपों से बरी नहीं किया जा सकता है। जबकि अक्क महादेवी, अंदाल गोदा, लल्दूद और मीरा आदि भक्त कवयित्रियों में स्त्री चेतना की अनुगूँज विलक्षण है। हिंदी प्रेमाख्यान काव्य में स्त्री को ही परमात्मा मान लिया गया है, यह स्त्री सम्मान का सूचक है। लेकिन इस स्त्री रूपी परमात्मा को पुरुष रूपी जीवात्मा के लिए आकुल व्याकुल ही नहीं दिखाया गया है बल्कि उस जीवात्मा के लिए सती होते हुए भी दिखलाया गया है। *पद्मावत* में 'सती महात्म्य' को स्त्रीविरोधी माना जा सकता है। यह एक ऐतिहासिक सचाई हो सकती है, किंतु उसके 'गरिमापूर्ण' वर्णन का औचित्य सिद्ध करना कठिन है।

इस संदर्भ में हिंदी प्रेमाख्यान कवियों की आम स्त्री के प्रति धारणा अच्छी नहीं थी। *पद्मावत* में स्त्री को मूर्ख कहा गया है और 'घरनी' की बात पर चलने वाले पुरुषों को बेवकूफ। नागमती जब रत्नसेन के साथ 'मिशन पद्मावती' पर जाने की आकांक्षा व्यक्त करती है तो रत्नसेन उसे बुरी तरह डांट देता है— *तुम तिरिया मति हीन तुम्हारी। मूरख सो जो मतै घरनारी॥*

*आखिरी कलाम* में भी जायसी का स्त्री के प्रति संकीर्ण भाव ही नजर आता है। यहां जायसी कहते हैं कि मेहरी के भेष में जब औरत रात को आती है तो नीचे गिराकर, पुरुष से कैसा कैसा शाष्टांग दंडवत कराती है। जायसी स्त्री को पापी आदि भी कह जाते हैं— *हे नारकी ओ पापी टेढ़ बदन आ आखि। चीन्हत उहै मुहम्मद झूठि भरि सब साखि॥*

मंझन कृत *मधुमालती* में भी स्त्री एक ओर 'मोक्ष' का तो दूसरी ओर 'भोग' का पर्याय मानी गई है। कथानायक मनोहर (जीवात्मा) राजकुमारी (परमात्मा) को प्राप्त करने के लिए जमीन आसमान के कुलावे एक कर देता है, किंतु स्त्री होती मात्र 'भोग्या' ही है— *एक तिल के सुख कारने सरबस कौन नासाऊ। तिरिया बहुरि अकरम जग अन की रति पाऊ॥* अर्थात् चंद लम्हों के सुख के लिए लोग अपना सब कुछ न्योछावर कर डालते हैं और महा अपयश का भागी बनते हैं। आगे मंझन स्त्री जाति को पाप का घर और कुल संहारक तक कह डालते हैं— *पाप केर घर तिरिया जाति, राखे जो कुल संघाती।*<sup>28</sup>

भक्तिकाल के अन्य कवियों की तरह जायसी आदि सूफी कवियों की रचनाओं में भी

नारी निंदा के स्वर खूब मिलते हैं, लेकिन यह भी सच है कि जायसी को स्त्री हृदय की अत्यंत गहरी समझ थी। किसी स्त्री के लिए इससे बड़ा दुःख नहीं हो सकता कि उसका पति किसी दूसरी स्त्री की चाह में हो। नागमती दुनिया की सबसे दुखियारी स्त्री है। नागमती के हाहाकार को जिस संवेदनशीलता और संजीदगी के साथ जायसी ने बुना है वह उनकी स्त्री के प्रति अथाह करुणा का परिचायक है। नागमती की असीम वेदना उन हजारों हजार भारतीय स्त्रियों की समवेत वेदना है जो पति की उपेक्षा का शिकार बनती हैं। पितृसत्तात्मक संरचना में अंतहीन प्रतीक्षा के अलावा कुछ कर भी नहीं सकतीं। समाज में यत्रतत्र ऐसी स्त्रियां मिल जाती हैं जो अनंत प्रतीक्षा करती वृद्धा हो जाती हैं और पूजा, व्रत, उपासना करते करते एक दिन पति प्राप्ति की अभिलाषा लिए मरखप जाती हैं। जब रत्नसेन पद्मावती को लेकर चित्तौड़ आता है और पहली बार नागमती से मिलने जाता है तो नागमती की स्थिति अत्यंत विडम्बनापूर्ण हो जाती है। पति वापस तो आ गया है लेकिन साथ में सौत भी ले आया है। वह खुश हो या दुखी। वह रत्नसेन से कहती है कि तुम मुझसे परिहास करने क्यों आये हो? तुम्हें रूपवती मिल गई तो तुम्हारा मुख बिजली के समान चमक रहा है और मेरे मुख से सावन बरस रहा है— *काह हंससि तू मोसो किए जो और सों नेह। तोहि मुख चमके बीजुरी मोहि मुख बरसै मेह॥*

जायसी ने नागमती विरह में अपनी सारी करुणा उड़ेल दी है। वैसे इस विरह में भी पितृसत्ता की पूरी गुंजाइश बनती है। पद्मावती के चित्रण में जायसी ने स्त्री के कई रूपों का वर्णन किया है। रूपों की यह विविधता जायसी की विलक्षण स्त्रीदृष्टि की परिचायक है। विजयदेव नारायण साही के शब्दों में : *एक पद्मावती वह है जिसके नखशिख का वर्णन हीरामन करता है, एक पद्मावती वह है जो बाग में प्रथम दर्शन के साथ रत्नसेन को बेहोश देखकर उसकी छाती पर लिखती है— बुद्ध एक जलवे में टें बोल गया, ऐसे कहीं पद्मावती को पाया जाता है, एक पद्मावती वह है जो सुबह मां के सामने सुकुड़ी, कुम्हलायी, सुहागिन बिटिया बनकर बैठी है और मां उसके बालों को चूमती है और न्योछावर फेरती है, एक पद्मावती वह जो राघव चेतन को कुपित होकर जाता देख व्यवहार बुद्धि से झरोखे से कंगन फेंकती है। जब राघव चेतन उसकी झलक देखकर मूर्छित हो जाता है तो हंसकर बोलती है— 'कमबख्त जिसे देखो वही मुझे देखकर मरा फिरता है' एक पद्मावती वह है जो सौत से लड़ने के लिए पहले तो चतुर कवियों की भांति श्लेश भरी गालियां देती है और फिर गरदनियां देकर गुंथ जाती है। एक पद्मावती वह है जो चंचल लड़की की तरह महल में आये हुए सुल्तान को देखने का लोभ नहीं छोड़ पाती और अपनी विपत्ति खुद बुलाती है। एक पद्मावती वह है जो गुस्से में भरकर देवपाल की कुटनी की नाक कान कटवाकर बाहर निकलवा देती है। एक और पद्मावती है जो सधी हुई गरिमा के साथ अभावग्रस्त राजमहिषी की भांति रुठे हुए गोरा बादल को मनाने जाती है। और एक आखिरी पद्मावती वह भी है जो रत्नसेन की चिता के चारों ओर भंवर देकर रत्नसेन का आलिंगन करके चिता पर लेट जाती है। जलकर राख हो जाती है, लेकिन उसके शरीर से एक मरोड़ भी नहीं पैदा होती।<sup>29</sup> पद्मावती का इतना सहज, सरल और विशेष रूप, उसके परमात्मा रूप को प्रश्नांकित ही नहीं करता बल्कि उसे मात्र एक काव्य परम्परा की परिपाटी भर सिद्ध करता है। पद्मावती के चित्तौड़ आते ही उसके परमात्मा वाले महात्म्य को जायसी तोड़फोड़ डालते हैं। उसके अनोखे और रहस्यमयी व्यक्तित्व को जायसी भरभरा कर गिरा देते हैं। यही जायसी होने की सार्थकता है और अर्थवत्ता भी, साथ ही एक बड़े कवि की पहचान भी।*

स्त्री पीड़ा की मार्मिक अभिव्यक्ति सूफी कवि अमीर खुसरो की रचनाओं में देखने को मिलती है। खुसरो की कविता *सुन बाबुल मेरे* स्त्री की असाहयता की करुण व्यंजना है—

हम तो बाबुल तेरे खेतों की चिड़िया,  
चुग्गा चुगत उड़ि जाऊं

भारतीय प्रेमाख्यान परम्परा में कोई महत्वपूर्ण कवयित्री नहीं हुई किंतु सामान्य सूफी धारा में आयशा और राबिया (714-801) का स्थान अत्यंत सम्माननीय है। राबिया अत्यंत दरिद्र परिवार से थीं और बचपन में ही उनके माता पिता गुजर गये थे। उनका सबसे बड़ा क्रांतिकारी कदम यह था कि उन्होंने शादी नहीं की। इस्लाम में शादी न करना सबसे बड़ा कुफ्र माना जाता है। राबिया में स्त्रीमुक्ति के आरम्भिक स्वर को देखा जा सकता है। वह अल्लाह को छेड़ने तक से बाज नहीं आती हैं—

क्यों अल्लाह को छेड़े न?

क्यों न उनके साथ शरारत करें?

क्यों न समझें उस आजादी को

जिस आजादी में 'वो' है और जिस आजादी में 'वो' हमें  
देखना चाहता है।

चलो ऐसे सजदा करें कि सब दीवारें गुम हो जाये

जहां मस्ती अपने आप में ऐसे ढले

कि खुदी गुम हो जाये।

राबिया की प्रश्नाकुलता, आजादी की चाहत और दीवारों को खत्म करने की आकांक्षा सम्पूर्ण सूफी साहित्य में स्त्रीप्रश्न के संदर्भ में विरल, गरिमापूर्ण और अनोखी है।

सूफी काव्य के सम्बंध में एक मिथ यह भी प्रचलित है कि सूफी संतों ने परमात्मा की परिकल्पना स्त्री रूप में की है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल आदि हिंदी आलोचकों ने इसे मसनवी शैली का प्रभाव बताया। किंतु यह आधा अधूरा सत्य है। यह तो सही है कि भारतीय प्रेमाख्यान परम्परा में मुल्ला दाउद, जायसी, मंझन और कुतुबन आदि ने परमात्मा की परिकल्पना स्त्री रूप में की है, किंतु मसनवी, सूफी प्रभाव या प्रेरणा से इन लोगों ने ऐसा नहीं किया है। क्योंकि सूफी काव्य में परमात्मा की परिकल्पना किशोर (पुरुष) रूप में की गई है। इस किशोर प्रेम को सूफी परम्परा में अमरदपरस्ती कहा गया है। किशोर रूप में परमात्मा की परिकल्पना पर सूफी साहित्य में गम्भीर विचारमंथन भी हुआ है। क्योंकि इस वजह से बहुत सारी विकृतियां सामाज और खानकाह में फैल गई थीं। सूफियों ने जिसकी परिकल्पना की अमीर उमराओं ने उसे यथार्थ का अमली जामा पहना दिया। सामंतों के हरम में सुंदर किशोर खोजे जाने लगे। ऊपर जिन सूफी संत शेख अब्दुल कुद्दुस की बात की गई है, उन्होंने भी परमात्मा की परिकल्पना किशोर रूप में की है।

इस संदर्भ में सूफियों का कहना है कि प्रेम में स्त्री पुरुष का प्रेम तो साधारण सी बात है, लेकिन 'अहं' पर विजय पाने के लिए युवा के प्रति प्रेम अधिक उपयुक्त है। इस सम्बंध में जो दलील सूफी साधक पेश करते हैं कि विकारहीन होने के कारण यह स्वार्थ पर और बुद्धि पर विजय पाने में अधिक सहायक सिद्ध होता है।<sup>30</sup>

सूफी खानकाहों में बढ़ती अमरदपरस्ती उन दिनों खासा चिंता का विषय था। सूफी विद्वान और साधक असरफ अली थानवी *शरीयत और तरीकत* नामक पुस्तक में लिखते हैं : *आजकल अमरदपरस्ती आम होती जा रही है। यह कार्य हाराम होने से आगे है, कुछ लोग ऐसे हैं जो वासानाओं से मुक्त अवश्य हैं, पर प्रायः उनमें से ऐसे हैं जो नजरबाजी के रोग से पीड़ित हैं। उन्हें मालूम होना चाहिए की जिना आंख से भी होती है और यह भी हाराम है, इसलिए निगाह की हिफाजत भी जरूरी है।*<sup>31</sup>

साहित्य की प्रत्येक धारा की अपनी सीमा और सम्भावना होती है। जरूरत किसी भी धारा का न तो अतिरिक्त महिमामंडन करने की है और न ही उसे हीन दिखाने की। प्रत्येक धारा को उसकी द्वंद्वत्मकता और उसके अंतर्विरोध के साथ देखने की कोशिश की जानी चाहिए और उसमें से मनुष्यता की खोज की जानी चाहिए। सूफी साहित्य का भंडार अत्यंत विशाल है, जिसमें सैकड़ों ऐसे सूफी कवियों का नाम लिया जा सकता है जिनकी कविताओं ने दुनिया भर में लोकप्रियता के सर्वथा नये मानदंड स्थापित किये। इन कविताओं ने विश्व मानव कल्याण को विस्तारित करने में महती भूमिका निभायी है। नफरत और हिंसा का विलक्षण प्रति रचना संसार हैं ये कविताएं। सूफी संतों की रचनाएं, उनके निर्मल विचार और उनके सत्कर्म इस मिथ को तोड़ने के लिए पर्याप्त हैं कि मुस्लिम चित्तवृत्ति आक्रमणकारी होती है और जहां भी वे गये ताकत और तलवार के जोर पर गये। इसके विपरीत सच यह है कि ये मुस्लिम सूफी कवि पूरी दुनिया में शांति, अहिंसा और भाईचारे का मधुर संदेश लेकर गये। सत्ता संस्थानों के नुकिले नख दंत के ये शिकार हुए, क्षत विक्षत हुए, इन्हें दमित करने का कोई भी प्रयास छोड़ा नहीं गया। कितने सूफी कवियों ने अपनी जान की परवाह किये बगैर समता, समानता और स्नेह का पैगाम पूरी दुनिया में फैला दिया। आज जिस तरह पूरे विश्व में धर्म के नाम पर विषवमन किया जा रहा है, ये सूफी कविताएं हमें राह दिखला सकती हैं और हमारी 'शिक्षित बौद्धिक' आंखों पर से धर्म की वाह्य पट्टियां उतारकर प्राणीमात्र को प्रेम का पाठ पढ़ने की दिशा में प्रेरित कर सकती हैं— *मानुष प्रेम भयउ बैकुंठी।*

## संदर्भ

1. सुधीश पचौरी, तीसरी परम्परा की खोज, राजकमल प्रकाशन-2019, पृष्ठ 19 (फूको के इस कथन को पचौरी जी ने ब्रुक टॉमस के लेख 'न्यू हिस्ट्रीसिज्म एंड अदर ओल्ड फेशंड टोपिक्स' से उद्धृत किया है।)
2. पुरुषोत्तम अग्रवाल, अकथ कहानी प्रेम की, राजकमल प्रकाशन-2009, पृष्ठ 362
3. तनवीर अंजुम, द सिमबायोटिक रिलेशनशिप ऑफ सूफिज्म एंड पोलिटिक्स इन द इस्लामिक साउथ एशिया, जर्नल ऑफ द रिसर्च सोसाइटी ऑफ पाकिस्तान, वॉल्यूम 53, संख्या 1, जन-जून 2016, पृष्ठ 96
4. सैयद यासीन अली निजामी, अल किताब, उर्दू तर्जुमा अदब अल मुरिदीन, लाहौर, 1997, पृष्ठ 36-37
5. तनवीर अंजुम, द सिमबायोटिक रिलेशनशिप ऑफ सूफिज्म एंड पोलिटिक्स इन द इस्लामिक साउथ एशिया, जर्नल ऑफ द रिसर्च सोसाइटी ऑफ पाकिस्तान, वॉल्यूम 53, संख्या 1, जन-जून 2016, पृष्ठ 99
6. मुहम्मद अली लतफी, दारा शिकोह, सफीनात अल आलिया, उर्दू तर्जुमा, दूसरा संस्करण, करांची, नफिस एकेडमी, 1961, पृष्ठ 241
7. अमीर खुसरो, नुह सिपेहर अनुवादक खलजीकालीन भारत, सैयद अतहर अब्बास रिजवी, इतिहास विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, 1955, पृष्ठ 178
8. उपर्युक्त
9. अमीर खुसरो, मिफताहुल फुतूह, अनुवादक खलजीकालीन भारत, सैयद अतहर अब्बास रिजवी, पृष्ठ 160
10. अमीर खुसरो, खजाइनुल फुतूह, अनुवादक खलजीकालीन भारत, सैयद अतहर अब्बास रिजवी, इतिहास विभाग, अलीगढ़, मुस्लिम यूनिवर्सिटी, 1955, पृष्ठ 160
11. उपर्युक्त, पृष्ठ 166



12. सैयद अतहर अब्बास रिजवी, मकतूबाते कद्दूसिया, अनुवाद अलखबानी, सैयद अतहर अब्बास रिजवी, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, 1971, पृष्ठ 76
13. उपर्युक्त
14. सैयद अतहर अब्बास रिजवी, मकतूबाते कद्दूसिया, अनुवाद अलखबानी, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, 1971, पृष्ठ 78-79
15. शेख अब्दुल कद्दूस गंगोही, रुश्दनामा, अनुवाद अलखबानी, सैयद अतहर अब्बास रिजवी, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, 1971, पृष्ठ 137
16. शेख अब्दुल कद्दूसी के पुत्र रुक्नुद्दीन भी बड़े नामी ख्यातनामा सूफी थे। 1576 में इनकी मृत्यु हुई। रुश्दनामा की टीका उन्होंने ही लिखी है।
17. सैयद अतहर अब्बास रिजवी, लताएफे कद्दूसिया, अनुवाद अलखबानी, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, 1971, पृष्ठ 82
18. सैयद अतहर अब्बास रिजवी, अलखबानी, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, 1971, पृष्ठ 43
19. उपर्युक्त, पृष्ठ 46
20. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, 1986, पृष्ठ 43
21. डॉ. कौसर यजदानी, सूफी दर्शन एवं साधना, जेन्यून पब्लिकेशन एंड मीडिया प्रा.लि., नई दिल्ली-1987, पृष्ठ 4
22. उपर्युक्त, पृष्ठ 4
23. उपर्युक्त
24. सुरेन्द्र सिंह कोहली, बुल्लेशाह, सुरेन्द्र सिंह कोहली, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, पृष्ठ 97
25. चंद्रबली पांडे, तसवुप्फ अथवा सूफीमत, भारत प्रकाशन मंदिर, बनारस, 1948, पृष्ठ 166-167
26. के. दामोदरन, भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ 305
27. उपर्युक्त, पृष्ठ 306
28. सं. डॉ. वकारुल हसन सिद्दीकी, (सम्पादन) मधुमालती मंज़न, सम्पादक : डॉ. वकारुल हसन सिद्दीकी, रामपुर लाइब्रेरी, रामपुर, पद 125
29. विजयदेव नारायण साही, जायसी, पृष्ठ 104-105
30. डॉ. कोसर यजदानी, सूफी दर्शन एवं साधना, जेन्यून पब्लिकेशन एंड मीडिया प्रा.लि., नई दिल्ली 1987, पृष्ठ 181
31. उपर्युक्त

## सीमारेखा

सारा राय

एकदम से वह दरवाजे से बाहर निकली। दूर से आई हुई कोई प्रवासी चिड़िया।

“अगर मैं तुम्हें न पहचानूँ तो बुरा मत मानना।” उसने आते ही कहा।

सफेद दरवाजा मैला होकर सफेद नहीं रह गया था। सफेद दरवाजा सफेद नहीं था, उसके ऊपर रंगा बड़ा सा लाल गोला था। मुन्नी ने दरवाजा बंद किया तो उसके दोनों पट आकर मिल गये। गोला तब आधा नहीं, पूरा दिखने लगा। मुझे वह याद था। चालीस साल में उसका रंग फीका नहीं पड़ा था। यह बीच वाले गोल कमरे का मुख्य दरवाजा था। कमरे के दोनों तरफ दो छोटे दरवाजे भी थे। उन पर भी लाल गोला बना था, थोड़ा छोटा। और दरवाजे के बाहर वह धूल भरा सीमेंट की फर्श वाला बरामदा, जहां बैठकर मुन्नी की मैया उसके चेहरे पर मलाई रगड़ती थीं, कि इस तरह वह गोरी हो जायेगी। मुन्नी का रंग पक्का था, बिल्कुल नहीं बदला था।

उसकी खाली खाली सी आंखें मेरे चेहरे पर आकर ठहरिं। लम्बा सफर करने के बाद अंदाजा लगा रही हों, कि कहां पहुंची हैं? उसके बराबर के पीले दांतों पर कलौंछ छा गई थी। नीचे वाली कतार में दो दांत गायब थे। एक काली सी अनुपस्थिति, जो कि दांतों के आकार की गुफा जैसी लगती थी। उसके कन्थई होंठ बीच से हल्के गुलाबी होकर, एक छोटी सी चोंच में मिल गये थे। मुझे फिर प्रवासी चिड़िया का ख्याल आया। चिड़िया का नाम फिलहाल याद नहीं आ रहा था। उसका शरीर सिकुड़कर और छोटा हो गया था, जबकि मुझे पहले से ही वह छोटी सी याद थी।

“मुझे माफ करना। मेरी याददाश्त गड़बड़ा गई है।” करीब आकर उसने अपनी बांह मेरी बांह में फंसा ली। वह मुश्किल से मेरे कंधे तक आती थी।

“मगर तुम्हें तो मैं जानती हूँ।” फिर उसने खुशी से कहा।

“मुझे बहुत पुरानी बातें याद रहती हैं, जबकि मैं कल की, पिछले घंटे की बातें भूल जाती हूँ। मेरा इलाज चल रहा है।”

मेरा ध्यान बार बार उसके गायब दांतों पर चला जाता था। पिछली बार जब हम मिले थे, तब भी उसने ठीक यही कहा था।

“माफ करना अगर मैं तुम्हें न पहचानूँ। मेरी याददाश्त गड़बड़ा गई है। मगर तुम्हें तो मैं जानती हूँ!”

वह बीस साल पहले था। अपने घर के सामने वह रिक्शे से उतर रही थी। एक पीली सी इमारत, जिसकी दीवारों पर कार्ड की काली काली झाई छा गई थी। फाटक के दोनों खम्बों पर नुकीले दांत दिखाते हुए पत्थर के शेर। इमारत की ऊंची दीवार पर, लगभग छत के ही पास गहरे, अंधे रोशनदान थे। बरसों से उनके शीशों पर दाग लगते लगते, उनका रंग बदल गया था। वे पीले पड़ गये थे। ज्यादा रोशनी अंदर नहीं जाती होगी। इस घर में कभी जूनागढ़ के राजकुमार रहा करते थे। राजकुमार पढ़ाई करने के लिये इलाहाबाद विश्वविद्यालय आये थे। इसी घर में रहकर, बी.ए. की पढ़ाई पूरी कर लेने के बाद, वे अपने प्रदेश वापस चले गये थे। मुन्नी के पिता को राजकुमार ने घर की देखरेख करने के लिये नियुक्त किया था। राजकुमार के जाने के बाद उन्होंने घर का कब्जा नहीं छोड़ा, मगर उसकी सफाई सुथराई में ढीले पड़ गये। इस लापरवाही का नतीजा उन दिनों ही दिखता था। अब घर कुछ और ज्यादा ढह गया था।

“माफ करना अगर मैं तुम्हें न पहचानूँ। मेरी याददाश्त गड़बड़ा गई है। मगर तुम्हें तो मैं जानती हूँ!” रिक्शे से उतरकर उसने कहा था।

कुछ नहीं बदला था। छत की खपरैलें बस थोड़ी और खिसककर टूट गई थीं। घर तक जाते हुए कंकरीले रास्ते के किनारे अब भी वह ठिगने से खम्बे मौजूद थे, जिनका मसरफ कभी समझ में नहीं आया। उसी रास्ते पर हम टहला करते, एक खम्बे से दूसरे खम्बे तक, आगे पीछे आगे पीछे, मखमली कार्ड से ढकी चहारदीवारी के बगल में। वे खम्बे, करीब दो फुट ऊंचे और उनके सिर पर बिल्कुल गोल, फुटबालनुमा पत्थर, आधी शताब्दी गुजरने के बाद भी वैसे ही थे। अपनी निश्चलता के सदा रुके हुए पल में जैसे एकाएक अभिशप्त। बरसों तक असर करता हुआ शाप, जिसने उन्हें पत्थर की बूढ़ी जादूगरनियों में बदल दिया था, अनचक्के में अपने ही उलटे जादू की कोसी हुई। सड़ते अमरूदों की नशीली गंध चारों तरफ फैलकर हमारी नाक में बस जाती। पेड़ों के नीचे पीले पके अमरूद बिछे रहते, जिनके ऊपर चमकदार हरे रंग की मक्खियां और भुनगे छोटे छोटे विमानों की तरह भुनभुनाते। टहल टहल कर हम स्कूल की बातें करते। मुन्नी मेरे साथ एक ही स्कूल में, एक कक्षा में पढ़ती थी, हमारे घर भी अगलबगल थे। उसका स्कूल का नाम संगीता था, मगर वह मुन्नी ही कहलाती थी। वह छोटी सी थी भी। हम इलाहाबाद के एक मिशनरी स्कूल में पढ़ते थे, जहां के अधिकतर क्लास जर्मनी या केरल से आई, सफेद चोगा पहने, कोई न कोई कैथोलिक ‘नन’ लेती थीं। मेरे भाई और अशोक हमारे स्कूल के ‘ब्रदर’ स्कूल में पढ़ते थे। अशोक मुन्नी का भाई था। ‘नन’ अध्यापिकाओं को हम उनके दर्जे के हिसाब से, ‘सिस्टर’ या ‘मदर’ कहते। उनके किस्से सुनाकर मुन्नी इतना हंसती, कि हंसी की वजह से समझ में नहीं आता कि वह क्या कह रही है।

उसने उनके रहने वाले कमरे के बाहर, अलगनी पर टंगा एक बहुत बड़े साइज का अंदर पहनने वाला ब्रासियर देखा था। उसने ‘ब्रा’ के बारे में बताया, तो ब्रा के अंदर छुपे हुए अंगों का हमें ध्यान आ गया, कि एक ‘नन’ के शरीर में भी यह अंग होते हैं। पता नहीं क्यों इस बात से

हम आश्चर्यचकित हो गये। मगर हंसी भी बहुत आई। उन दिनों हमें हर चीज पर हंसी आती थी। मुन्नी हंसती तो उसकी गोल बटन जैसी नाक सिकुड़कर ऊपर चढ़ जाती। आंखें चमकने लगतीं। काले रंग के रिबन से बंधी उसकी कंधे तक आती दो पतली पतली चोटियां हिल हिलकर उसकी हंसी का समर्थन करतीं। स्कूल में 'पी.टी.' की क्लास खतम होने पर, अपने सफेद कैनवस के जूते पहने, हम देर तक मौलश्री के पेड़ों के नीचे, खामोशी से एक दूसरे के पैर पर चढ़कर उन्हें दबाने का खेल खेलते। सफेद जूते मिट्टी के रंग के हो जाते। स्कूल में सब मौलश्री को 'चोकी प्लम' कहते थे।

मुन्नी के घर के बाहर वही मामूली सी सड़क अब भी थी। सड़क ज्यादा चलने लगी थी। भारतीय स्टेट बैंक की एक शाखा सड़क के उस पार खुल गई थी। मोटर और स्कूटर की तादाद बढ़ गई थी, रिक्शों की घट गई थी। मैंने देखा कि फाटक के दाहिने तरफ जहां बैडमिंटन कोर्ट हुआ करता था, अब हरी घास की पट्टी थी। तब, जब बैडमिंटन कोर्ट था, बैडमिंटन खेलने की इतनी हड़बड़ी रहा करती, कि कभी कभी स्कूल का ड्रेस बदले बगैर ही मैं खेलने पहुंच जाती। रैकेट से मारने पर बैडमिंटन की सफेद पंखों से बनी चिड़िया हवा में तैरती हुई कोर्ट के दूसरी तरफ जाकर गिर जाती। जब वह हवा में रहती तो मुझे लगता कि वह कोर्ट के दूसरी तरफ नहीं, पंख फैलाकर उड़ती हुई कहीं दूर चली जायेगी। मुन्नी के घर के ठीक सामने, सड़क के उस पार आस्था अस्पताल भी खुल गया था। सुबह से अस्पताल के सामने मरीजों की लाइन लग जाती। कभी सफेद चादर ओढ़े हुए लोग स्ट्रेचर पर लेटे बाहर खड़ी एम्बुलेंस के अंदर किये जाते, या अंदर से बाहर निकाले जाते। लगता कि बस जरा सी दूर खड़ी, मौत मुन्नी के घर पर आंख गड़ाये हुए है।

जब इसी सड़क पर हम साइकिल चलाते हुए स्कूल जाया करते थे, तब यहां पेड़ों से ढका पुरुषोत्तम का बंगला होता था। उसके खुले फाटक से गाय अंदर घुसकर बगीचा चबा जाती। बूढ़े पुरुषोत्तम लंगड़ाते हुए बाहर निकलकर गाय को हंकाते। बंगला बंजर और वीरान लगता था। सड़क सुनसान रहा करती। आगे चलकर सड़क के एक तरफ कैथे के पेड़ आ जाते। स्कूल से लौटते समय हम साइकिल से उतर, ढेला चलाकर सफेद पक्के कैथे गिराने की कोशिश करते। स्कूल जाते हुए, घर के सामने मेरे तीनों भाई साइकिल धीमी करके चिल्लाते— "अशोक! अशोक!" कि अशोक भी साइकिल लेकर निकलेगा कि नहीं। अशोक कभी निकल आता, कभी नहीं। जब निकल आता तो उन चारों की साइकिलें पूरी सड़क छेक लेतीं। हवा उनकी आसमानी रंग की स्कूली कमीज के अंदर घुस जाती और वे गुब्बारे की तरह फूल जातीं। उनके बाल हवा में पीछे को बहने लगते।

मुन्नी के तबाही की ओर फिसलते हुए घर के बड़े से हाते का पिछवाड़ा हमारे घर के सामने के बगीचे और अंदर की सड़क से मिल जाता था। हमारे घर का हाता भी बड़ा था। अंग्रेजों के बनाये उस जमाने के सभी इलाहाबाद के बंगलों के साथ ढेर सारी जमीन रहा करती थी। दोनों घरों के बीच दीवार नहीं थी। सिर्फ करौंदे की कंटीली झाड़ियों की लम्बी सी कतार निशानी थी कि एक हाता कहां खतम होता है और दूसरा कहां शुरू। बराबर आवाजाही की वजह से झाड़ियों के बीच से एक हरी सुरंग जैसी बन गई थी। पेट के बल रेंगकर, कांटों से छिलती हुई, मैं झाड़ियों की दूसरी तरफ, उसके घर के हाते में निकल आती। वह मेरे घर कम आती थी। वे लोग अग्रवाल थे। उनकी रसोई में लहसुन प्याज का इस्तेमाल नहीं होता था। उसके पिता को शायद डर रहा हो कि हमारे घर आकर वह मांस मछली न खाने लगे। हो सकता है वे उसे आने से रोकते हों, जबकि ऐसा किसी ने कभी कहा नहीं। मुन्नी अपने पिता को बाबूजी कहती थी, मगर जब हम आपस में उनकी बात करते, तो वह उन्हें 'डैड' कहती। पता नहीं वह गुस्सैल थे या नहीं, मगर शकल से गुस्सैल दिखते थे।

उसके घर का पिछवाड़ा होने की वजह से, पहले से ही नष्ट हाते की देखरेख बिल्कुल ही

नहीं होती थी। झाड़ियों में से पेट के बल निकलते ही, मैं रेड़ के उलझे हुए जंगल के बीच होती। रेड़ के दरख्त ऊंचे नहीं थे, मगर घने थे। सांझ के वक्त रेड़ के जंगल में खरगोश, सियार और एक बार लोमड़ी दिखी थी। वहीं पर आम के एक धूल से लदे पेड़ पर से मैंने बिज्जू को उतरते देखा था, बस एक झलक भर। उसकी दुम झाऊ के पेड़ की डंगाल की तरह थी। दुम के रोएं खड़े हुए थे। रेड़ के बड़े बड़े पत्ते हाथ से झलने वाले पंखों की तरह लगते थे। हवा चलती तो उनमें से कराहने और फुसफुसाने की आवाजें आतीं। हवा अपने हाथों से पंखा झल रही है, मैं सोचती। अकसर लोग रेड़ का पत्ता मांगने आते थे। कई रोगों के इलाज में वे काम देते थे।

पीछे से होती हुई मैं घर के सामने पहुंची, तो मुन्नी बाहर नहीं थी। उसके पिता कटी बांह की सफेद बन्थान और ढीली मोरी का पयजामा पहने अपनी मोटरसाइकिल का मुआइना कर रहे थे। बन्थान एकदम सफेद होने के कारण, उनका सांवला रंग और भी सांवला लग रहा था। मैं उसके पिता से घबराती थी। एक बार मैंने सोचा कि लौट जाऊं, मगर उन्होंने मुझे देख लिया था। उनके हाथ और सीने पर घने बाल थे। एक हाथ में वह स्टेनलेस स्टील का कड़ा पहनते थे। चेहरा धूप से तमतमाया हुआ था। गर्मी के दिन थे।

“नमस्ते! मुन्नी है?”

वे कम बोलते थे। उन्होंने पहले सिर नीचे किया, फिर ऊपर, कि वह अंदर है।

गोल कमरा ठंडा था, और अंधेरा। उसमें चौड़े हल्ये वाले बड़े बड़े सोफे रखे थे जिनके हल्के रंग की वजह से वे अंधेरे में दिख रहे थे। आगे बढ़ी तो देखा कि सोफे पर उनके दो एल्मेशियन कुत्ते, टाइगर और लिली, गहरी नींद में सो रहे थे। लिली ने मेरी आहट पाकर दुम हल्की सी हिलायी। टाइगर सोता रहा। गोल कमरे के बाद मैया की पूजा वाली कोठरी थी। ताक पर सुनहरी किनारी वाला लाल कपड़ा बिछा था। उस पर बहुत सारे भगवान सजे थे। श्रीरामचरितमानस और दो तीन अन्य मोटी मोटी धार्मिक पुस्तकें नीचे एक छोटी मेज पर रखी थीं। मैया इनमें से रोज डेढ़ दो घंटे का पाठ करती थीं। भगवान की मूर्तियों की झाड़ुपोंछ मुन्नी करती थी। सिर्फ एक बार मैंने उसको मैया के साथ पूजा करते देखा था। वह चौपल्थी मार के बैठी थी। उसने फ्रॉक फैलाकर घुटनों को ढक लिया था। धूपबत्ती का धुंआ छोटे से कमरे में भर गया था। धूपबत्ती की महक तो थी ही, मगर पूरे घर में बासी दूध की सड़ती हुई गंध भी थी। उसके बाद भगवान की मूर्ति देखकर हमेशा मेरी नाक में सड़ते हुए दूध की महक आती।

अंदर आकर सब तरफ देख लिया मगर मुन्नी नहीं दिखी। मैया पूजाघर के पीछे वाले कमरे में बैठी पुराने चिथड़ों से कुछ सी रही थीं। कोई खिलौना। शायद कपड़े के खरगोश का कान हो, या गिलहरी।

“क्या सी रही हैं, मैया?” मैं भी उन्हें मैया कहने लगी थी। वह मुझे बेटी की तरह मानती थीं। दीपावली की रात जब वह काजल पारती थीं, तो मेरे लिये एक डिबिया जरूर अलग रखतीं। उनका गोरा, पतला सा चेहरा खून की कमी से सफेद हो रहा था।

“पैराशूट!” उन्होंने जल्दी से मेरी तरफ देखते हुए कहा। वह पैराशूट की तरह नहीं लग रहा था।

मुन्नी घर के एकदम पीछे वाले बरामदे में सीमेंट की मुंडेर पर चुपचाप बैठी रेड़ के जंगल को देख रही थी। मैं थोड़ी देर पहले वहां से गुजरी थी मगर मुझे वह नहीं दिखी थी। इसका कारण था कि रास्ते में एक बड़ा सा नीम का पेड़ था। पेड़ को अमरबेल ने जकड़ लिया था और उससे लटकती बेल की लम्बी लम्बी रस्सियों के आरपार कुछ नहीं दिखता था। उसके बगल में चार पांच फुट ऊंची छोटी सी दीवार में नल लगा हुआ था। नल हमेशा सूखा रहता था। उसे खोल दो तो उसमें से सूं सूं की आवाज आती, निकलता कुछ नहीं था। अमरबेल की रस्सियों

पर हम झूला करते। मुन्नी झूलने के मूड में नहीं लग रही थी।

“मैं बीमार हूँ। शरीर का सारा खून बहा जा रहा है।” मुझे देखकर उसने मरते हुए से अंदाज में कहा। उसका चेहरा उतरा हुआ था। मैंने उसका माथा छू के देखा। लगा हल्की सी हारारत है। मगर कोई खास नहीं थी।

“कहां है खून?” मैंने पूछा। उसे लगा मैंने उसकी बात पर विश्वास नहीं किया। उसने अपने शरीर को मुंडेर पर रगड़ते हुए बायीं तरफ थोड़ा घसीटा। सचमुच मुंडेर की सीमेंट पर गहरे कथई रंग का निशान बन गया।

“यह कैसे हुआ? चोट है? दिखाओ कहां है?” मैंने कहा।

वह मुंडेर पर पीछे खिसककर अधलेटी सी हो गई। उसने अपनी फ्रॉक ऊपर करके मुझे दिखाया। फ्रॉक के नीचे वह नीले रंग की जाँघिया पहने थी। जाँघिया पर फूल बने थे। वह सफेद नाड़े से बंधी थी। फूलों के बीच खून का धब्बा भी फूलों में मिल गया था। धब्बा किसी और जाति के फूल की तरह लग रहा था।

“मैया खून को रोकने के लिये नैपकिन सी रही हैं। कहती हैं अब यह हर महीने होगा।” उसने हताशा से कहा।

“नैपकिन! कह रही थीं पैराशूट है।”

उसने तिरस्कार भरी नजर मेरे ऊपर डाली, जैसे कि मैं कितनी बेवकूफ हूँ।

“सब लड़कियों को होता है। तुम्हें छू दूं, तो तुम्हें भी हो जायेगा।”

“मुझे मत छूना।” मैंने थोड़ा पीछे हटते हुए कहा।

“नहीं छू रही हूँ।”

“टाइगर! टाइगर!” अशोक आ गया था। उसने जोर से सीटी बजायी। टाइगर उसे सुनकर दौड़ा हुआ आता था। मगर टाइगर नहीं आया। टाइगर अशोक का दुलारा कुत्ता था। वह जंगल में गेंद फेंकता और टाइगर उसे मुंह में दबाकर वापिस ले आता। लिली से उसको उतना प्रेम नहीं था। लिली बूढ़ी हो गई थी। अशोक के टाइगर प्रेम और उसके टाइगर को सीटी बजाकर बुलाने की आदत के कारण मुन्नी अशोक को टियु कहने लगी थी। उसकी सीटी टियु टियु करके बजती थी। अब सभी उसे टियु कहते थे। अजीब सा नाम था, पर चिपक गया।

“टियु, वह अंदर गोल कमरे में सो रहा है। अभी आते में मैंने उसे देखा था।” मैंने कहा। अशोक बिल्डिंग के बगल से होता हुआ फिर घर के आगे की तरफ चला गया।

मुन्नी की अस्थिर आंखें मुझ तक लौट आईं।

“एक बात कहूँ, किसी से कहोगी तो नहीं?”

“मैं किससे कहूँगी?”

“मैया से।”

“नहीं। नहीं कहूँगी।”

“मैं पूजाघर में गई थी। मैंने भगवानजी की मूर्तियों को भी छुआ था।” उसने जरा देर रुककर कहा।

“तो क्या हुआ?”

“मैया ने कहा है मैं पूजाघर में गई तो अनर्थ हो जायेगा। मैं रसोई में भी नहीं जा सकती।”

“क्यों?”

“क्योंकि जब तक खून बहेगा, मैं रसोई या पूजाघर में नहीं जा सकती।”

“मगर क्यों?” मुझे यह सब शर्मनाक लग रहा था। क्या सचमुच मेरे साथ भी ऐसा हो

सकता है? उसे कोई बीमारी हो गई होगी। मुझे नहीं हो सकती। मुन्नी मेरे सवाल का जवाब नहीं दे पा रही थी।

“मैं जा रही हूँ मैया से पूछने।”

“नहीं, नहीं! तुमने वादा किया था। कभी मत कहना मैया से। मेरे पूजाघर में जाने वाली बात से उन्हें दुःख होगा। वह डैड से कह देंगी। डैड पता नहीं क्या करें।” मुन्नी अपने पिता से डरती थी।

वह परेशान लगने लगी। वह सोच रही थी कि मैं मैया से कह दूंगी। मैंने मैया से नहीं कहा। मैया धर्म को लेकर कट्टर थीं। मिशनरी स्कूल के छोटे से गिरजाघर में हम विद्यार्थियों को कभी कभी ले जाया जाता था। वहां नीची सी बेंचों पर घुटने टेककर हम क्लास में रटायी गई प्रार्थना बुदबुदाते थे। उसके बाद उंगलियों से छूकर, माथे और सीने पर क्रॉस बनाते हुए ‘आमीन’ कहते थे। गिरजाघर के बाहर दीवार में बने पात्र से ‘होली वाटर’ माथे पर लगाते थे। यह सब का रोमांच था। मैया को पता चला था तो उन्होंने इसको लेकर बहुत शोर मचाया। उन्हें लगा था उनकी बेटी ईसाई हो जायेगी। उन्होंने पिता को स्कूल भेज दिया था। हम फिर भी गिरजाघर जाते रहे। गिरजा पत्थर का बना हुआ और पुराना था। अंदर ठंडक रहती थी। कांटों का मुकुट पहने ईसू मसीह की प्रतिमा ऊपर, दूर पर टंगी थी। गिरजे के अंदर जाना अच्छा लगता था।

जब हम दसवीं कक्षा में पहुंचे, तो मुन्नी और मैं अलग अलग क्लास में बैठने लगे। वह हाईस्कूल वाले भाग में चली गई और मैं सीनियर केम्ब्रिज वाले में। पढ़ाई बढ़ जाने के कारण मेरा उसके घर जाना भी कम हो गया। सीनियर केम्ब्रिज कर लेने के बाद, आगे पढ़ने के लिये मैं दिल्ली चली गई, वह इलाहाबाद में रह गई। छुट्टियों में इलाहाबाद आती तो उसकी खबर मिलती थी, कि वह लोकल अखबार में पत्रकार हो गई है, कि वह उसी मिशनरी स्कूल में पढ़ाने लगी है, जिसमें हम पढ़ा करते थे, कि उसने अपना अखबार चलाना शुरू कर दिया है। कितने साल यूं ही निकल गये। फिर पता चला कि वह बीमार है, कामकाज सब छूट गया है। तभी से शायद उसकी याददाश्त वाली बीमारी शुरू हुई होगी। मगर मैं उसके घर नहीं गई। मेरा वहां जाना बरसों से बंद हो गया था। हमारे घरों के बीच करौंदे की कांटों वाली झाड़ी कट गई थी। उसके और मेरे घर के बीच की सीमारेखा कहां है, यह साफ नहीं था, इसलिये वहां दीवार नहीं बनी थी। उसकी जगह, जहां सम्भवतः सीमारेखा होगी, वहां मेहंदी के पेड़ों की कतार लगा दी गई थी। मेहंदी में काटे नहीं होते। रेड़ का जंगल साफकर दिया गया था, यहां से वहां तक सब खुला था और नुककड़ पर पुराने चिलबिल की छाया में खड़ी बिंदादीन की गुमटी दिखने लगी थी। मगर उसके घर जाने का रास्ता अब ज्यादा कठिन लगता था। वहां जाने का ख्याल भी नहीं आता। फिर पता चला कि उसकी शादी एकदम से हो गई है। वह कहीं दूर चली गई है। शायद करनाल। या फिर करनाटक। ऐसा ही कोई नाम, बड़की ने कहा, जो उनके यहां भी काम करती थी।

बरसों तक मैंने उसे नहीं देखा। मेरी दुनिया बदल गई थी। उसकी भी। मेरी दुनिया के नक्शे से उसका नाम हट गया था। इलाहाबाद से दिल्ली और दिल्ली से विदेशी शहरों की सैर करने में आधी से ज्यादा जिंदगी निकल गई। मैं बूढ़ी हो चली थी। वह भी मेरी ही उम्र की थी। मैं उसके बारे में बिल्कुल नहीं सोचती थी। वह अभी जीवित थी, क्योंकि उसके मरने की खबर नहीं आई थी। अभी मरने की उम्र न तो उसकी थी, न मेरी। अगर ऐसी खबर आई होती तो मैं उसके बारे में जरूर सोचती। मगर जल्दी ही उससे मिलना हुआ। अशोक की मृत्यु के बारे में बड़की ने बताया। टाइगर को सीटी बजाकर बुलाता हुआ टियु मुझे याद आया। मगर टाइगर और लिली तो कबके मर चुके थे। उनकी जगह सड़क के कुत्तों की फौज ने ले ली थी,

जिनको टियु रोटी खिलाता था। उसे कुत्ते पसंद थे। उसके परचाये हुए कुत्ते हमारे घर भी आकर रात भर नोच खसोट करते, शोर मचाते। अग्रवाल परिवार जिंदगी भर हमारे पड़ोस वाले घर में बना रहा। खुशी या गमी के मौके छोड़, वहां से शायद ही कोई हमारे घर कभी आया। मेरे घर से भी कोई वहां नहीं जाता था। मगर खबर पूरी रहती थी। बड़की ने अशोक की मृत्यु के बारे में नहीं बताया होता तो भी मुझे पता चल जाता। कोई मर गया है, इसका अंदाजा मुझे हुआ था। रात को ग्यारह बजे रने की आवाज मुझे अपने कमरे में जरा देर को सुनायी दी थी। फिर सन्नाटा। हमारे घरों के बीच रेड़ का जंगल नहीं था, मगर सन्नाटे में मुझे लगा कि जंगल कराह रहा है। हवा चल रही थी।

तीसरे दिन होने वाले शांतिपाठ के पहले ही मैं वहां चली गई। पत्थर के शेरों की पहरेदारी वाले सामने के फाटक से एक दो बार ही मैं वहां गई थी। फाटक पर मुन्नी के स्वर्गीय पिता और दोनों भाइयों का नाम लिखा था। मुन्नी का नाम नहीं लिखा था। मुन्नी को मैंने पूछा तो पता चला कि वह है। बल्कि यह, कि वह रोज चौक से आ जाती है। चौक में उसके पति का घर है। तो वह शहर छोड़कर गई ही नहीं?

“तुम्हें तो मैं जानती हूं!” उसने आते ही कहा, “मगर तुम रहती कहां हो?”

“वहीं हूं जहां थी, तुम्हारे बगल में। मगर तुम कहां हो? मैंने तो सुना था तुम कहीं बाहर हो?”

“नहीं, मैं चौक में रहती हूं। मेरे पति वहां हैं। मेरी शादी हो गई है। इस इलाके में हम घर ढूंढ रहे हैं।”

“मगर यह घर तो खाली पड़ा है?” उसने मेरे प्रश्न का जवाब नहीं दिया।

“मेरे पति मेरी देखभाल करते हैं। मेरी शादी एकदम से हो गई थी।” उसने कहा।

“सुना तो था। मगर कब हुई?”

“मुझे कुछ याद नहीं। मैं अस्पताल में थी। फिर मेरी शादी हो गई। मैं मनाकर रही थी मगर वह मान नहीं रहे थे।”

“कौन नहीं मान रहे थे?”

“अशोक भैया और मेरे पति।” वह टियु को अशोक भैया कब से कहने लगी थी?

“तुम्हारी शादी अस्पताल में हो गई?”

“मुझे कुछ याद नहीं। किसी ने साड़ी का घूंघट मेरे मुंह पर डाल दिया था। कुछ दिख नहीं रहा था। अंदर गर्मी थी। तो मैंने सिर निकालकर ऊपर देखा। अशोक भैया हाथ में सबसे बड़ा वाला कैडबरी चॉकलेट लिये खड़े थे। उसने चॉकलेट मेरे हाथ में पकड़ा दी। तब मैं हंसी। अशोक भैया ही तो थे जो सबको हंसाते थे।”

“हां, हमें बहुत हंसी आती थी। शाम को तुम चौक चली जाओगी?”

“नहीं। शांतिपाठ के बाद जाऊंगी। तुम शांतिपाठ में आना।”

“जरूर आऊंगी।”

“चलो मैया से तुम्हें मिलाती हूं। वह खुश हो जाएंगी।”

मैया अभी थीं! वे बहुत बूढ़ी हो गई होंगी। जब हम ही बूढ़े हो गये थे।

उसने फिर अपनी बांह मेरी बांह में फंसा ली थी। वह गोल कमरे के मुख्य दरवाजे से मुझे अंदर ले गई। वह बड़े बड़े सोफे अब भी मौजूद थे, मगर उनके ऊपर का कपड़ा बदलकर कलथई धारियों वाला कपड़ा मढ़ दिया गया था। और वह कमरे के बीच में नहीं, एक तरफ रख दिये गये थे। कुछ परिवार के लोग वहां बैठे आपस में बातकर रहे थे। एक औरत, जो शायद मुन्नी की भाभी थी, किसी दूसरी औरत से धीमी आवाज में बात कर रही थी। मुझे देखकर वह चुप हो गई। सब



खड़े हो गये। कमरे में अंधेरा अंधेरा था। टाइगर और लिली सोफे पर नहीं सो रहे थे।

मुन्नी कमरे की गोलाई पार करती हुई मुझे अंदर के एक और कमरे तक ले गई। फिर, एकदम से उसने मेरा हाथ पकड़ के मुझे रोक दिया। मैंने उसकी तरफ देखा। अंधेरे में उसका चेहरा साफ नहीं दिख रहा था। उसने फुसफुसाकर कहा— “मैया से मत कहना!”

उस दिन को पचास साल बीत चुके थे। पचास साल जैसे पल भर में निकल गये थे। मगर वह दिन नहीं बीता था। वह मौजूद था अभी, उसके और मेरे दरमियान समूचा, अपनी एक एक तफसील लिये ठहरा हुआ, अध्वंस्य। पचास साल उसको नष्ट नहीं कर पाये थे। और वह, जिसको कुछ याद नहीं रहता था, उसे वह दिन याद था।

मैया ने मुझे नहीं पहचाना। उनकी आंखें धंस गई थीं, गाल की हड्डियां उभर आई थीं। मोटी रजाई के नीचे वह दुबकी पड़ी थीं। जाड़ा था।

“मैया, अनीता आई है।” उसने कहा।

“ऐनी! बगल वाले घर से?”

उनकी आंखों के गढ़ों में एकदम से पानी भर आया। उनके होंठ कांपने लगे। अशोक उनका पहला बच्चा था। उसे देखकर उनके चेहरे पर मुस्कान आ जाती। उसके लिये वह रसोई में जाकर उसकी पसंद की चीजें बनाती थीं। पहली बार किसी बच्चे के शरीर की गर्मी उन्होंने अपने शरीर पर महसूस की होगी। उन्होंने रजाई से एक हाथ बाहर निकालकर मेरा हाथ पकड़ लिया। उनके हाथ का मांस लगभग गायब हो चुका था। मुझे लगा मेरे हाथ में लम्बी कुजियों का ठंडा गुच्छा आ गया है।

“वह पैराशूट नहीं था।” थोड़ी देर खामोश रहने के बाद उन्होंने एकाएक मेरी तरफ देखकर कहा।

“मुझे मालूम है कि वह पैराशूट नहीं था।” मैंने कहा।

“चलो अब बाहर चलते हैं। तुमने उन्हें देख लिया।” मुन्नी मेरा हाथ घसीट रही थी। शायद उसका डर लौट आया था कि मैं मैया से बता दूंगी। कि उसने भगवान की मूर्तियों को छुआ था। जब वह ‘अपवित्र’ थी। लगभग आधी सदी बीत गई थी मगर वह अभी तक ‘अपवित्र’ और ‘पवित्र’ के जंजाल में फंसी हुई थी। एक बार वह कीड़ा दिमाग में घुस जाये, तो क्या वह सदा वहां रेंगता रहता है?

बाहर धूप में निकलकर अच्छा लगा। फाटक के पास, घास की पट्टी के बगल की क्यारियों में रंगबिरंगे मौसमी फूल खिले हुए थे।

“अब तुम कहाँ रहती हो?” शायद वह समझी नहीं थी कि मैं अभी उसी घर में थी, उसके बगल में।

“हम फिर कैसे मिलेंगे? अपना मोबाइल नम्बर दे देना।” उसने बिना मेरे जवाब का इंतजार किये हुए कहा।

“हां, दे दूंगी।” मैंने कहा, “तुम्हें मैसेज कर दूंगी।”

उसने नहीं पूछा कि मैं उसे किस नम्बर पर मैसेज करूंगी।

“अपना मोबाइल नम्बर दे देना।” उसने दोबारा कहा।

“हां, मैं मैसेज कर दूंगी।” मैंने फिर कहा। मैं शेर वाले फाटक से बाहर निकलकर घर वापस आ गई।

अशोक के शांतिपाठ में मैं नहीं गई।

# सलीम साहब, काश आप हमारे संपादक होते

प्रियदर्शन

“नमस्कार, आप सलीम भाई बोल रहे हैं?”

एक मिनट की चुप्पी रही, फिर बड़ी हिचकती सी आवाज आई, “जी कौन?”

“आप गीदड़भभकी का मतलब जानते हैं?”

“जी...मतलब?” आवाज में कुछ परेशानी और घबराहट सी चली आई थी।

“जी, मैं बस इतना जानना चाह रहा था कि आपको गीदड़भभकी का मतलब मालूम है न?”

“मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि आप कहना क्या चाहते हैं?”

“भाई मेरे, गीदड़भभकी का मतलब क्या होता है?”

“जी किसी को झूठमूठ का धमकाना।”

मुझे सलीम भाई की इस भाषिक समझ पर हैरानी हुई। जो गीदड़भभकी का मतलब समझते हैं, वे भी ठीक से नहीं समझा पाते कि इसका सही अर्थ क्या है। यह आदमी तो तेज निकला। लेकिन क्या यह वही आदमी है?

“सलीम साहब, आप करते क्या हैं?” मैंने इस बार कुछ बेतकल्लुफी से पूछा।

इस बार सलीम भाई की आवाज में रूखापन था, “अरे भाई साहब, आप बताओ तो ये चक्कर क्या है? न जान न पहचान, बस गीदड़भभकी गीदड़भभकी बोले जा रहे हो। मैंने तो किसी को नहीं दी धमकी?”

“अरे आपने नहीं दी, आपको किसी ने तो दी होगी?” मुझे अब इस चर्चा में आनंद आने लगा था।

“देखो भाई साहब, मैं फोन काट रहा हूँ। आप रेडियो वाले हो क्या, जो फोन करके लोगों को तंग करते हो? मेरे पास फालतू टाइम नहीं है।”

“अरे सलीम भाई, आप हमें नहीं जानते, मगर हम आपको जानते हैं। आपका नंबर मिलना हमारे लिए कितनी बड़ी राहत है, ये आपको नहीं पता।”

सलीम को समझ में नहीं आया कि वह क्या कहे।

“सलीम भाई, आप यह बताइए कि आप तो अप्रतिम घोष के ड्राइवर हैं न?”

“जी तो? आपको काम क्या है, मैं फोन काट रहा हूँ।”

वाकई सलीम भाई ने फोन काट दिया। लेकिन हमारा काम इतने भर से हो चुका था। मैं अप्रतिम घोष की ओर मुड़ा, “सलीम भाई को गीदड़भभकी शब्द का मतलब मालूम है।”

“ठीक है, तब आप ये वर्ड यूज कर सकते हैं।” अप्रतिम घोष ने हंसते हुए कहा।

मैंने अपनी डेस्क में हंसते हुए कहा, “हां लिख लो, पाकिस्तान की एक और गीदड़भभकी।”

थोड़ी देर में हमारे टीवी चैनल ‘फास्ट न्यूज़’ पर यह पट्टी चल पड़ी थी।

मैंने राहत की सांस ली। शिवना और मनजीत ने फंसा दिया था। दोनों अड़ गई थीं कि गीदड़भभकी शब्द कोई नहीं समझता है, टीवी पर नहीं जाना चाहिए। मैं इन अंग्रेजीदां लड़कियों पर बरस पड़ा था, “तुम दोनों नहीं जानती हो तो पूरा हिंदुस्तान नहीं जानता है?”

लेकिन मुझे जानकर निराशा हुई थी। अप्रतिम घोष को भी गीदड़भभकी का अर्थ नहीं मालूम था।

ऐसे में रास्ता अप्रतिम घोष ने ही सुझाया था, सलीम से पूछ लेते हैं।

सलीम उनका ड्राइवर था। अप्रतिम घोष मानते थे कि टीवी चैनल पर हमें ऐसी हिंदी लिखनी चाहिए जो बिल्कुल आम आदमी समझ सके। आम आदमी, यानी उनका ड्राइवर, उनका माली, उनके घर काम करने वाले दूसरे लोग। यही पैमाना उनके लिए खबरों के चुनाव का भी था। बहुत गंभीर कुछ भी नहीं जाएगा, जो भी जाएगा, चटपटी शक्ल में जाएगा।

अप्रतिम घोष हमारे ‘फास्ट न्यूज़’ के संपादक थे। बहुत तेज, पढ़े लिखे, लेकिन हिंदी में हाथ इस कदर तंग था कि उनको भूख प्यास लगती नहीं, लगता था, और पढ़ने की शौक हो जाया करती थी।

लेकिन हमें उनकी बात माननी थी। उन्होंने सलीम का नंबर दिया था। पूरे दफ्तर में लोग चुप थे या नाक भौं सिकोड़ रहे थे। अकेला मैं था जो मुस्करा रहा था।

मुझे मालूम था, उन्होंने नंबर नहीं, आने वाले दिनों में किसी भी शब्द को चला लेने की एक चाबी दे दी है।

तो मैंने तय किया कि उस ड्राइवर से दोस्ती ‘करेंगे’।

**सलीम** को मैं पहचानता था। वह अक्सर अप्रतिम को उसका बैग या टिफिन डब्बा पहुंचाने आया करता था। तो ऑफिस की पार्किंग में उसे खोज निकालना मुश्किल नहीं हुआ। वह पार्किंग में फुरसत में खड़े अन्य ड्राइवरों के साथ गपशप में लगा था। कुछ देर बाद वह शायद चाय लेने या पानी पीने के लिए किनारे हुआ। मैंने पुकारा, “सलीम भाई।”

सलीम भाई ने हैरानी से मेरी ओर देखा। वे मुझे चेहरे से पहचानते थे। मैंने कहा, “मैं अविनाश।” उन्होंने अदब से सिर हिलाया, जैसे बता रहे हों कि वे मुझे जानते हैं।

“सलीम भाई, कल मैंने ही आपको फोन किया था।” सलीम भाई के चेहरे पर एक

असमंजस उभरा, “अरे वह गीदड़भभकी वाला।”

कुछ हिचककर उसने पूछा, “क्यों सर? मैंने तो किसी को धमकी नहीं दी।”

“अरे, आप नहीं जानते, आपकी क्या हैसियत है। आप हमारे ऑफिस के सुपर एडिटर हैं।”

वह भौंचक देखता रहा। मैंने उसे समझाया, “देखिए, आपके जो साहब हैं, अप्रतिम, वे मानते हैं कि टीवी की भाषा वही हो जो आपको समझ में आती हो। उस दिन सब कह रहे थे कि आपको गीदड़भभकी शब्द नहीं आता। लेकिन मैंने कहा कि जरूर आता होगा। और आपने साबित किया कि आप पढ़े लिखे हैं।”

सलीम मुस्कराया। वह इतना सयाना तो था ही कि ऐसी तारीफ में फंसने की जो गुंजाइश होती है, उसका वह खयाल रखे। लेकिन मेरी गपशप का सिलसिला जारी रहा। मैंने उसके परिवार के बारे में पूछा, उसके दो बच्चे सरकारी स्कूलों में पढ़ते हैं, बीवी पहले दूसरे घरों में काम करती थी, जब से वह साहब, यानी अप्रतिम, का झाड़वर लगा है तब से उसने छोड़ दिया है। साहब कभी कभी गुस्सा जाते हैं, लेकिन दिल के बादशाह हैं। कोई कमी नहीं होने देते। इस साल बेटों का ऐडमिशन प्राइवेट स्कूल में करा देंगे। मैंने सलीम का कंधा धपथपाया, “सलीम साहब, आप अच्छे आदमी हैं तो दुनिया आपके साथ अच्छे से रहेगी। लोग कहें न कहें, लेकिन वे सामने वाले को समझते हैं। इतना ही पर्याप्त होना चाहिए। पर्याप्त समझते हैं न आप?” उसने सिर हिलाया। लेकिन मैंने फिर भी साफ किया, “मतलब काफी”। सलीम साहब पहली बार खुले, “सर, मैं दसवीं पास हूँ, लेकिन अखबार खूब पढ़ता हूँ। जानता हूँ परयाप्त।”

अगली सुबह शिवना और मनजीत स्क्रीन देखकर फिर आपस में कुछ फुसफुसा रही थीं। अप्रतिम से उन्होंने हिचकते हुए कहा, “ये हेडलाइन समझ में आएगी?” अप्रतिम ने सर घुमाकर देखा—“भारत के पास पर्याप्त हथियार नहीं”। वह समझ गया, “ये पर्याप्त शब्द हटा देना चाहिए। इसको तो सलीम समझेगा ही नहीं।”

मैं हंसने लगा। मैंने कहा, जब आपने कसौटी बना दी है तो फोन कर लीजिए। अप्रतिम ने फिर सलीम को फोन किया। फोन पर बात करने के बाद वह हैरान हक्काबक्का मुड़ा, सलीम को तो पर्याप्त मालूम है। मैंने कहा, तब शब्द पास हो गया।

लेकिन इतना भर पर्याप्त नहीं था। मुझे इस अंग्रेजीदां टीम को नाकों चने चबवाने थे। तो फिर एक दिन सलीम से मिला। बातों बातों में भारत पाकिस्तान क्रिकेट मैच का जिक्र आया। मैंने कहा, “भारतीय टीम पाकिस्तान को नाकों चने चबवा देगी। आप समझते हैं न, नाकों चने चबाना?” सलीम हंसने लगा। अब तक वह भी जैसे इस खेल को समझने लगा था, “सर आप फंसवा देंगे मुझे। साहब को मालूम हो गया तो मेरी तो छुट्टी समझिए। वैसे मैं नाकों चने चबाना समझता हूँ।”

तो अगली शाम शान से यह मुहावरा भी हमारे चैनल की स्क्रीन पर दमक रहा था। लेकिन सलीम साहब को जो एहसास था, वह मुझे भी था। अप्रतिम तेज है, सलीम और मेरी गपशप के बारे में जान जाएगा तो परेशान होगा भी और करेगा भी। तो मैंने तय किया कि सलीम को ज्यादा नहीं फंसाना है। बेशक, कुछ कम प्रचलित, लेकिन जरूरी शब्द उसे बता देने हैं।

सलीम से धीरे धीरे मेरी पटने लगी थी। हालांकि अब हम शब्दकोश का खेल बंदकर चुके थे।

धीरे धीरे मैं उससे दूरी भी बरतने की कोशिश में था। क्योंकि हाल के दिनों में जैसे ही मैं दफ्तर से पांच मिनट की राहत के लिए निकलता, नीचे सलीम चिपक लेता। अब वह अपनी भाषिक समझ से ज्यादा अपने राजनीतिक ज्ञान का प्रदर्शन करने लगा था, “देख लेना साहब, मोदी इस बार भी जीतेगा। आप लोग रोक नहीं पाएंगे।” मुझे यह बात भी दिलचस्प लगती थी कि एक मुसलमान होते हुए भी नरेंद्र मोदी से उसकी चिढ़ वैसी नहीं थी जैसी हम बहुत सारे लोगों के भीतर थी। शायद वह इस बात को हमसे ज्यादा ठोस ढंग से समझता था कि बीजेपी हो या कांग्रेस, उसको बस झाड़वरी करनी है, तंग से मकान में रहना है, किसी तरह राशन जुटाना है और अपने आप को जेल अस्पताल और कचहरी से बचाए रखना है। वह शायद अपने उन दोस्तों के मुकाबले ज्यादा खुशनसीब था जिनकी अलग अलग वजहों से नौकरियां चली गई थीं। उसकी एक ही फिक्र थी, वह अप्रतिम घोष का झाड़वर बना रहे।

“बहुत पावर वाले आदमी हैं साहब। कार में उनके पास इतने फोन आते हैं बड़े बड़े लोगों के। नेता भी फोन करते हैं उनको।” सलीम ने किसी राज की तरह यह बात मुझसे साझा की थी, हालांकि मुझे हंसता देख सकुचा गया था, “आपको भी तो सब लोग फोन करते होंगे।”

“अरे नहीं, सलीम साहब, मैं ऐसा बड़ा पत्रकार नहीं हूँ। अप्रतिम मेरे भी बॉस हैं।” मैंने हंसते हुए ही कहा था, “मैं तो बस आपको ही जान लूँ, बहुत है।”

और धीरे धीरे सलीम को मैं जानने लगा था। वह गया से आया था। उसके पास फल्गू नदी की बहुत सी कहानियां थीं। उसने बताया जो मुझे मालूम था कि फल्गू में पानी नहीं होता, लेकिन जहां मुट्टी से खोदिए वही मिल जाता है। लेकिन मुझे जो नहीं मालूम था, वह भी उसे मालूम था। उसने बताया कि फल्गू नदी को सीता मैया का शाप लगा है। उसने विस्तार में बताया कि किस तरह सीता ने दशरथ का पिंडदान किया था और वट वृक्ष, तुलसी, फल्गू नदी आदि आदि को गवाह बनाया था। लेकिन राम के सामने नदी पलट गई और नाराज सीता मैया ने कहा कि तू बिना पानी की नदी रहेगी।

सलीम ‘सीता मैया’ कहता है, यह बात भी मेरे लिए कम हैरानी की नहीं थी। मैंने लगभग गुस्ताख की तरह टोक भी दिया, “अरे आप मुसलमान हैं कि हिंदू सलीम साहब। इतना तो मैं भी नहीं जानता। और सीता मैया कहना तो बड़ी बात है।”

सलीम कुछ सकुचा गया। फिर धीरे से बोला, “पक्का नमाजी हूँ सर। लेकिन कहानियां तो सारी सुन रखी हैं। हमारे पड़ोस में पंडीजी थे जो सब बच्चों को सुनाते थे मैं भी सुनता था। बड़ा मजा आता था। वो सीता मैया ही बोलते थे। बताते थे कि उनको भी सीता मैया का शाप है। गया के पंडित का पेट कभी नहीं भरेगा।”

“गया छोड़ क्यों आए?”

इस सवाल पर जैसे चुप्पी की एक फल्गू उसके भीतर बहने लगी। यह चुप्पी भी जैसे एक सूखी नदी थी। क्या मैं अपनी हथेली से पानी निकालने की कोशिश कर रहा हूँ?

मगर पानी बाहर आ रहा था। धीरे धीरे, “छोड़ना पड़ा। अब्बू को। मैं तो बस उनके साथ था।”

सलीम ने बताया, यह 1991 का साल था। वे सब डरे हुए थे। चाचू ने अब्बू को सलाह दी, गया छोड़ो, दिल्ली चले आओ। तब सलीम बस 8 साल का था।

अब्बू को भी दिल्ली लुभाती थी। गया के ठहरे हुए गंधाते माहौल से दूर यहां बच्चों की परवरिश भी बेहतर होगी, ये मानकर वे सबको समेटे चले आए थे। यहां आकर पाया कि जामियानगर की जिस तंग गली में उनका छोटा भाई रहता है, वहां एक पूरा परिवार क्या, एक

अतिरिक्त आदमी भी नहीं अट सकता। लेकिन दिल्ली धीरे धीरे सबको अटा लेती है। सलीम का परिवार भी अट ही गया। दिल्ली के सरकारी स्कूलों में जो आधी अधूरी पढ़ाई लिखाई हुई, उसी के साथ जिंदगी चल पड़ी। अब तो झाड़वरी करते करीब 10 साल होने जा रहे हैं।

अक्सर ऐसी कहानियां मुझे कुछ चुप कर देती हैं। हलक में कुछ फंसने लगता है। लगता है जिस महानगर के बहुत सारे आनंद हम बड़ी आसानी से ले ले रहे हैं, वह कुछ लोगों के सीने पर रोज किसी चट्टान की तरह गुजरता है। उसी में उनकी उम्र कट जाती है। मुझे खयाल आया कि जिस पार्किंग में सलीम रोज कई घंटे अपने साहब का इंतजार करता है, उससे महज 50 मीटर दूर खड़ी विशाल इमारत से उसकी वास्तविक दूरी पूरी एक उम्र की है। वह इस दफ्तर में अप्रतिम के झाड़वरी की तरह ही दाखिल हो सकता है, हमारी तरह अधिकारपूर्वक नहीं।

तो इस चुप्पी से उबरने के लिए मैंने बात पलटी, “बहुत दिन हो गए अप्रतिम को कोई नया शब्द सिखाए सलीम साहब। क्या ज्ञान दिया जाए?”

वह हंसने लगा था, “जो आप बताइए साहब, बोल दूंगा।”

“विडंबना आप समझते हैं?”

सलीम कुछ हिचक गया, “अखबारों में देखा तो है सर, लेकिन बता नहीं पाऊंगा।”

मुझे खयाल आया, यह तो हमारी डेस्क पर काम करने वालों के लिए भी भारी शब्द है। खुद मैं यह शब्द टीवी पर चलाने से पहले सोचूंगा। यह भी खयाल आया कि सलीम साहब को इस शब्द का अर्थ समझाऊं कैसे।

मैंने कोशिश की, “सलीम साहब, समझिए कि जो दिखाई पड़ता है और जो होता है, उसके बीच के फासले को विडंबना कहते हैं।” मुझे नहीं लगा कि उनको ज्यादा कुछ समझ में आया है। मैंने फिर समझाया, “मान लीजिए, आप बहुत उदास हैं, बिल्कुल रोने का मन कर रहा है, लेकिन हालात ऐसे हैं कि आप हंसने का दिखावा कर सकते हैं। यह विडंबना है। मान लीजिए, आपकी कंपनी लाखों का मुनाफा कमाती है, लेकिन आपके हाथ कुछ नहीं आता, यह विडंबना है।”

सलीम साहब ने अब सिर हिलाया, “समझ गया सर।”

तो अगली सुबह ‘फास्ट न्यूज’ की स्क्रीन पर विडंबना दिखाई पड़ रही थी। शिवना और मनजीत ने बिल्कुल बगावत कर दी थी। अप्रतिम भी हैरान थे। उन्होंने मुझे टोकने की हिम्मत नहीं की। कुछ देर किसी से बात करते रहे; मैं समझ गया, वे सलीम साहब से ज्ञान ले रहे हैं। कुछ देर बाद उन्होंने फोन काट दिया।

कुछ देर बाद वे टहलते हुए मेरे पास आए, “अविनाश, मेरा झाड़वरी सलीम कुछ ज्यादा ही पढ़ा लिखा है। विडंबना तो हमको ऐसे बताया जैसे प्रोफेसर लोग नहीं बता सकता है।”

“अच्छा?” मैं हंसने लगा। मैंने बात दूसरी तरफ मोड़ने की कोशिश की, “असल में, कई बार मुझे लगता है कि हम लोग गरीब और कमजोर लोगों के आईक्यू लेवल को बहुत कम मानकर चलते हैं लेकिन उनमें से कई लोग समझदार और पढ़े लिखे भी होते हैं। आखिर पहले भी टीवी अखबार फिल्में जनता के बीच लोकप्रिय रही हैं, जबकि उनकी भाषा आसान नहीं होती थी। मुगले आजम कितनी टफ उर्दू में थी लेकिन कितनी पसंद की गई?”

“हो सकता है, आपका बात ठीक हो, लेकिन अभी हम इस बहस के मूड में नहीं हैं। हमको कुछ और लग रहा है।”

मैं चौकन्ना हो गया, “क्या लग रहा है?”

“यही कि आप उसके नए टीचर है। मैंने कई बार आप दोनों को साथ देखा है।”

मुझे सकपका जाना चाहिए था, लेकिन मैं सकपकाया नहीं। मुझे मालूम था, वह अंधेरे में तीर छोड़ रहा है। मैंने कहा, “अरे, मुझे इतनी फुरसत होती तो यहीं लोगों को सुधार न देता। बाहर आपके ड्राइवर को सुधारकर क्या मिलना है।”

अप्रतिम भी हंसे और उनके साथ बाकी सब भी। लेकिन मैंने तय किया कि अब सलीम के साथ इस तरह खुलकर मिलना उसको खतरे में डालना होगा।

लेकिन सलीम साहब खतरे में पड़ चुके थे। दो चार बार की गपशप में अप्रतिम ने जान लिया था कि मैंने उनसे बातचीत की है। वह रंजीदा था।

तो मैंने सलीम साहब से मिलना छोड़ दिया। मुझे अंदाजा था कि अप्रतिम किसी कार्रवाई से पहले सीधे सबूत की तलाश में होगा। उसके लिए यह मामला टीवी चैनल पर कुछ कड़ी हिंदी चलाने भर का नहीं रह गया था, उसे यह अपने आदेश की मुखालफत भी लग रहा था। इसका प्रतिशोध उसने दूसरे ढंग से लिया, चैनल पर ऐसे अंग्रेजी शब्द चलवाए, जो मुझे बिल्कुल मंजूर न होते। एक बार मैंने ‘चॉपर’ शब्द का इस्तेमाल देखा, टोका तो अप्रतिम ने ठंडे ढंग से कहा, “अविनाश जी, लोग चॉपर समझते हैं।” मैं समझ गया, मुझे समझ जाना चाहिए।

धीरे धीरे हालात सामान्य होने लगे थे। अप्रतिम संतुष्ट था कि चैनल पर कोई कड़ा हिंदी शब्द नहीं जा रहा है। शिवना मनजीत मुझे रोज देखतीं और सोचतीं कि अविनाश इन दिनों कोई ऐसा शब्द क्यों नहीं चला रहा है। मेरी भी दिलचस्पी ऐसे प्रयोग में कम हो गई थी जो चैनल का संपादक है, वह तय करेगा, क्या लिखा जाएगा, क्या नहीं। मैं कौन होता हूँ तय करने वाला।

लेकिन एक आदमी था जिसकी दिलचस्पी बनी हुई थी।

दो तीन महीने बाद अचानक एक दिन सलीम का फोन आया। मैं हैरान हुआ, “क्या सलीम साहब। कैसे याद किया?” उसने अपने जाने पहचाने अंदाज में कहा, “आप भूल गए तो मुझे याद करना पड़ा साहब।” मैं हंसा, “अरे आपके भले के लिए भूला था सलीम साहब।”

“अरे नहीं साहब, मिलना है एक बार। अभी।”

मैं कुछ हैरान हुआ। काम छोड़कर नीचे उतरा। सलीम बेताबी से मेरी राह देख रहा था। मुझे देख लगभग दौड़ते हुए पास आया, “देखिए साहब, मैंने क्या किया है।” उसने अपना मोबाइल दिखाया, “देखिए, मैंने शूट किया है। जलती हुई कार।” उसने बताया कि इन दिनों वह टीवी देखने लगा है और देखता है कि ऐसे फोटो खूब चलते हैं। वाकई यह धू धू जलती कार हमारे ‘खबरें फटाफट’ का हिस्सा हो सकती है। मैंने उससे यह क्लिप ली, उसको धन्यवाद दिया और फिर इसका इस्तेमाल भी कर लिया।

लेकिन सलीम अब ड्राइवर से ज्यादा पत्रकार हुआ जा रहा था। दो चार बार उसने गाड़ियों के हादसों की तस्वीरें भेजीं और मैंने उनका मन रखने के लिए लगा लीं। अप्रतिम भी उसके इस बदलाव को लक्ष्य कर रहा था। ड्राइवरी वह अब भी करता था, लेकिन अब वह अप्रतिम से पहले के मुकाबले ज्यादा बात करने लगा था। उसका ध्यान अब सड़क से ज्यादा दूसरी चीजों पर रहने लगा था। अप्रतिम ने उसे टोक भी दिया था, “सलीम, लगता है तुम्हारी अविनाश से कुछ ज्यादा दोस्ती हो गई है।”

सलीम इतना भर सयाना निकला कि उसने कभी कभार बातचीत की बात तो मानी, बाकी गोल कर गया। लेकिन पत्रकारिता का उसका नशा बढ़ता जा रहा था और आलोचक

नजर भी तीखी होती जा रही थी। पहले अप्रतिम की साहबी से वह संतुष्ट रहता, अब चैनल से असंतुष्ट रहने लगा था। उसका कहना था, ये टीवी वाले बहुत गलतसलत दिखाते हैं। गरीब आदमी की बात नहीं दिखाते हैं। भूत प्रेत दिखाएंगे और बोलेंगे, सब यही देखते हैं। अरे भाई, कोई गंभीर चीज समझाओ तो हम सीखें और हमारे बच्चे सीखें। लेकिन यहां तो सब तमाशा करते हैं।

खुद वह इस तमाशे में ज्यादा दखल देने लगा था। पहले वह मोदी की तारीफ करता था, लेकिन नोटबंदी के समय से वह सरकार से बुरी तरह झल्लाया हुआ था। लेकिन देखकर हैरान था कि उसके बॉस का चैनल नोटबंदी की तारीफ में जुटा हुआ है। उसने मुझसे शिकायत की। एक वीडियो भी बना लिया जिसमें लोग सरकार को गाली दे रहे थे। लेकिन मुझे अंदाजा था कि यह वीडियो हमारे चैनल की नीति के अनुरूप नहीं होगा। सरकार का नहीं, यह प्रधानमंत्री का फैसला है और हमारा चैनल ऐसे फैसले की आलोचना नहीं कर सकता। सलीम ने दो एक बार मुझसे पूछा कि क्या उसका वीडियो चलेगा, मैंने टाल दिया।

लेकिन सलीम का उत्साह कम होने की जगह बढ़ता जा रहा था। उसे धीरे धीरे यह भरोसा हो चला था कि उसके साहब की दुनिया बहुत नकली है और उनको असली लोगों की दिक्कतों का पता नहीं है। एक दिन वह कबाड़ी वालों से बात कर आया। एक दिन एक रैनबसेरे तक पहुंच गया। वह कुछ नहीं करता था, बस लोगों से बात करता था। बात करते करते कई मार्मिक कहानियां निकल आतीं। भूख की कहानियां, सर्द रातों में ठिठुरती देहों की कहानियां, पुलिस की पिटाई की कहानियां और रोज रोज तरह तरह से ठोकर मारे जाने की कहानियां।

उसके घिसे हुए से मोबाइल की स्क्रीन पर ये कहानियां देख अक्सर मुझे ख्याल आता कि सच्ची पत्रकारिता कितनी आसान है। रंग झूठ पर पोतना पड़ता है, कलाई नकली दावों पर चढ़ानी पड़ती है, सच तो बिना भाषा के प्रगट हो जाता है। वह दिखता रहता है, लेकिन हम देखने को तैयार नहीं होते।

मैं भी सलीम की लाई हुई ये सच्चाइयां देखने को तैयार नहीं था। वे 'डाउन मार्केट' कहानियां हमारे काम की नहीं थीं। कुछ कहानियां तो इतनी तीखी थीं कि देखने वाले की भूख प्यास कुछ देर के लिए मर जाए। हम ऐसी कहानियां नहीं चला सकते थे। हमें कुछ चटपटा चाहिए था, जो हमारे फटाफट वाले कंसेप्ट में समा जाए। या फिर जो बड़ा गॉसिप बन सके।

धीरे धीरे सलीम मुझसे भी रंजीदा रहने लगा। एक बार शिकायत भी की, "सर, आपको तो सही आदमी समझता था। लेकिन आप भी डर डर के काम करते हो।" उसने ताना मारा, "पत्रकार ऐसा होता है क्या?"

मगर बेचारे सलीम की हैसियत ऐसी नहीं थी कि उसका ताना मुझ पर असर करता। मैंने पलटकर पूछा, "फिर कैसा होता है?"

"सर, आप जानते नहीं हो कि लोग क्या देखना चाहते हैं। आप बस उनको अफीम चटाते रहते हो; बस अफीम। मेरा तो मन करता है कि मैं अपना टीवी फोड़ दूं।"

मैं हंसने लगा, "वही, जो अप्रतिम ने दिलाया है?"

वह भी हंसने लगा, "हां, सच में। मेरा तो कोई नुकसान भी नहीं होगा।"

लेकिन वह अपना नुकसान कराने को तैयार था। अप्रतिम की शिकायत उससे बढ़ती जा रही थी और उसकी अप्रतिम से। एकाध बार उसने अप्रतिम को भी कुछ समझाने की कोशिश की। डांट खाकर रह गया। पहले वह खुशी खुशी अप्रतिम का काम कर देता था, लेकिन



धीरे धीरे उससे बचने लगा। एक बार उसने मुझे कहा, “सर, ड्राइवर हूँ उनका, लेकिन नौकर नहीं हूँ। टीवी पर तो नोटबंदी की तारीफ करते रहे और मुझे रोज अपने पैसे बदलवाने के लिए लाइन में लगाए रखा। आगे से मना कर दूंगा।”

उसने मुझे बताया नहीं, लेकिन किसी दिन जरूर कुछ ऐसा हो गया था। उस दिन अप्रतिम बहुत उखड़े हुए ढंग से ऊपर आया। उसने टीवी पर जो कुछ चल रहा था, उसे वाहियात बताते हुए लगभग मुझे डांटना शुरू कर दिया, “आप इतने सीनियर आदमी हैं। ठीक से देख नहीं सकते कि क्या चलना चाहिए, क्या नहीं। खाली हिंदी हिंदी करते रहते हैं। और कुछ समझ में नहीं आता है आपको?”

मैं हैरान था। इस आदमी को क्या हो गया है। जैसा चाहता है, वैसी खबरें हम चलाते हैं। ज्योतिष, जादू टोना, स्वर्ग की राह सब इसी के कहने पर बनाते और बताते हैं। यह हम भूल चुके हैं कि असल पत्रकारिता होती क्या है। सरकार के पीछे पीछे चलते रहते हैं। मेरा मन हुआ, मैं इस्तीफा दे दूँ। लेकिन मेरी हिम्मत नहीं पड़ी।

लेकिन उस वक्त काम करने का भी मन नहीं था। मैंने सहयोगियों से कहा कि कुछ देर टहलकर आता हूँ। सबने सहानुभूति में सिर हिलाया।

नीचे उतरा तो मुझे सलीम मिला। उत्साह से भरा।

मेरा उससे बात करने का बिल्कुल मन नहीं था। लेकिन उसे इसकी परवाह नहीं थी। वह बता रहा था, “पता है, मैंने क्या किया? आज तो साहब को सबसे सामने बेइज्जत कर दिया।”

मेरा मुंह खुला का खुला रह गया, “आपने अप्रतिम को बेइज्जत कर दिया?”

“हां साहब, आज रास्ते भर मुझे डांटता आ रहा था कि तुम्हारा मन गाड़ी चलाने में नहीं लग रहा है। तुम हीरो बनने चले हो। रिपोर्टर बनने चले हो। उसने कहा, छुट्टी कर दूंगा।”

“फिर?” मैं अपनी तकलीफ जैसे एक लम्हे के लिए भूल गया।

“अरे साहब, जब यहां उतरा तो मैंने उसको डांटना शुरू किया। सारे ड्राइवर जमा हो गए। गार्ड भी सब। सब मुझे रोक रहे थे। लेकिन मैं बोले जा रहा था। मैंने कहा, “मैं जैसी गाड़ी चलाता हूँ, तू वैसा चैनल नहीं चलाता। तू तो पूरे देश से धोखा करता है, गरीब आदमी से धोखा करता है। सबसे सच बोलने का दावा करता है, झूठ पर झूठ बोलता रहता है। और हम लोगों को अनपढ़ बताता है।” मैंने कहा, “तू मुझे क्या निकालेगा। मैं खुद निकल जाता हूँ। तो साहब मैंने नौकरी छोड़ दी।”

मैं एक ड्राइवर की इस हिम्मत पर अवाक था, “अब आगे क्या करेंगे सलीम साहब?” मैंने पूछा।

“जो भी करूंगा साहब, लेकिन ऐसे आदमी की गुलामी नहीं करूंगा। टैक्सी चला लूंगा, किसी और की ड्राइवरी कर लूंगा। लेकिन साहब, रिपोर्टिंग तो करता रहूंगा। देखिए, मैंने पैसा बचाकर नया मोबाइल भी ले लिया है।”

“लेकिन रिपोर्टर बनना इतना आसान नहीं है सलीम साहब।” मैं कुछ हैरान भी था और उसके लिए मायूस भी।

“मुझे मालूम है साहब, कोई इस अनपढ़ को रिपोर्टर नहीं बनाएगा। लेकिन कोशिश तो करूंगा। यह मलाल तो नहीं रहेगा कि कोशिश नहीं की। एक गुलाम आदमी की गुलामी नहीं करूंगा।”

मैं समझ गया, उसका इशारा अप्रतिम की ओर था। मैं फीकी हंसी हंसा।  
“सर, आप भी छोड़ दो। आप समझदार आदमी हो। क्यों ऐसे फालतू चैनल में काम करते हो।”

मैं चुप रहा। फिर मैंने धीरे से कहा, “आप तो ड्राइवरी कर लेंगे कहीं भी सलीम साहब, मैं क्या करूंगा।”

“अरे आपको भी कुछ न कुछ काम मिल जाएगा साहब।”

फिर वह हंसा, “एक बात कहूं साहब, आपने बहुत सारे शब्द सिखाए हैं। आपसे बहुत कुछ सीखा। लेकिन एक शब्द आप खुद भूल गए हैं।”

मैंने पूछा कुछ नहीं, बस हैरान सा उसकी ओर देखता रहा।

उसने बहुत हिचकते हिचकते कहा, “खुदारी।” फिर बोलकर कुछ सहम सा गया।

इस बार मैं मुस्करा तक नहीं सका। चुपचाप वापस मुड़कर सीढ़ियां चढ़ने लगा। हॉल में पहुंचा; खबर चल रही थी ‘भारत के सेल्फ एस्टीम को चुनौती न दे पाकिस्तान।’

लेकिन मेरे सेल्फ एस्टीम को चुनौती दी गई थी।

मैंने सख्ती से कहा, “सेल्फ एस्टीम हटाओ, खुदारी लिखो।”

अप्रतिम ने दूर से कहा, “नहीं, खुदारी कोई नहीं समझता।”

मैं उसकी ओर मुड़ा। सख्ती से उसकी आंखों में देखता रहा, “खुदारी सब समझते हैं।”

अपने आदेश को दी जा रही ऐसी चुनौती पर एकबारगी अप्रतिम हैरान रह गया। उसने कड़ककर कहा, “जो कह रहा हूं, चुपचाप सुनिए। समझ में नहीं आता आपको?”

लेकिन वह समझ नहीं पाया था कि एक चोट ने मुझे क्या क्या सिखा दिया है।

अब हतप्रभ होने की बारी उसकी थी। मैं लगभग चीख रहा था, “नीचे गालियां खाकर आते हो, ऊपर गालियां देते हो, चैनल पर तमाशा चलाते हो और पत्रकारिता बताते हो। तुम्हें नहीं मालूम होगा, खुदारी का मतलब क्या होता है, मुझे तो याद आ गया है।”

सब अवाक मुझे देख रहे थे। एक दो साथियों ने मुझे रोकने की कोशिश की, मैंने उनका हाथ झटक दिया।

मैं अपना इस्तीफा लिख रहा था।

नीचे उतरा तो सलीम मिला, कुछ परेशान सा, “साहब, आपको क्या क्या बोल गया, माफ कर दीजिए।”

“अरे नहीं सलीम साहब।” मैं जोर से हंसा, अपनी आवाज की स्वाभाविक खनक के साथ, “काश कि आप मेरे संपादक होते।”

# आधी रात का किस्सागो

शेखर मल्लिक

शेखर मल्लिक समकालीन कथा साहित्य में अपनी कहानियों और वामपंथी तेवर के कारण अलग से पहचाने जाते हैं। अनेक महत्वपूर्ण पत्रिकाओं में कहानियां प्रकाशित होती रही हैं। *तद्भव* में पहली बार।

रात फिर बढ़ते हुए आधी होने को आई थी और कमरे में सबको मालूम था, बल्कि इंतजार था कि वह ठीक किसी भी वक्त दरवाजे पर दस्तक देगा...बिना कुंडीवाला दरवाजा धीरे से धकेलकर, चूंकि वो जानता है कि पहली मंजिल के इस कमरे का दरवाजा कभी बंद हो ही नहीं सकता, अंदर मुस्कराता हुआ आ जाएगा। उसका इंतजार कमरे में सबको बेहद नागवार था। दिन भर की अपनी अपनी हाड़तोड़ी के बाद उसे सुनना और हर दो तीन वाक्य के बाद हुंकारा भरने की बाध्यता आजिजी की हद थी। लेकिन उसका आना और कहानी सुनाना इतना अवश्यंभावी और ऐसा रूटीन हो गया था कि उसे टाला नहीं जा सकता था।

उसने दस्तक दी। दरवाजा धकेला और भीतर आकर सालों साल नीचे बिछे रहने वाले बिछावन पर लगभग गिरते हुए बैठ गया। ठीक इसी तरह तो वह पहली बार से आता रहा है। उसके मुंह से बास आई...उसकी हांफ की वजह से। वह बहुत दूर से चलकर आता था। उसकी सांस हस्वेमामूल उखड़ी हुई थी। उसने बैठते हुए किसी की ओर नहीं देखा। बैठने से पहले अलक्ष्य की ओर जरूर नजर डाली थी। कमरे में हम लोग उसकी हरकतों को सहने की आदत बनाने की तरफ बढ़ रहे थे। हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे। वह जो भी करता और कहता, उसकी तरफ तवज्जो देना हमें गंवारा था। वह गजब का बकलौल है, शुरू के इस निष्कर्ष के बाद हमें पता चला कि नहीं, वह ठेठ है। और ढीठ है, हठी है...

“बंधु! होश में हो कि खुमार में?” उसने बैठ जाने के बाद किसी अदृश्य गावतकिया की टेक लगाते हुए दाहिनी ओर पैतालीस डिग्री पर टेढ़ा होकर पूछा। उसके धड़ का वजन दायीं कुहनी पर आ गया।

सबको लगा कि यही उससे हम लोगों को पूछना चाहिए था। लेकिन हम उससे कुछ भी पूछने की इच्छा खो चुके थे। सो ज्यादातर चुप ही रहते। जाहिर है, इस बार भी कोई कुछ नहीं बोला और ऊंधने का इम्प्रेशन देने लगा।

सबसे करीब बांह मुंह पर डाले चित्त लेते राज को उसने धकेला, “सो नहीं रहा तू, जानते हैं।”

बगल में लेटा हरजिंदर उठ बैठा, “उस्ताद, कोई उम्दा माल है तो बकना, वरना सोने दे यार।”

“माल! किस्सों को माल कह रहे हो! हां बंधु, आज की तारीख में हर चीज माल है।” वह सिर को डुलाता हुआ उदास स्वर में बोला। अचानक की नाटकीयता हमारे लिए अब औचक नहीं रह गई थी। उसने अपनी टी शर्ट की जेब से सिगरेट और माचिस निकाली...माचिस की तीली की भक्क की नारंगी लपट उसके चश्मे के शीशे पर हिलोरने लगी।

“कल जो सुनाया था, उसे भूल जाओ।” उसने पालथी मारकर सीधे बैठते हुए कहा, “आज जो सुनाने जा रहा हूँ, उसे कल तक याद रखो। अगर तुम ये बात भूल जाओगे तो, हो सकता है कि इन किस्सों के दबाव में पागल हो जाओगे। याद रखना और भूलना, जब तक सायास होता है, अपने बचाव के लिए होता है, अनायास होते ही तुम्हें खतरे में डाल देता है!” वह अपनी जींस की मोरी पर लगी घास को उलटे पंजे से झाड़ने लगा।

“इस भोंसड़ी के...फिर चालू हो गया...” देव कुमार बुदबुदाया। वो मेरे बगल में था और गाली इतना सटकर कही गई थी कि मैं इसकी स्पष्टता से चौंक गया कि कहीं वो न सुन ले।

अब आधी रात का कांटा उत्तर की तरफ झुक चुका था। कमरे में खामोशी थी, घड़ी की टिक टिक साफ सुनाई देने लगी। वह जितनी इच्छा थी, उस सिगरेट का उतना कश लगा कर फर्श पर रगड़ चुका था। अब वह तैयार था अपना आज का किस्सा सुनाने के लिए...

बाहर कोई आवाज कुत्ता रो रहा था। उसने अपनी आवाज उसकी रुलाई पर हावी करते हुए पैतरा बदला और बोला, “रूपादेवी की कहानी है। सालों, देखो...औरत का नाम लिया तो कान खड़े हो गए तुम्हारे!...रूपादेवी बेहद सुंदर थी। जवान थी। नाचती गाती थी। कमलाबाई का कोठा था इसी शहर में। हां, इसी शहर में, जहां हम तुम आज सन 2018 में मौजूद हैं। तो, वो थी उस कोठे की जान। कोठे की जान होना आसान नहीं होता। फूलमती से तगड़ा कंपीटीशन था। फूलमती भी बला की खूबसूरत थी और नाचती भी कमाल की थी। बस एक जगह वो मार खाती थी, उसका गाने में गला रूपा से उन्नीस था। साजिदे किसी तरह संभालते मगर देर तक नहीं और फूलमती बिजली टूटने की तरह नाच नाच कर अपनी एक कमी को पूरा करती और थककर महफिल में ही धराशायी हो जाती। कमलाबाई मगर दोनों को बराबर चाहती थी। अपने आंचल से फूलमती का रूख पोंछती उसका माथा सहला रही होती थी। शहर में बातें थीं कि दोनों मां बेटी हैं। रूपादेवी प्रतिद्वंद्वी भले हो, मगर जलती नहीं थी अपनी बाई और फूलमती के अपनापे से।”

वह हमें घूर रहा था। कोई सोने न पाए, जब तक उसका किस्सा खत्म न हो। वरना वह उसे ऐसा फटकारेगा कि नींद हराम हो जाएगी! राज अपनी चादर से मुंह निकाले उसे ही ताक रहा था। और अपनी अपनी जगह पर हम सब। उसने सबके अटेंशन का जायजा लिया।

हम जानते थे कि वह किस्सागोई करते हुए इसका इल्मिनान करता रहेगा, इसलिए उसे शिकायत का कोई मौका हाथ नहीं लगने वाला था।

“रूपादेवी, कमला बाई और फूलमती नाम के साथ कोठे को एडजस्ट नहीं कर पा रहे हो न सालो!” उसने हम सबको सवालिया नजरों से ताका। किसी को कुछ नहीं बोलना था, नहीं बोला।

“इस देश में विदेशी नाम मतलब तुर्क, म्लेक्ष या ईसाई किस्म के नामों से चिढ़ने का फैशन है, इसलिए मैं परहेज कर रहा हूँ। और जैसे भी क्या फर्क पड़ेगा, अगर रूपादेवी हुस्ना बानो, फूलमती नूर और कमला बाई जोहरा बी खातून हो जाएं तो?”

वह फिर चुप होकर नजरें घुमाने लगा। फिर कोई कुछ नहीं बोला। हालांकि मैं जानता हूँ कि कोठे की सारी औरतों के नाम हिंदू हो जाना एतबार की बात नहीं लग रही थी। कोठे की रवायत से ज्यादा हमारे बने बनाये खयालातों से यह मेल नहीं खा रहा था। मगर उससे कहानी सुनने के दौरान सवालकर रार मोल ले लेना खतरनाक था, क्योंकि स्पष्टीकरण के साथ किस्सा सुनना सारी रात की नींद का कत्ल कर देना था। ये साला नशे की झोंक में कल देर तक सोता रहेगा। मगर हम लोगों को तो अपने अपने दिहाड़ी के काम पर समय पर पहुंच जाना था।

...रूपादेवी का नाच चल रहा था। शहर के रईसजादे, अमीर उमराव आते थे। उस शाम को भी मौजूद थे। सारंगी और तबले के साथ पैनी सी आवाज साजिदों के पैदा किये हुए संगीत के साथ हमकदम चल रही थी। इशारा हुआ और रूपादेवी नाचते नाचते शहर के आला रईस जनाब सेठ भगवत मल के पास पहुंची। गाते हुए ही अपनी भंगिमा से बता दिया कि हुजूर, इशारे हमें भी आते हैं! महफिल के बाद तो मिलना तय है। तन्हाई में रूपादेवी से मिलने को शहर ही क्या दुनिया के मर्द तरसते लरसते थे! लेकिन रूपादेवी का इशारा सिर्फ सेठ ने नहीं देखा, फूलमती ने भी गौर किया गो कि वह रूपादेवी के साथ जब जब जुगल नाच नहीं रही होती थी तो रूपादेवी की हरेक हरकत को नोटिस में रखती थी! कहां किस तरीके से रूपादेवी महंगा सौदा करने में कामयाब हो जाती है, उसका ख्याल रखना ट्रेड के गुर सीखने का एक फलदायी तरीका था। रूपादेवी की नजरों से लेकर उसके जेहन के खयालों तक को भांपना फूलमती की मजबूरी थी।

रूपादेवी ने नाच खत्म किया और लस्तपस्त मर्दों ने किलकारी, सिसकारी से लेकर सीटी बजाई...आह वाह किया और सीने को मसलते हुए कोठे के दरवाजे से अगली महफिल तक के लिए रुखसत हुए। साजिदे अपने आपको समेट रहे थे। कुछ जरूरी को छोड़कर बाकी रोशनियां गुल की जा चुकी थीं। सेठ भगवत मल को जोर की पेशाब लगी थी। शराब अंदर काफी जा चुकी थी। हालांकि वे आदतन होश में रहते थे। वे बैठे रहे। कमला बाई बगल कमरे में किसी को डांटते हुए अलग अलग सोने को कह रही थी। एक कमसिन आवाज शिकायत कर रही थी और उसकी शिकायत पर कमला बाई ने फैसलाकुन लहजे में और बिना लफजों की आतिशी का लिहाज किये कहा, औरतें बिस्तर में साझा नहीं करतीं।

रूपादेवी महफिल के लिबास बदलकर, घुंघरू उतारकर सादे कपड़ों में आ गई। मंद रोशनी में खड़ी हुई उसकी काया झुकी और सेठ भगवत मल की मुंदा हुई आंखों को चौंकाते हुए उनके सर पर हाथ फिरा गई।

सेठ नौजवानी और अधेड़पन दोनों को छूने वाली उम्र में थे। और ये पहली बार नहीं था कि रूपादेवी से इस तरह मिल रहे थे। रूपादेवी से उन्होंने कहा था कि उससे उनको लगाव

हो गया है और उसके वास्ते वे कोई भी कीमत देने को राजी हैं। सेठ के पास बहुत पैसा था और इसलिए कमलाबाई को अपने कोठे के नूर का इस तरह एक ग्राहक से मिलना मंजूर था! उन्होंने बस रूपादेवी को कुछ हिदायतें दी थी। और कुछ नहीं। हां, शर्त एक कि दोनों को मिलना होगा तो कोठे में ही मिलेंगे। कोठे के बाहर हरगिज नहीं। धंधे के उसूलों से समझौता कबूल नहीं।

चांदनी रात थी। एक रात पहले चौदहवीं की रात थी। सो चांद इस रात भी उरूज पर था और खिड़कियों के पर्दों को हवा से कहकर थोड़ा सरका देता और अंदर शरारती बच्ची सा आ आकर फिर बाहर भाग जाता था। सेठ भगवत मल ने अर्ज किया कि उन्हें जोरों से 'आई' हुई है। रूपादेवी हंस पड़ी। इशारा किया कि जाइये फारिग हो आइये...

राज ने मेरे कान में फुसफुसाते हुए कहा, "चूतिया साला!"

"कौन सेठ?" मैंने हंसी दबाते हुए मुंह पर हाथ रखे पूछा।

"अबे! ये..., ये क्या सुना रहा है? क्यों सुना रहा है? कोठा वोठा...पेशाब पैखाना! जबरदस्ती नींद की...मार के रख दिया है।"

इसका जबाब कमरे की दीवारों तक को नहीं था जो अमूमन हमारे साथ रोज रात को उसके किस्से को सुन सुन कर जागने की आदी हो चुकी थीं!

सेठ भगवत मल जल्दी से उठे। थोड़ा लड़खड़ाये और बाहर निकल गये। भीतर के सब गुसलखाने जनाना थे और भगवत मल ये जान चुके थे। उसूल नियम वाली कमलाबाई बाहर के और गैर जनाना को तो हरगिज बरतने नहीं देगी। बाहर की चांदनी में पेड़ और झाड़ियां और दूर तक फैले खेत थे। दूर के खेत उतना नहीं दिखाई दे रहे थे, जितना पास की झाड़ियां। भगवत मल को झाड़ियों में शौच की आदत नहीं थी। लेकिन आदमी की जिंदगी के ज्यादातर काम आदत से नहीं, मजबूरी से होते हैं। झाड़ियों में पेशाब करते हुए उन्होंने सर उठाकर देखा, कोठे की पहली मंजिल की खिड़की के परदे पर एक साया था। साया उसके इंतजार में था और उसके लिए फिक्रमंद भी। उसे ऐसा लगा। ऐसा होता है।

किस्सागो ने सिगरेट सुलगा ली और कश लेकर सबके चेहरे को ताककर मुस्कराया, "तुम लोग सालो, सोच रहे होंगे कहानी में 'शौच' वर्णन लेकर क्यों तुम लोगों के कान खेत रहा हूं! देखो, देश की संस्कृति में वेद, पुरान होते हैं, संस्कार होते हैं...तो हमारे यहां शौच का यही संस्कार है! दबाव आया तो दीवार, झाड़ी, गाछ...अबे, श्रीलाल जी ने, खैर, तुम साले कहां कुछ पढ़ सकते हो! उन्होंने जो 'गंजहापन' बताया था, कोई इस सदी की बात है...! पुरखों से बरता जाने वाला व्यवहार है।"

हममें से ज्यादातर खीज की हद तक आ पहुंचे थे। ये साला किस्से के अलावा भी इतना बकता है! वैसे, कमरे के हम हमबिस्तरिये 'मूतोगे तो सुतोगे!' के सिद्धांत पर रोज सोने से पहले एकमात्र टायलेट का इस्तमाल करते थे फिर बिस्तर पर आ जाते थे। दीपू उर्फ 'गोला' जो रात भर वायु विकार से हम सोये हुआओं पर गैस त्रासदी की तरह हमला करता रहता था, रात में दो तीन बार उठकर पेशाब निपटान को जाता था।

उसने कहानी आगे बढ़ाई, "फूलमती ने खुद को छिपाते हुए दोनों को बात करते और सेठ को बाहर झाड़ियों में पेशाब करते देखा था। जानते हो।" उसने गम्भीरता से कहा, "चेखव का आयडिया था कि अगर नाटक के पहले अंक में दीवार पर टंगी बंदूक दिखाई है तो आखिरी दृश्य में उसे चलना भी चाहिए, वरना कहानी में, यानि...वो फालतू है! फूलमती इस कहानी में उसी सिद्धांत से जगह जगह मौजूद है!" वह हंसा।

नहीं, फूलमती ऋतुमती होने वाली थी और उसे पुरुष की नजदीकी की ललक बढ़ गई थी। किसी और को पुरुष के इतने पास होने का गवाह होना उसे नागवार गुजर रहा था। और ऐसा पहली बार नहीं हो रहा था उसे। वह पहले भी इसी तरह के जज्बातों से गुजर चुकी थी। और इसकी जिम्मेदार रूपादेवी ही थी। बहरहाल, प्रतिद्वंद्विता सिर्फ पेशागत थी, निजी नहीं...

सेठ भगवत मल लौटे तो रूपादेवी ने दीवान पर बैठे बैठे उन्हें पास बैठने का इशारा किया।

“सेठ जी, आपको क्या चाहिए आप बताते नहीं। और खामखाह मुझसे उम्मीद करते हैं कि मैं समझ लूं।” रूपा बड़े मान से बोली। बगल में पड़ा बड़ा सा गजरा, जिसे कोई छोड़ गया होगा, उठाकर उसने शरारत से सेठ की गोद में फेंक दिया। सेठ मुस्कराये, जिसमें थोड़ी झेंप और कुछ शर्म थी, क्योंकि रूपादेवी तो उसके सामने जरा भी नहीं शर्माती। वैसे वह कबूल करने से कतराते, डरते थे कि रूपादेवी उनके क्या, किसी के सामने नहीं शर्माती! कबूल कर लेते तो उनके अहं को और रूपादेवी के वास्ते खास होने के अहसास को धक्का पहुंचता। सेठ भगवत मल ने गजरे को उठाकर सूंघा और कहा, “ऊपर वाले का दिया मेरे पास सब कुछ है। आपको मालूम है कि इस वक्त निजाम भी हम जैसों पर मेहरबान है। इतना बड़ा कारोबार है। इस बड़े कारोबार को कायम रखने के लिए हम निजाम के पिट्टुओं की मदद करते हैं। आप ये भी जानती हैं कि शहर कोतवाल हमारे इशारे पर क्या क्या कर सकता है। निजाम के खजाने में अवाम का पैसा आता है लेकिन निजाम को अवाम से महफूज रखने में हम जैसों का खरा पैसा लगता है। खैर वो सियासी बातें हैं। देखो न मुझे भी आदत हो गई है सियासत की बातें करने लगता हूं।” सेठ भगवत ने नजरों से रूपादेवी के रूप का जायजा और जायका लिया, “आप बेहद खूबसूरत हैं। और मैं आपको एक दिन भी देखे बिना नहीं रह सकता। मतलब मैं आपसे इश्क करता हूं या नहीं, मगर आप मेरी कमजोरी हैं।”

रूपादेवी हल्के से मुस्कराई। ऐसी दिलफेंक बातें उसके लिए रोजमर्रे की चीज थी। दिल फरेबी भी वहीं से आती थी। टुड्डी के नीचे उल्टी हथेली का सहारा रखकर बोली, “सेठ साहब। निजाम से सौदा तो आपको आसान पड़ता होगा, दिल का सौदा थोड़ा महंगा है। कीमत ईमान की लगती है।”

राज को इंटरैस्ट आने लगा था। उसकी आंखें पूरी तरह खुल गई थीं और यह संकेत था कि उसके ‘खड़े’ कान उससे ज्यादा खुलकर किस्सागो से ‘फंस’ गए हैं। हम जानते थे कि ये साला किस्सागो, कहानी को शुरू चाहे जैसा बोसीदा ढंग से करे, उफान पर ले आता है और कुढ़ने के बावजूद कुछ तो मजा आने लगता है। रात भर उसकी किस्सागोई चलेगी, हममें से कुछ तो भोर तक पहुंचने वाली उन कहानियों के क्लाइमेक्स तक पहुंचते भी नहीं थे! फिर भी सुनते हम थे, सुनाता था वह...

सेठजी ने रूपादेवी को नजर भरकर देखा। उसकी बड़ी बड़ी आंखें, सुरमे की सीमा में पनिआई तालाब सी...वे तो डूब मरना चाहते थे। मुस्कराये, “ईमान तो तुम्हें दिया है! बाकी का मुझे पता नहीं। व्यापार करना भूल गया हूं। या फिर भूलना चाहता हूं।”

“तो फिर मेरे साथ सौदेबाजी के ताल्लुक बातें क्यों?”

“दिल की कह सकते हैं, आपके सामने इसलिए।” सेठ भगवत संजीदा हुए, “दुनिया में घूम घूम कर वह हरामजादा हमसे बड़े आसामी के लिए कारोबार की दलाली करता फिर रहा है। कुछ क्या बहुत फायदा हमें भी हो रहा है। लेकिन उसे दरकार है। फिर उसे नमक की हलाली करनी है। हम लोगों को वैसे तो बहुत फर्क नहीं पड़ता, बस उसके कुछ गजब अजब फैसलों ने पशोपेश में डाल दिया है कि फायदा होगा कि नुकसान...”

“आपने ही कहा कि शह दिया।” रूपादेवी उठकर जाम के खाली गिलासों को तश्तरी में रखने लगी। उसकी पीठ पर बिखरे बालों से उठती महक ने सेठ को भरपूर सांस लेने के लिए छेड़ा। वे गहरी सांस भरते हुए उठे और कमरे में चहलकदमी करने लगे। खिड़की के परदे ने आसमान के चांद का लिबास उसे थमा दिया था। चांद के जिस्म का उजास तो दिखता था, चांद नहीं!

“हमारा काम था, हमारे दादा परदादा, बाबा ने भी यही किया था। कारोबार करना ऐसे ही आया। हम खानदानी कारोबारी हैं, आप जानती हैं। और आपको क्या बताएं, कारोबार चलाना कितने सांठगांठ का काम है। इमां...इसकी कोई जगह नहीं।” सेठ मुड़े, “मगर हम ऊब गए हैं। हम आदमी के जैसा रोना चाहते हैं, गाना चाहते हैं, जीना चाहते हैं।”

रूपादेवी हल्के से मुस्कराई, “सचमुच? जी तो रहे हैं आप! साफ कहिये कि हमारे बहाने जीना चाहते हैं।”

वह खंखारा। एक और सिगरेट निकाला, राज के सर पर चपेट मारकर बोला, “दे बे, माचिस या जो कुछ तेरे पास में है।”

राज उठकर सीधा बैठा। सामने की दीवार पर कील के सहारे लटकी अपनी पैंट की जेब से माचिस निकाली और उसकी तरफ फेंक दिया। सिगरेट सुलगाकर उसने सबकी ओर एक बार नजर फेरी, “सालो, कभी कभी ‘हूँ हूँ’ भी कर दो...मुरदों के माफिक पड़े रहते हो।”

वह दीवार की ओर देखते हुए कुछ क्षण कश लेता रहा। मुख्तार जम्हाई लेकर उसे ऐसे ताक रहा था जैसे, हलाल होने से पहले बकरा कसाई को देखता रहता है।

“जानते हो जिंदगी और किस्सों में क्या फर्क है? अफसाने सिर्फ ख्याली नहीं होते और हकीकत कभी बेख्याली नहीं। जो कहानी बताई जा रही है, वह वाकई हकीकत के आसपास हो सकती है या सिर्फ जो वाकई कहना है उसके लिए ख्याली माहौल...कोई तरीका, कोई मुफीद औजार, कोई रास्ता! कहानी क्या कह रही है वो, महज मामूली है। क्या कहना चाह रही है, वह मायने मकसद है, कहानी जो नहीं कहते हुए कहती है कि यार, मुझे समझो! किस्से भी महबूब होते हैं, जो सब कुछ उघाड़ा नहीं करते इसलिए खूबसूरत होते हैं। बिना बोले, उसे तुम समझते हो, बिना दिखाए, देखते हो...किस्सों को बरतने के लिए तुम चुन सकते हो, कौन सा हिस्सा ज्यादा ताकत से बोलना है, तुम चुन नहीं सकते हो, कौन से हिस्से को गौर से सुनना नहीं है।” वह दीवार से मुखातिब था और राज ने अचानक छटपटाकर चादर उतार दी, “इसकी तो...”

“क्या हुआ बे?” उसने अपनी नजरें राज के वजूद पर मोड़ दी। उन दोनों के अलावा कमरे में बाकी एक जबर गाली की अपेक्षा करने लगे। राज खड़ा हो गया था, “ठंड में साला पेशाब बहुत लगता है।” हम सब को देखता हुआ वह टॉयलेट की ओर बढ़ गया।

हरविंदर अपनी जगह से बोला, “जागते रहो!!”

कहानी दोबारा चालू हुई...नींद को मारकर हम रतजगे की कैद काटने लगे।

रूपादेवी ने आगे बढ़कर सेठ को खींचकर ऊपर पलंग पर बिठा दिया। सेठ की आंखें खुमार में बंद होने लगी थीं। अधखुली आंखों से उन्हें रूपादेवी कोई परछाई लग रही होगी। बोलती हुई, हरकतें करती हुई...

वह कभी चाहती थी कि सेठ अपनी दुनिया से निकलकर यहां उसकी दुनिया में न आए। कभी मन करता था, वह उसकी दुनिया से कभी लौटकर अपनी दुनिया में न जाए। सेठ की आवाजाही उसे डराती थी, कभी उबाती, कभी कोफ्त होती। कमलाबाई का कोठा भी कोई जगह



थी, इश्क करने की! यह जगह बस इश्क के भ्रम और इश्क के कारोबार के लिए थी...सारे गंध, सारे रंग, सारे जज्बात...सारी जिंदगी फरेब की थी। मगर, ये क्या इश्क ही था? भ्रम और यकीन के बीच का बस कुछ वक्त...

रूपादेवी कमलाबाई की एक बात को याद रखती थी : मोहब्बत में से 'मोह' को निकाल दो, तो महज 'बात' है! मोह सारी बातों की जड़ है। फिर भी सिर्फ बातों से जिंदगी नहीं चलती! जिंदगी की अपनी जरूरतें हैं, अपनी शर्तें हैं, अपने कायदे हैं...जो जहां है, वहां क्यों है? जो जहां होना चाहता है, क्यों चाहता है?

उसने पलटकर देखा, सेठ भगवत मल नींद में दफन हो गया था। उसके माथे पर हल्के से चूमने की ख्वाहिश हुई, मगर उसने चूमा नहीं। इतना यकीन अब तक नहीं हो सका था। उठ गई और खिड़की पर चली आई। सामने लंबी गली के ऊपर चांद था। गली के दोनों तरफ की दुकानों और उनके ऊपर कोठे अंधेरे में अपने धुंधले वजूद के वास्ते उसकी चांदनी के मोहताज थे और अजीब सी खामोशी पसरी हुई थी। शाम से आधी रात तक गुलजार करने वाली महफिलें अब कल की बात थीं और आने वाली रात के इंतजार में चुप हो गई थीं...

कमलाबाई उठी और पेशाबघर के पास कान लगाकर सुनने लगी। गुसलखाने के उस तरफ वाले हिस्से में इस समय वह विगत कुछ रातों से खटका और इंसानी सुगबुगाहट को सुन और महसूस कर रही थी। उम्र ने उसे तर्जुबा और डर एक साथ दिया था।

वह साफ नहीं सुन पा रही थी कि उसके कोठे की कौन सी बुलबुल पिंजरे की कील गिराकर रात रात भर पांखें खोलकर उड़ती है, और भोर से पहले वापस पंख समेटकर जैसी की तैसी हो जाती है। दाग और नजरों का फरेब तो इस दुनिया में खूब है लेकिन हौसला? हौसला हमारे लिए बाहर की दुनिया से लड़ने का औजार भले हो, खुद अपने भीतर, अपने आसपास के लिए वह कभी काफी नहीं हो सकता! सब जानते हैं, जिस्म की बोटियां जितनी महकेंगी, उतनी हलक को रोटियां मिलेंगी। कोई कहीं भाग नहीं सकता, कमलाबाई जानती है, सपने सारे देखते हैं, खुद अपनी जवानी में भी सपने देखे थे। शहर के रईसों, सेठों में खासी डिमांड थी उसकी। कमलाबाई के ठुमके और झुमके पर कौन न मरता था! मरने वालों में से वो मानती थी तो, मानती थी सिर्फ, सेठ भावनादास को। सोचा कि सेठ जब अगली बार व्यापार के वास्ते परदेश, चाहे पूरब चाहे पश्चिम, कहीं भी जाएगा, वह भी जिद करके उसके साथ चली जाएगी। भाग जाएगी। सेठ भावनादास कपड़ों की सौदागरी करता था। और अक्सर ठंड के मौसम से लेकर बारिश के बाद तक बाहर रहता था। दशहरे के कुछ पहले लौटता था और... औरों का पता नहीं, कभी जान भी न पाई, कम से कम कमलाबाई को तोहफों, कुछ छुपाये, कुछ उजागर, से लाद देता था। पूरब की चूड़ियां, कनफूल, हार, चुनर, पश्चिम के लहंगे, चोलियां...इन तोहफों से कमलाबाई की प्यास बढ़ती जाती थी। मुल्क में आग लगी हुई थी, लेकिन एक आग कमलाबाई के भीतर भी लगी थी।

सेठ भावनादास ने एक दिन इकरार किया। इकरारनामे में शादी लफ्ज का कहीं जिक्र नहीं था, फिर भी कमलाबाई ने समझा कि वह सेठ की घरवाली बन गई है। भावनादास बाकायदा शादीशुदा था, फिर भी कमलाबाई ने ऐसा समझा। समझने में तर्क और वजह जैसी दुनियादारी नहीं थी...बस मोहबत जैसी कोई अमूर्त सी शै थी। जिसे बकौल कमलाबाई, आगे चलकर, 'मोह'/'बात' हो जाना था!

मोह और बात को अलग अलग करते हुए दोनों ने कुछ साल बिता दिए। भावनादास ने परदेस से लौटने पर पहली कई रातें 'कमला' और 'बाई' को अलग अलग करते हुए खुद

जीं और कमलाबाई को जीने का अहसास कराया। इन्हीं रातों की शरारत से कमलाबाई को गर्भ ठहर गया। यह हकीकत थी। मीठी बतकही, चुंबन या गले लगाने जैसी महज कल्पना नहीं। कमलाबाई ने सेठ की अगली सौदागरी यात्रा से पहले यह खुलासा किया। सेठ भावनादास ने सचमुच उस पर एक चौंक की नजर फेंकी और सचमुच कहा, “सचमुच मेरा है?”

कमलाबाई ने, चूँकि वह ‘बाई’ थी, चूँकि ये आम बात थी कि बाइयां अमूमन अपने पेशे में कइयों के साथ सोती हैं...चूँकि कमलाबाई के आकर्षण और लुनाई के चर्चे शहर में ‘वायरल’ थे, इस बात को बेहद तकलीफ और हैरानी के साथ सुना, समझा। क्योंकि उसके बारे में ऐसा सोचा, समझा जाना यों सहज था, मगर भावनादास ने यही बात तब क्यों नहीं सोची, समझी जब वह उसकी जाँघों पर अपनी यात्राओं से टूटी देह को गर्म करने आता रहा?

इस बार की यात्रा से लौटने की तारीख के बारे में सेठ ने उसे बताया नहीं, न उसने जानना चाहा। सेठ के जाने के बाद कमलाबाई ने वह ठौर छोड़ने का मन बना लिया मगर कोठे की सरदारिन अनुभवी थी। उसने कहा जिस्म का कारोबार जिस्म तक ही रहने देना चाहिए था, मगर तुमने उसे उसके आगे पहुंचा दिया। कारोबार एक हद तक कारोबार रहता है, उस हद के बाद वह ‘गलती गुनाह’ हो जाता है! जिंदा रहना तुम्हारा हक है और हर किसी का...तुम्हें जिंदा रहने की जरूरत है। क्योंकि तुम्हारे साथ कोई और जी रहा है। तुम खुदकुशी करो। मगर उसकी जान लेने का तुमको क्या अधिकार? मैं बूढ़ी हो रही हूँ। तुमको जितना अनुभव है, उसके बिना पर मैं तुमको अपना उत्तराधिकार सौंप सकती हूँ।

उत्तराधिकार और विरासत सिर्फ महलों और राजपाट के ही नहीं होते!

कमलाबाई ने जैसी जिंदगी वैसी रातें काटीं। आज उसकी वह बच्ची जिंदा होती तो रूपा, फूलमती जैसी होती, लगभग उसी की उम्र की शायद! मगर पैदा होते ही दूध के लिए कमलाबाई के स्तन से ओंठ लिथड़ाये वह मर गई। और पता नहीं क्यों, कमलाबाई की छाती इतनी पत्थर कैसे हो गई कि वहां से दूध उतरा ही नहीं...क्योंकि नसें सूख गई थीं। कुछ वक्त से पेशा बंद था और निबाले पर आफत आ गई थी। उसी दौर में वह बेकार हो गई थी।

कोठे की सरदारिन मरी और मौखिक इकरारनामे के मुताबिक उसकी गद्दी को कमलाबाई ने संभाल लिया...उसने अपनी जवानी कोठे के लिए दी थी। कोठे ने उसके अड़े और बुढ़ापे को संभालने का भरोसा दिया। तब से कमलाबाई का कोठा नए और ताजे के साथ कुम्हाये फूलों को एक बाग में संजोये रहा। ताजा और गर्म सांसों के आवक के साथ, कोठे ने ठंडी और बासी सांसों को फेंका नहीं। दिन बीते...कमलाबाई की महफिल महकती रही...गजरे की रजनीगंधा हो चाहे और रात की रानी...

“कहने को बहुत तपसील से बता सकता हूँ, मगर किस्सेबाज को मालूम होना चाहिए कि खास यह नहीं कि माहौल का बयां ही सारी जगह खा ले! उम्दा बयां वह है कि जो न कहा, बताया गया हो, सुनने वाला उसे महसूस कर ले...उसका तर्जुमा उसके जेहन में बेअल्फाज टंकता जाए...” उसने इल्मिनान से किसी प्रोफेसर की तरह कहा। राज ने घड़ी की ओर देखा। बुदबुदाया, “ढाई बज रहे हैं, इसका खत्म कब होगा!”

उसने राज को जम्हाई लेते देख लिया। उचककर उसके और नजदीक पहुंचा और एक चपत उसके सर पर लगाकर बोला, “साले, आदत नहीं हुई? मैं कोई दादी नानी की कहानी सुना रहा हूँ, कि तुमलोगों को मीठी मीठी नींद आ जाये! देखो, गफलत में हो क्या? मेरी कहानी में जो ऊबेगा, उसे इस कमरे में रहने का कोई हक नहीं। मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता ऐसे कमीने को!”

वह उठकर गुस्से से कमरे में सबकी ओर देखता रहा। कोई उससे नजर नहीं मिला रहा था।

अचानक वह बौखला उठा...गुस्से में उसकी आवाज फटने लगी, मुंह से शब्दों के साथ थूक के छींटे उड़ने लगे। वह गुस्से में लगभग नाचने की मुद्राओं में उछलने हिलने लगा...

“नहीं आऊंगा, मैं हरगिज कल से यहां नहीं आऊंगा। सालो तुम जाहिलों की जगह दीवार के सामने बोलू तो? एक ही बात है! आर्ट एक वह शै है, जिसकी जुबां समझने के लिए दिमाग और महसूसने के लिए दिल की दरकार होती है। तुम सालों को देखता आ रहा हूं, तुम लोगों में वह कूबत है ही नहीं। फिर भी मैंने सोचा कि सुनाता रहूंगा तो तुम्हारे भीतर समझ और ‘एप्रिशियेशन’ की क्षमता पैदा कर दूंगा।

“नहीं, नहीं...कमीनो, मैं गलत था...मैं गलत हूं कि तुम जैसे दुनिया के अब्वल अहमकों से उम्मीद कर डाला...” वह कमरे में लगे छोटे से आईने में, जिसमें एक पूरा चेहरा भी एक साथ नहीं दिख सकता, अपना आधा चेहरा देख सहसा रुका। चुप हुआ और वापस आकर नीचे बैठ गया।

कमरे की चुप्पी ने खौफनाक रुख अख्तियार किया। कमरा पिछले कुछ माह से ऐसी हरकतों से ऊब और थक चुका था। खिड़की का पर्दा हलके से हिला। उतनी ही धीमी गति से वह घूमा, “जानते हो कमबख्तो, जिंदगी में ऊब वह दीमक है जो उम्मीद और संभावना को खा जाती है अभी एक वो कविता है न, किसकी? धूल...! हां, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की। इसलिए दीमक वाला नजीर याद आ गया...तो यह तुम्हारे अंदर हांफती हुई आशा को घोंट देती है। ऊबो मत। जीने से ऊबो मत!” उसके डांटने का आवेग कुछ कम होने लगा था। सन्नाटे में उसकी सिगरेट की गंध भी हमारे जेहन में नाद जैसा पैदा कर रही थी।

उसने इस अवश्यभावी व्यतिक्रम के बाद फिर जारी रखा...

**रूपादेवी** ने सेठ को रवायती किस्म का दुलार किया। बस यूं ही! इन दिनों प्यार बिकना शुरू हुआ था, तमाम चीजों ने बाजार में अपनी एक मुकम्मल जगह बना ली थी और अब एहसास, खुशी, संतोष, प्यार जैसी भावनाओं के लिए भी ‘मार्किट’ उपलब्ध था। सेठ भागवत ने ऐसे बाजार में हिस्सेदारी से खूब तरक्की की थी, और दुनिया के एक अंतहीन, सीमाहीन, समयहीन बाजार का हिस्सा बन गए थे। इन्हीं उपलब्धियों के नाते वे फक्र करते थे अपने आप पर... दूसरे उन पर रश्क करते थे। रूपादेवी ने आंखें बंदकर सोते हुए सेठ के चेहरे पर इस वक्त निश्चिंतता देखी और सोचा कि इस चेहरे की हजार परतों को उघाड़ देने से भी वह शिरा नहीं दिखेगी जिसमें इन सब सच्चाई का गंदला सा लहू बह रहा होगा।

करवट लेकर वह कुछ देर सेठ को सोते देखते रही थी। फिर खुद सो गई।

गुसलखाने के पास की आवाजों से लौटते हुए कमलाबाई ने इल्मीनान से जम्हाई ली। होता है, यह होता है। फिक्र की क्या बात है...यह वह न समझे, तो कौन समझेगा! हर आदमी, हर औरत सबसे पहले और सबसे आखिर में...फकत, खालिस मर्द है और खालिस औरत। जो लोग नहीं समझना चाहते, वे ही ऐसी नजदीकियों से चिढ़ते हैं। जबरन, नियमों का वास्ता देकर, खुदमुख्तार होके...

कमलाबाई ने भुला दिया। धंधा बढ़ गया था। जिंदगी सुकून से गुजरने लगी थी। शहर कोतवाल, मंत्री, संतरी से आवश्यक सांठगांठ इसके लिए जरूरी था और कोठे का ‘फायरवाल’ बनकर नगर के कुछ खास सेठ लोग भी थे। दुनिया में सबको खुश रखो, गर खुश रहना है।

हालांकि सबको एक साथ खुश रखना संभव नहीं है, तब भी एक छोटी सी कीमत अदा कर वह मामला भी निपटारा जा सकता है। कमलाबाई ने सब सीख लिया था। फिर उसे इस दौरान रूपा और फूलमती मिलीं। कोठे के दो सितारे। रवायत क्या, मिजाज भी शहर के नहीं बदलते। नई पीढ़ी के सेठ साहूकार इन दोनों पर मरते थे। बाकियों का भी अपना जलवा था! इधर थोड़ी मुश्किल पेश आने लगी थी, क्योंकि सुनते थे इस निजाम के आने के बाद कुछ सेठ अपने जाली कारोबार से हजारों करोड़ों की हेराफेरी कर नगर छोड़कर भाग गए थे। निजाम की सरपरस्ती ने उनका रास्ता आसान बना दिया था। जनता का धन लूटकर भाग जाने वालों के लिए सम्भवतः कोई विशेष सेवा थी, जिससे अवाम नावाकिफ था! मुफलिसी और बेरोजगारी इतिहा की हद पार कर गई थी। तो हर धंधा भुगत रहा था, कमलाबाई का भी। ताकतवर कौम के मजहब से परे जो लोग मुल्क में बसते थे, उन पर ऐसी मुसीबत थी कि...और बच्चियों को इबादतगाहों में छुपाकर, बेचकर, और कई तरीकों से महज भोगा और डिस्पोज किया जा रहा था। व्यापार, सत्य, न्याय और राष्ट्रप्रेम के नए सिद्धांत और नियम परिभाषाएं गढ़ी जा रही थीं। लूट, झूठ और अन्याय के लिए लाइसेंस मुहैया करवा दिया गया था और इनकी तरफ से आंख बंद करके खास मवेशी की पूजा, किसी को घेरकर मार गिराना, पाठशालाओं को बदनाम कर उन्हें बर्बाद करने वाले अनुयायियों को मुल्क के 'खास खिदमदगार' का दर्जा हासिल कराया जा रहा था। निजाम सिर्फ खुद के मतलब के मौकों और मुद्दों पर 'दिल की बात' अर्ज किया करता था...

सेठ भगवत मल ने मुंहअंधेरे जाने से पहले रूपादेवी से कहा, “रात तुम्हारे पास बिता देता हूं। सेठानी सुबह पूछती भी नहीं। कोई सवाल नहीं करती। उसे ऐसे ही होना चाहिए, मगर मुझे पता नहीं क्यों अजीब लगता है। आदमी को अपना गुस्ता, अपना आप मारकर नहीं रहना चाहिए...मैं उसकी जगह होता तो अपना खून कर देता।”

रूपादेवी नींद की खुमारी से उबरकर बोली, “वह भी यही चाहती होगी।”

सेठ ने घूमकर उसे एक पल देखा। फिर जोर से हंस पड़ा।

उसकी ऊंची हंसी कमलाबाई की नींद में उतरकर उसे झिंझोड़ बैठी। कमलाबाई दोबारा गुसलखाने की तरफ अनचाहे ही चलने लगी। मगर वहां कोई हंसी नहीं थी! वह वहीं बैठी ऊंघने लगी...अनचाहे!

उसने बत्ती गुल कर दी। सिगरेट की महक के साथ उसकी आवाज आने लगी, “सो जाओगे? सो नहीं सकते, मैं जानता हूं। तुम किस्से में शामिल हो। अब तुम सब किस्से से नथी हो...इसका हिस्सा हो, किरदार के न सही, गवाहीदार के तौर पर।” किस्सेबाज का यकीन अब हमारा यकीन था।

हम गुस्से से उसे सुनते जा रहे थे। पर यह मानने से इनकार नहीं कि हम कमरे के भीतर जितने थे, उसके लफ्जों के साथ घुलमिल गए थे। हममें से कोई इससे इनकार नहीं कर सकता था। हम सभी मानों उसके किस्से के भीतर थे। जैसे, फूलमती मानों हमारे सामने खंजर लिए नगर कोतवाल पर से उठ रही थी। जैसे, कमलाबाई ने सेठ भगवत मल को गुसलखाने के पास रूपादेवी को चूमते देखा था। जैसे, उस वक्त ओ दौर के चपेट में हम इस वक्त आ गए थे! हमारे दिल में निजाम के लिए नफरत इस कदर पैदा हो गई थी कि जैसे, हम सामने पाने पर उसके मूंह पर शायद थूक देते। या शायद...

“रूपादेवी ने।” किस्सेबाज ने आगे सुनाना शुरू किया, “कमलाबाई से पूछा था कि बाई

हमारे पास सब कुछ है, या फिर कुछ नहीं है। सेठ भी कहता है कि उसके पास सब कुछ है, कभी कहता है कुछ नहीं है! बाई, ये सब कुछ क्या है?”

कमलाबाई हंसी, “सर फिर गया है उस सेठ का और तुम्हारा!”

रूपादेवी गम्भीर हो गई, “नहीं बाई, हम पूरा नहीं हैं। कुछ अधूरा है न? कुछ ऐसा, ऐसी चीज जिससे जिंदगी मुक्कमल होती है।”

“जिंदगी कभी मुक्कमल नहीं होती। होती है तो मौत आने पर। बस...ये कहो जिंदगी किस चीज से खुशगवार होती है?”

फूलमती उसी समय लगभग दौड़ते हुए कमरे में घुसी। सुराही का पानी गिलास में उड़ेलकर भर घूंट पिया। हांफने लगी। गिलास के अलावा दूसरा हाथ उसकी कमर पर था।

“क्या हुआ?” कमलाबाई हड़बड़ा गई।

“वो अपनी बहन का यार...वो हराम का जाया, कोतवाल नामर्द स्साला...मुझसे कहता है, मेरे साथ चलेगी? मुझे पटरानी बनाएगा। हर्मी का...” फूलमती बेकाबू हो रही थी। उसकी आंखें गुस्से से फैल गई थीं और सीना जोर जोर की सांसों से दहल रहा था।

“हमारी बोटियों पर पलने वाला...हमारी बेटियों पर आंख रखता है! कुत्ते को मैं बताती हूं...मुफ्त के खाने की, दूसरे का हक हिस्सा मारने की हरामी को आदत हो गई है!” कमलाबाई ने उसके चुम्बकीय गुस्से में खुद को चिपका लिया। उसने साफ किया कि, औरत हैं। उनके लिए बिकते हैं। मगर सिर्फ, सिर्फ मेरा बदन...मेरा मन नहीं, बिकाऊ है। वो भी अपनी रजा से...

उसने अंधेरे में ही हमें गौर से देखा, “सालों, ये किसी फेमिनिस्ट फिक्शन या फिल्म का बेहतरीन डायलॉग होता है। है न? तुम लोग के सामने कोई औरत यह कहे तो तुम भी इसका मतलब यही समझोगे कि बोलने के लिए बोला गया है या और कुछ नहीं बोलने से इतना बोलना अच्छा है, इसलिए बोला जाता है!”

राज ने गुस्से में हाथ के पास रखा सिगरेट का डब्बा उसकी ओर दे मारा। और बैठ गया, “बकवास बंद करो। हमारे घर में तुम्हारे से ज्यादा औरतें हैं!”

वह जोर जोर से हंसने लगा। सन्नाटे में उसकी हंसी बेहद भौंड़ी लग रही थी।

“इससे क्या साबित होता है? क्या साबित करना चाहते हो?”

“यही कि, तुम जो भी बोलो उसके बारे में महसूस करो पहले। ज्यादा ज्ञान पेलने की कोशिश मत करो।” राज आक्रामक हो उठा।

“महसूस करो...वही मैं चाहता हूं। महसूस करो। किस्से को महसूस करो तुम लोग।”

देव ने गाली दी, “झगड़ा मत करो बहनचो...किस्सा खत्म करो कि हम सोयें। कामकाजी लोग हैं, इसकी तरह लफंदर लौंडेलुंड नहीं कि कल दिन भर बिस्तर पर मुर्दे माफिक पड़े रहेंगे। और जिस औरत की ये बात कर रहा है न, वही औरत जो इसको स्क्रिप्ट राइटर बनाने के लिए प्रोड्यूसरों के पांव पकड़ती फिरती है, कल इसको चिपकाकर, गोद में खाना खिला रही होगी।”

उसने हंसना बंद कर दिया। बाहर नेपाली चौकीदार के लाठी पटककर चलने की आवाज आई। फिर उसकी सीटी ‘सुर...’

वह फिर बोलने लगा, “रूपादेवी जानती थी कि व्यापार करने वाला सेठ और मुहबत का इजहार करने वाला सेठ एक ही आदमी था। इसे ऐसे समझो, मुल्क से इश्क का ढिंडोरा पीटने

वाला निजाम और मुल्क को बेचने वाला निजाम एक था! धंधेबाज आदमी इश्कबाज हो सकता है? हो सकता है, बेहतरीन इश्कबाज!” वह हंसा, ऐसा जैसे उसे ऐसे ‘इश्क’ से नफरत हो...

रूपादेवी ने सेठ के चले जाने के बाद हमेशा की तरह अगले साल उसके लौट आने का इंतजार नहीं किया। फूलमती के साथ उसने नगर में धूम मचाई। सेठ के, या दूसरे के लफ्जों में कहा जाय तो किसी मर्द के, नहीं रहने के दौरान जैसा बहनापा फूलमती निभाया करती थी, वैसा फिर से बहाल किया।

कोतवाल ने जिस दिन फूलमती को गैर पेशेवर तरीके से हासिल करने की हिमाकत की थी, और असफल हुआ था, उसी दिन से वह पूरे कोठे का दुश्मन हो गया था। कोठे से उसकी भी नजर फिर गई और वह चाहता था कि ये हरामजादियां बर्बाद हो जाएं। उसके पास कानून का बल था, सिस्टम था, ऊपरवालों की सरपरस्ती थी। कोठे को बर्बाद कर अपना इंतकाम ले सकना कोई मुश्किल नहीं था उसके वास्ते। जबकि उसे लगता था कि इस वक्त मुल्क में औरतों को आसानी से हासिल किया जा सकता था, एक कोठे वाली ने उसे ‘मना’ कर दिया! जब मुल्क में औरतजात को चौहद्दी में रहने की हिदायत पुराने वक्तों की तरह फिर से लागू करवाई जा रही थी...एक मामूली जिस्मफरोश औरत ने उसको पलटकर धक्का दिया था!

उसने सेठों को एक साथ बिठाया। अपने रुतबे और रुआब के आधार पर कोतवाल ने कोठे का बहिष्कार करने का ऐलान किया। ऐय्याश सेठ मायूस हुए मगर चुप रहे। इसके बाद कोठे की रंगीन बत्तियां गाहकों के इंतजार में मायूस होने लगीं। संपर्कसूत्रों के हवाले से कमलाबाई और सेठों, अय्याशों के बीच संवाद होने से मालूम हुआ कि ‘बदले की कारवाई’ में कमलाबाई के साथ वे भी हताहत हैं। मगर कोतवाल का गुस्सा और निजाम के दरबार तक उसकी पहुंच को आजमाने से अच्छा है, कुछ दिन अपने को ही दबा दिया जाय।

रूपादेवी बाल संवारने के लिए बैठी और आईना फूलमती को पकड़ने को कहा। कमलाबाई सुपारी काटने थोड़ी दूर पर चटाई पर बैठी थी। दोपहर की धूप अच्छी लग रही थी।

“तुम समझती हो, तुम्हारा वो सेठ यहां होता तो तुम्हारे पास आने से ऐसे रोक बर्दाश्त करता?” एक मायने वाली मुस्कान के साथ फूलमती ने रूपादेवी से आंख मिलाकर पूछा।

“मुझे नहीं मालूम। और मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता।”

“वो तो पागल है तेरे लिए।”

“सिर्फ ऐसा लगता है।”

“मतलब? रात बिताता है तेरे साथ और तू...”

“हम लोग रात बिताने वाले धंधे में हैं फूल!”

“अब क्या होगा। पूरा शहर तो अपना नाड़ा बांधकर देहरी में दुबक गया है।” फूलमती तलखी से बोली।

रूपादेवी ने कंधी रोकी। कमलाबाई को देखा। वो सर झुकाए दरौती से सुपारी कुतरती जा रही थी। रूपा ने आईना फूलमती से ले लिया, “बहुत दिन तक नहीं। जिसको दबाव बर्दाश्त नहीं होगा, वह बाहर आएगा। फिक्र नहीं। बाई समझती है। हमने इतने सालों से ऐसे नहीं चलाया। तर्जुबा भी कोई चीज होती है फूल।”

उसी रात को कोठे के दरवाजे जल्द बंद हुए और बत्तियां भी जल्द गुल हो गईं। कोतवाल ऐसी ही एक रात की फिराक में था। उसने बहुत वक्त से यही चाहा था। उसकी योजना के मुताबिक कोठा ‘उम्मीद’ खो चुका था और अब हमला बोलने की बारी थी। वह कोठे के पास खड़ा रहा। अहाते पर पोसा हुआ कुत्ता ऊंघ रहा था। कुत्ता उसे पहचानता था, इसलिए एक

नजर देखने पर भी भौंका नहीं। तब भी नहीं, जब कोतवाल पास लगी हुई दीवार, फिर शिरीष के पेड़ पर चढ़कर दूसरी मंजिल पर सीधे फूलमती के कमरे के पास कूदा। थोड़ा अचकचाके के अलावा वह श्वान यूँ ही सुस्त पड़ा रहा।

दरवाजे पर कोतवाल की दस्तक सुनकर फूलमती ने दरवाजा खोला और सहमने के पहले अचकचाकर रह गई। फिर कोतवाल द्वारा उसको धकेलते हुए अंदर आते ही उसका चेहरा गुस्से से तमतमाने लगा।

कोतवाल ऐसे मुस्कराया जैसे कुछ फतह कर लिया। फूलमती ने उसके बढ़ते हाथों को झटक दिया। कोतवाल के दांत भिंच गए, “साली, रंडियां भी एतराज करती हैं!”

“चला जा यहां से!” फूलमती चीखी।

“अच्छा, तेवर! बहुत खूब...बहुत बढ़िया!” कोतवाल तालियां पीटते हुए बोला, “तेरी बोली जैसी कड़क है मेरी जान, वैसा तेरा...”

“फिजूल बातें मत कर दरोगा। अभी तुम हम लोग को जानते नहीं हो।”

“जानने समझने की क्या जरूरत है तुम लोगों को।” कोतवाल उसके पास पहुंच चुका था और बेहद भोंड़े तरीके से फूलमती को कमर से पकड़ने लगा, “जिस काम के लिए हो, वही कर।”

“आया है मर्द की तरह, जाएगा हिजड़ा बनके! अभी चला जा यहां से...” फूलमती ने उसे धक्का देने की कोशिश की। मगर इस बार कोतवाल उसकी हरकतों और विरोध से वाकिफ था और तैयार भी। वह फूलमती के जिस्म पर हावी होने लगा। उसके मुंह से लार से भीगी गंदी गालियां निकल रही थीं। फूलमती को पूरी तरह ध्वस्त करने के लिए उसके हाथ बेदर्दी से उसपर हमला कर रहे थे। जूझते हुए फूलमती का सर फर्श पर जोर से पटका गया। कोतवाल उसे झिंझोड़कर चीखा, “कुतिया! रंडी, मर...मर...मर भी गई तो तेरी लाश को...”

अचानक, पता नहीं क्यों गुस्सा और नफरत हम पर हावी होने लगी...कमरे में सिगरेट के धुएं और महक के अलावा कुछ और था जो परेशान करने लगा। किस्सेबाज के बोलने के साथ साथ हम असहज होते जा रहे थे। यह ऐसे पता चल रहा था कि पहले राज उठकर सीधा बैठ गया...फिर देव उठा और कमरे में टहलते हुए सुनने लगा। हरजीत, फ्रांसिस, अजहर...कोई भी नॉर्मल नहीं था। आधी रात के इस किस्से ने इस बार कुछ अजीब सा असर किया था।

रूपादेवी अपने कमरे में सोई गुलबदन, पुष्पा और बूढ़ी अमिया के साथ बाहर निकल आई। फूलमती का चीखना उन तक पहुंच गया था। कमलाबाई को थोड़ी देर लगता रहा कि गुसलखाने के पास फिर कुछ चल रहा है। लेकिन जागते ही महसूस हुआ कि बगल के कमरे में फूलमती की आवाज है और यह आम तरीके से नहीं आई है। सारी औरतें फूलमती के कमरे की ओर भागीं...

फूलमती के कमरे में कोतवाल उसे गिराए हुए उस पर सवार था। फूलमती ने उसके बाल पकड़े थे और जद्दोजहद जारी थी, जब कोठे की बाकी लोग वहां पहुंचीं। अनगिनत पुरुषों के साथ रात का खेल खेलने की अभ्यस्त और अनुभवी औरतों ने यह पहली बार देखा था कि एक मर्द औरत की मर्जी के खिलाफ जबर्दस्ती कर रहा था। भले ही ये मर्द अपनी ब्याही औरतों के साथ ऐसा करते रहे हों, इस कोठे की व्यवसायिक औरतों से यह संभव न था। ऐसा वे मानते थे और आज अगर इस मान्यता पर आंच आ गई थी, तो वे भी बर्दास्त नहीं कर सकते थे।

किस्सेबाज हंसा, “सालो, ढंग से बैठकर सुनो। फड़फड़ा क्यों रहे हो? अबे बैठ जाओ!”

जो लोग कमरे में अव्यवस्थित हो गए थे, वापस अपनी जगह पर व्यवस्थित हो गए।

दस बारह औरतों का गिरोह, जिसे लोग रंडी, वेश्या, छिनाल आदि कहा करते थे, कोतवाल पर टूट पड़ा। बिना आगा पीछा सोचे, जिसकी फिलहाल कोई गुंजाइश नहीं थी। कोतवाल पलटकर गिरा तो उसकी छाती पर अबकी फूलमती सवार थी। एक तिहाई गंजे सर के बाकी बाल को नोंचने के साथ मुंह पर चटाचट थप्पड़ मारने लगी। कमलाबाई फुंकार रही थी, “गलीज...हमारी बच्ची पर हाथ डालता है!” उसका डंडा चला तो कोतवाल के जिस्म पर बिना रुके गिरता रहा। रूपादेवी ने कोतवाल की टांग पकड़ी। सबने उसे खींचकर कमरे से बाहर निकाला। सीढ़ियों से घसीटकर कोठे की दालान पर लाकर कोतवाल को पटक़ा गया। बेतरह पिटता कोतवाल शुरू में धमकी देने, डराने की छिटपुट कोशिश कर सका। कोठे पर की गई उसकी साजिश और इस नाकाबिले बर्दाश्त हरकत ने कोठेवालों में गुस्से और उन्माद की असीमित ऊर्जा भर दी थी। औरतों की लात, थप्पड़ और नोंच खसोट की मार से मटियामेट होते नगर कोतवाल का कोई रूतबा, रिश्ता, खौफ कहीं बचा हुआ नहीं लग रहा था।

लोगों को घेरकर मारती पगलाई, अंधी भीड़ को इन दिनों बहुत बार करीब से कोतवाल ने देखा था। मरते हुए आदमी के हाथ जोड़कर बचाने की गुहार को पीठ मोड़कर अनसुना किया था। बल्कि अपने सिपाहियों को प्रेरित किया था कि गैर मजहब के इंसान को बचाने में कोई रुचि न दिखाई जाय। उसे लगा वह उसी तरह का लाचार आदमी हो गया है।

मार से बेसुध कोतवाल को झिंझोड़ते फूलमती चीख रही थी, “हरामी! अपने बाप की मूत से पैदा हुआ होगा तो फिर इधर ताकेगा नहीं...पेट पर लात मारकर साजिश करता है! मुझे भोगेगा...भोगेगा? फूल को रौंदना चाहता है सुअर!”

कोतवाल मादरजात नंगा किया गया था। फूलमती को किसी ने छूरा पकड़ा दिया था...कोतवाल होश में आते हुए बुरी तरह चीखा और छटपटाने लगा। उसका शिश्न अपने मूल से कटा जमीन पर पड़ा था और खून फैलने लगा...

**कमरे** में हम सब सिहर रहे थे। अपनी गुदड़ियों के अंदर भी! मेरी दार्यी ओर अब तक सोये और अब बैठे देव ने अपने हाथ अपनी जांघों के बीच दाब लिए...विस्तर पर गुड़ीमुड़ी होकर हिल रहा था। कुनमुनाकर बोला, “राज! ऐ भाई, जरा बत्ती जला दे।”

“काहे को?”

“भाई तेरे हाथ के पास स्विच है, जला दे न। बाथरूम जाना है।” देव गुहारने लगा। बत्ती जलते ही वह खड़ा हुआ। चादर लपेटे ही टॉयलेट की ओर बाकियों को फांदता लांघता चला गया।

किस्सागो भी खड़ा हुआ। कमरे की एकमात्र खिड़की के पल्लों को ठेलकर वहां खड़ा रहा। ठंडी हवा अंदर आई। अगहन महीना बीत चला था और पूस लगने को था। हरजीत की आवाज निकली, “बंद कर दे! ठंडी लग रही है।”

उसने बंद नहीं किया। मुड़ा और मुस्कराते हुए पूछा, “तो? क्या सोच रहे हो तुम लोग... कहानी खत्म! खेल खत्म, पैसा हजम?” वह ठठाकर हंसा, “और इतनी वाहियात सूरत क्यों बना ली है? किस्से से रिलेट कर रहे हो क्या?”

मुझे लग रहा था, उसका आखिरी सवाल ही बहुत रिलेटिव है। बहुत भयावह...कोई कुछ बोला नहीं। तो क्या किस्सा अभी खत्म नहीं हुआ है! अब और क्या होगा? सवाल बहुत हो गए हैं। उसके सवाल, हम सबके भीतर कई सवाल...

“भाई, अब क्या होगा वह भी बता दो।” अजहर मिन्नत कर रहा हो जैसे।



“भैया, पहले खिड़की बंदकर। तेरे सुनने वाले जिंदा रहे!” कुमार किस्सेबाज के सबसे करीब था, उसने हाथ जोड़कर बड़े नाटकीय तरीके से कहा।

“लो बंद कर दी।” उसने पल्ले वापस जोड़ दिए, “देखो, किस्से में जो कुछ भी तुमने सुना है, देखा है, महसूस किया है, हर किरदार, हर वाक्ये का...सबका हिसाब हो जाना चाहिए, कहानी के भीतर या फिर तुम्हारे भीतर। शुरू में मैंने कहा कि किस्सा रूपादेवी का किस्सा है। मगर अब तुम्हें लग रहा होगा कि अचानक फूलमती का किस्सा बनकर आ गया! ऐसा नहीं यार...और फिर कह रहा हूं, किरदारों के धर्म, जाति पर मत जाओ...वो बस मुद्दे की बात कहने का बहाना हैं...किस्सों की लॉजिक और थियरी नहीं बदलती। कहने का ढंग चाहे जितना बदल लो।

“आगे सुनो। कोतवाल की इस घटना के बाद कोठा उजाड़ हो गया। कमलाबाई ने कोठे पर ताला लगाकर नगर छोड़ दिया। इस दुर्दांत कारवाई की हवा जहां तक पहुंच सकती थी, उससे दो नगर, बसाहट छोड़कर काफिला जा बसा। कोठे की शक्ति में वहां कुछ जमाना सम्भव नहीं था। बंजारनों के तौर पर जंगल के बाहरी हिस्से में एक पथरीले मैदान में छोटे छोटे कनात गड़े।

बाजारों में जाते डर लगता रहा कई दिनों तक, कि कोई उनमें से किसी की शक्ति पर बीती उस रात के जहर का नीला भांप न ले और कोतवाली में खबर कर दे। अपराधी, कानून की नजर में हो या न हो, अपराधी साबित हुआ हो न हो, अगर वह महज औरत हो तो उससे बदला लेने, सजा देने के सबसे खूंखार तरीके सभ्यता हासिल किया हुआ समाज आजमाता है। दुनिया में हर कहीं ऐसा होता है। इसलिए बचकर रहना लाजमी था।

दिन यहां बीतने लगे। बंजर जमीन को किसी ने उकसाया नहीं था, वह भले हाथों की सहेज दुलार पर सब्जियां देने लगी। राह से इक्कादुक्का जाते राहगीरों ने पहले पहल मोल लिया। फिर उधर गांव के लोग जानने लगे और अपने बाड़े के बाहर सब्जियां बेचतीं जनानियों की बात सबको मालूम हो गई। हरी ताजा सब्जियां घरवालियों को भा रही थीं और सब्जी बेचने वालियों के चेहरों की लुनाई और जिस्म के कटाव भराव घरवालों के मन सब्जा रहे थे! कमलाबाई के भूतपूर्व कोठे के रत्न बिखरे पड़े थे और किसी तराशकार की नजर उन पर पड़नी थी। पर यह कहना ज्यादा मुफीद नहीं होगा, बल्कि यह कहना अधिक न्यायसंगत है कि कमलाबाई के सिद्धस्त शिकारियों ने रात का खेला जमाने के लिए प्रयास करना शुरू किया। अब दोनों तरफ से इशारों की पेंच उलझी होगी और जल्द ही तारा, उम्र में बाकियों से छोटी, कमलाबाई सचमच उसे ‘छोटी’ कहकर बुलाती थी, ने पहला ग्राहक फांसा। फिर फूलमती कामयाब हुई। घुंघरू फिर बजे...ढोलक हारमोनियम आपस में संगत करने लगे। दिन में सब्जियां अब भी बिक रही थीं और सही में यह मुखौटा धंधा भी आय दे रहा था। पास के शहर से भी लोग कभी कभार आते। कमलाबाई ने दोनों को जारी रखने को कहा। इससे वे बाहर के समाज के सामने अपने पुख्ता खोल में सुरक्षित रह सकती थीं और हालिया अनुभव ने कोठे और जिस्मफरोशी पेशा में भी ‘खतरे’ का अहसास करा दिया था।

पास के गांव से सटे नगर में निजाम का काफिला गुजरने वाला था। निजाम दुनिया घूम चुका था। उसने दुनिया में घूम घूम कर अपने मुल्क के एक बड़े सेठ का जनसंपर्क अधिकारी होने जैसा कर्तव्य पूरा किया था। इसलिए वह बड़ा सेठ चाहता था कि निजाम का नागरिक अभिनंदन उसके नगर में हो। सेठ के पास नगर और मुल्क के लोगों के विकास की कई योजनाएं थीं। ऐसी ही निजाम की भी इच्छा थी। सेठ के पूर्वजों ने कपड़ों के व्यापार में बड़ी सफलताएं हासिल की थीं और वह वणिग बुद्धि से ईंधन, गहनों, बीमा, दूरसंचार और अब शिक्षा के धंधे

में उतर गया था। उसने निजाम को बहुत सहारा दिया था और बदले में निजाम ने उसे सहारा दिया था। उसके पुराने और नए धंधों को उठाने में निजाम ने प्राथमिकताएं निर्धारित की थीं। मुल्क के सब संसाधन और व्यापार बड़े सेठों को पट्टे पर या यों ही निछावर किए जा रहे थे। सरमाया और सियासत का दोस्ताना दुनिया के इतिहास में सबसे ऊंचे स्तर पर पहुंचा देने के लिए वे अमादा थे! निजाम ने छोटे बड़े, तात्कालिक और सुदीर्घ लाभों के बारे में अवाम को बताया था और अवाम ने पारंपरिक रूप से भरोसा कर लिया था। हालांकि कुछ दानिशमंद को सब मालूम था। लेकिन इस मुल्क में फिलहाल अवाम के बड़े हिस्से को अपने निजाम पर यकीन ही क्या, आस्था थी। लोग दिन रात अपने गप्पों में उसकी शरीरी, दिमागी विशालता का जिक्र करते थे, खुश हो लेते थे! मुल्क और निजी तरक्की के, खुशहाली के, बेहतरी के ख्वाब उनके ख्वाबों में आते थे और कोई अगर निजाम को उनके ख्वाबों के अनुरूप नहीं लगता तो वे 'सफाई का मोर्चा' अमल में लाते। इसलिए निजाम और बड़े सेठ जैसों को छुटपुट अपवादों की कोई परवाह नहीं थी।

बड़ा सेठ अपनी टटकी परियोजना के तहत इस नगर में एक ऐसा उद्योग लगाना चाहता था कि जिससे आदमी की स्मृति उसकी प्राथमिकताओं को भूल जाय और बहलावे में रहे। इससे वह सवाल करना भी भूल सकता है और निजाम को आमरण और उसके अनुयायियों को अनंतकाल तक मुल्क पर शासन करने का रास्ता खुल सकता है। इससे धन्ना सेठ की भी पीढ़ियां एकछत्र व्यापार करती रह सकती थीं। एक ऐसा उद्योग जो लोगों को वर्तमान भूलने और ख्यालों में खोये रहने की मादक तासीर दे सके!

आसमान पर बादल थे। धूप सुहानी थी। निजाम के गुजरने के लिए तमाम तैयारियां पूरी हो चुकी थीं। निजाम को गुजरते हुए ही नायाब परियोजना का उद्घाटन करना था। बड़े सेठ ने प्रचार खूब किया था। निजाम को प्रचार बहुत पसंद था। दुनियाभर के दौरों में उसने बड़े बड़े नेताओं हस्तियों के साथ खूब तस्वीरें खिंचवाई थीं और उसका शगल था जर्जर्ज पर उसकी तस्वीर रहे! तस्वीरों के लिए निजाम ने बेहिसाब समझौते किये थे, और उन पर उसे फख्र था! हालांकि अवाम का एक तबका 'फोटूआ' निजाम को मसखरे की तरह देखता और हंसता था। मगर बड़े सेठ ने सारा इंतजाम ऐसा किया था कि निजाम कुछ भी करे, वह इतने बड़े पैमाने पर करे कि निरीह जनता उसे अपनी हैसियत के लिए असम्भव मानकर बस उससे प्रभावित होती रह सके! प्रभाव बहुत जरूरी चीज थी...प्रभाव के लिए खर्चे करना जरूरी था। इसके लिए गैर मुल्की संस्थाओं से सेवाएं भी ली जाती थीं।

रूपादेवी और कमलाबाई के कुनबे की औरतें पिछले कुछ दिनों से निजाम के गुजरने और इस 'लार्जर देन लाइफ' आयोजन के बारे में गांव वालों से, औरों से सुन रही थीं। लगभग हर आदमी निजाम को इस मुल्क में हुआ एक 'फेनोमिना' मानता था! चूंकि कुछ ही लोग उसे बाहिम्मत गालियां देते थे, इसलिए तारीफ करने वालों और भर्त्सना करने वालों में अनुपात का बड़ा अंतर था और कोठेवालों के लिए यह बड़ा रोचक मुद्दा था। उन्होंने जितना सुना था, जितनी तरह का सुना था, पंचमेल किस्म का था और इसलिए रोचकता बन गई थी। वे जाना चाहती थीं। मगर अभी डर और आशंकाओं की छाया सिमटी नहीं थी। कुछ भी हो सकता था इसलिए उनका कतराना जरूरी था। कमलाबाई चित्त लेटी कुछ सोच रही थी कि फूलमती ने तपाक से पास बैठते हुए कहा, "बाई, अगर हम रूप बदल के चलें? वैसे भी यहां रहते हम पहले जैसी नहीं रह गई हैं।" यह बात तो सही थी। अब इन कुछ महीनों में ये औरतें जो उस नगर में कोठे में जगमग करती लपलपाती शिखाएं जैसी थीं, अब बुझने को जैसे कंपकंपाती

बातियां थीं...पुराने किसी परिचित को ठगने के लिए बहुत मेहनत करने की जरूरत नहीं लग रही थी। कमलाबाई उसी मुद्रा में बस मुस्कराई, “चलो, हम भी खेला देखेंगे।”

दोनों जोर से हंस पड़ीं।

आसमान तो साफ था, मगर भीड़ में खड़ीं ‘कमलाबाई व समूह’ को लग रहा था आसमान से लेकर धरती तक एक खास रंग फैल गया है। वह रंग कई रंगों को खा गया है...दुनिया कई रंगों का मेल है, किसी एक रंग का हावी हो जाना, एकरंगी हो जाना गलत बात थी। इस गलत को सहज महसूस किया जा सकता था, तवज्जो के लिए किसी खास आग्रह के बिना भी! रूपादेवी ने कुहनी से फूलमती को ठेलकर उसका ध्यान एक मदारी की ओर आकर्षित किया जो निजाम के काफिले के आगमन से काफी पहले, दरअसल समय पर ही, आ जुटी भीड़ के वास्ते पीपल के एक पेड़ के नीचे करतब दिखा रहा था। कमलाबाई को छोड़कर बाकी वहां चली आईं।

मदारी अकेला था और वह तरन्नुम में बातें करता हुआ खेल, बल्कि असल में कूदफांद कर रहा था...हवा में कलाबाजियां खाता हुआ, किसी से सीधे नहीं, सबसे एक साथ उसने कहा, “मुलुक में सबसे बड़ा आदमी कौन?”

उसकी अजीब हरकतों के अलावे उसके बोलने के अंदाज से मौजूद भीड़ खिलखिलाकर हंस रही थी। भीड़ को हंसता देख वह भी हंस रहा था। वह भीड़ में से ही कोई लगता था...

जनावर पूजो, माणूस मारो

लुगाई मारो, पुरुष मारो...

जो सच्चे बोल मारो, उसे सबसे पहले मारो...

उसने शिकारी की मुद्रा बनायी और जल्दी से पेड़ पर चढ़ गया। एक डाली पर बैठकर दो डंडों से तीर बनाकर सबकी ओर तानने लगा। कूदा और घेरे में जैसे थक हारकर बैठ गया।

सरकार...माई बाप...बहुत भूख लगती है

महाजन को मेरी बीवी सस्ती लगती है!

रोटी दो, काम दो...मालिक

छत नहीं, लंगोट नहीं...दवा नहीं, साहिब!

मदारी अगले पल फुर्ती से उठा और कड़कते हुए भीड़ की ओर अपना तीर तानकर चीखकर बोला,

के ससाला म्हारी जमीण पे फैक्टरी डालेगा?

के लूटेगा खेतवा, म्हारी छाती पे बूट रगड़ेगा?

जलावेगा म्हारे घर, म्हारी जोरू को दागेगा?

उसकी भूमिका बदल गई।

कुत्ता! ये जमीन तेरे बाप की है न?

भाग नहीं तो गोली मारूंगा

तेरे मूलस्थान में!

सब कुछ जो है तेरी जाति के पास

वह सब कुछ मेरा है

दे दे तेरे भले के लिए कहता हूं

बंदूक की जुबान में भी समझा सकता हूं!

रूपादेवी ने फूलमती को कुहनी से ठेला, “चल। बाई को अकेला छोड़कर आए हैं।” फूलमती भीड़ में से रास्ता बनाते हुए वापस लौटने लगी और उसके पीछे वे सब। मदारी जोर जोर से चिल्ला रहा था, “ले लो, आटे की जगह आटे की गंध ले लो! आदमी की जगह, आदमी जैसा ले लो!! बात बहुत महंगी है रे जालिम, बात का ढंग ले लो!!!” फूलमती ने दाहिनी तरफ थूका। थूकना होता तो वह हमेशा दाहिने थूकती थी। उसे दायें से चिढ़ थी। कहती थी, जो दाहिना है बद है! जो बायां है, वह भला! हम लोग को तो मरद का बायां बोलते हैं, हैं न! कहीं कभी कोई कहता था। दाहिने हाथ से खावै और बायें से धोवे... सबको दाहिने से प्रेम और बायां से बैर! तो ले सब दाहिने वालों पर थू!

सब हंसती थीं। उसके इस नाटकीय ढंग पर।

कमरे में हम भी हंसने लगे थे। गो कि हम सब भी दाहिने से नफरत और बाएं से प्यार करने वालों में से हों! किस्सेबाज ने हमारी हंसी से प्रभावित हुए बिना अपना जिक्र जारी रखा...

कमलाबाई अपनी जगह पर थी। रूपादेवी ने बाकियों से अब एक ही जगह खड़े होकर निजाम के करतबी कारवां का मंजर देखने को कहा। निजाम और बड़े सेठ को इकट्ठे ही उस जगह से गुजरना था। बस किसी भी पल...और वह पल अगले ही पल आ गया। निजाम ऊंची शानदार बग्घी पर सवार आ धमका था। चौड़ी सड़क सिमट आई थी और सुरक्षा, व्यवस्था के लिए तैनात सिपाही अपनी लाठियां हवा और आदमी पर एक ही तरह से बजाने लगे। सफेद महीन दाढ़ी में, जिसके बारे में ऐसा कहा जाता था कि निजाम का खास महंगा हज्जाम उन दाढ़ियों को तराशता है, और महंगे महीन रेशमी खास पहनावे में, जिसके बारे में कहा जाता था कि बाजार में उसकी नकल भी बहुत महंगी बिकती है और बेहद पसंद की जाती है, निजाम वहां मौजूद अवाम के कीचड़ में खिला कमल जैसा आकर्षक और रंगीन लग रहा था। भयानक तो यह था कि मदारी को कुछ सिपाही बांस पर मरे जानवर सा टांगकर कहीं ले जा रहे थे। वह जिंदा था या नहीं, यह मालूम होना बड़ा मुश्किल था। बड़े सेठ ने दूसरी बग्घी से हाथ लहराते हुए निजाम के हक में एक नारा फेंका... “निजाम सलामत रहे! निजाम हमारे सरपरस्त रहें!!”

अवाम ने इन नारों को प्रतिध्वनित किया। अवाम का बड़ा हिस्सा इतनी खालिस भाषा का अनुकरण नहीं कर सकता था। आवाजें उठीं, जैसे... “निजाम...मत रहे! निजाम...पस्त रहे!!”

रूपादेवी और फूलमती हंसतीं कि कमलाबाई ने मुंह बनाकर नियंत्रित रहने को कहा।

मदारी का हाल अभी अभी ही गुजरा था और निजाम के सिपाही जनता के दरम्यान हथियार उठाये घूम रहे थे।

ऊंचे से मंचनुमा सजी सजाई जगह से निजाम और उसके करीबी सलाहकार, मातहत, अमला—फैला बैठा। सबसे करीब बड़ा सेठ और उसकी औरत बैठी। निजाम ने उठकर सेठानी को पहले बैठने की गुजारिश की और...अवाम ने देखा कि निजाम ने अपनी कमर सामने मोड़कर सेठानी की कमर के बराबर अपना माथा लाकर उनको सलाम किया! अवाम ने तालियां पीटीं। औरत जात को सर झुकाकर, इतना एतमाद करने वाला ‘सरपरस्त’!

उद्घोषक ने भोंपू में बोला, “हमारे बीच आज निजाम हुजूर मौजूद हो गए हैं। अवाम ने पहले कभी ऐसा खैरखाह नहीं देखा होगा! वे खुद को हमारी जाति का बताते हैं! उनका बड़प्पन है...बेपनाह शराफत है। आज बड़े सेठ हमें बताएंगे कि निजाम हुजूर आप सबको क्या तोहफा देने वाले हैं। मैं दरखास्त करता हूं बड़े सेठ साहब से कि वे आएँ और आगे का बयां करें...”

बड़े सेठ ने हाथ हिलाया और हिलाते हुए अपनी जगह से उठा।

“निजाम ऐ आला सलामत रहें! उनके फजल से आज हम नए दौर में जा रहे हैं! नया दौर नई तकनीकों का दौर है। भाइयो और बहनो, आज आपके हाथ में तकनीक है तो आप के हाथ में ताकत है। हमने एक ऐसी तकनीक इजाद की है जो मुल्क को, अवाम के हरेक बंदे को वो ताकत देगा जो आज से पहले आपके पास नहीं थी। आपने ख्वाब में भी सोचा नहीं था।”

बड़े सेठ की लोचदार भाषा के पीछे छिपे इशारे को बावक्त पकड़कर मातहतों ने तालियां बजानी शुरू कीं और अवाम ने नकल उतार दी।

“हमने एक ऐसी तरंग विकसित की है जिसे आम आदमी को हम मुफ्त में देंगे। जी हां, बिलकुल मुफ्त में! यह पायलट प्रोजेक्ट है। इसकी कामयाबी पर हमें यों भी कोई संदेह नहीं है। फिर भी...यह तरंग उपजाने की फैक्ट्री इसी गांव के बाहर जो खेतों की जमीन है, उस पर डाली जाएगी।

“इस तरंग से आप हर वक्त अपने प्रियजनों से जुड़े रहेंगे। और सबसे आला खूबी...जी हां, सबसे आला खूबी इसमें यह है कि निजाम हुजूर खुद इसके जरिये आप सबसे जुड़े रहेंगे। आप अपने मसलाहात उनसे सीधे बयां कर सकते हैं। वे भी अपने ‘दिल का अर्ज’ कार्यक्रम के बहाने से आप सबसे मुखातिब होते रहेंगे। जब भी वे किसी और मुल्क के दौरे में नहीं होंगे, वे आपके साथ इस प्रोग्राम के जरिये गुप्तगू किया करेंगे। सोचिये, निजाम आप से सीधे बात करेंगे। ये तरंग आपके जीवन को बदल देगी। आपके सोचने समझने के तरीके को बदल देगी। आपको भूख कम लगेगी, मगर आपको तरंग की प्यास ज्यादा महसूस होगी! ये तरंग आपकी हर जरूरत को पूरा कर देगी...आप सब कुछ भूल जाएंगे...आप जो जानना चाहेंगे, उसके पहले यह बता देगा। आप जो पूछना चाहेंगे, यह पहले जबाब दे देगा! यही आपको बताएगा कि क्या जानना है, कितना जानना है? क्या पूछना है, कितना नहीं पूछना है! यह आपके आत्मनियंत्रण में मदद करेगा! इससे मुल्क में एक ही तरह के सोचने, समझने और करने वाले लोग रहेंगे। मुल्क दुनिया का नायाब मुल्क बन जाएगा!”

निजाम ने हाथ उठाकर बड़े सेठ की इस बात और योजना की तसदीक की। अवाम में मौजूद सेठ के मातहतों ने तालियां बजायीं। बाकी अवाम ने तुरंत नकल की।

किस्सागो ने बात रोक दी। घड़ी की ओर देखा। हंसा। राज से बोला, “अबे पानी पिला दे। तेरी बाजू बोटल रखी है।”

राज ने बोटल उसकी ओर बढ़ा दी। उसे पूछने की हिम्मत हो आई, “और कितना बाकी है भैया?”

किस्सागो पानी की भरपूर घूंट गले से उतारकर बोटल बगल में रखते हुए बोला, “तू सोना चाहता है। महसूस कर रहा हूं तुम सब साले सोना चाहते हो। सुनो, मुल्क में जब सब सोते हैं या सोने के लिए मचलते हैं, उसी वक्त ऐसे किस्से हकीकत की शकल लेकर आ जाते हैं। सो जाओ...सो जाओ! जिसको सोना है सो जाओ...मैं दीवारों को सुनाऊंगा! मैं किस्सा खत्म करने से पहले सो नहीं सकता। किस्से को अधूरा नहीं छोड़ सकता...कभी नहीं छोड़ा।”

**निजाम** उठकर सामने आया। ऊंचे मंच पर सिर्फ उसकी आकृति दिखती थी। उसके नाक मुंह यानी चेहरे का कोई साफ नक्शा अवाम तक नहीं पहुंच रहा था। लेकिन उसका साफ संबोधन जनता तक पहुंचा, “आपकी जिंदगी अब मेरे हाथ में है। आपने खुद मुझे सौंपा है, इसलिए..वक्त दीजिये, हम आपकी जिंदगी को महफूज और मुकद्दस बना देंगे। तख्त पर आए हमें

ज्यादा वक्त नहीं हुआ है, यह तो आपको मालूम है। अवाम में एक भी औरत, एक भी किसान, एक भी नौजवान हमसे शिकायत के लायक नहीं रहेगा। क्योंकि हम शिकायत का मौका ही नहीं देंगे! शिकायत से पहले ही शिकायतबाज का निपटारा कर देंगे। शिकायतबाजी कोई अच्छी फितरत नहीं है, इससे मुल्क में अमन को खतरा होता है...लोग बताते हैं न, इतमीनान और सब्र बड़ी चीज है। इसी से सब हासिल होता है...मुल्क सबसे ऊपर है। मुल्क के वास्ते आप हैं, आपके वास्ते मुल्क कैसे हो सकता है!...गफलत में मत रहिये। हम मुल्क और मुल्क की तरक्की से बैर रखने वालों के बैरी हैं। जो लोग मुल्क में सिर्फ सवाल पूछकर और हमारी हरकतों पर शक जाहिर कर बदअमनी का माहौल बनाते हैं, उन्हें हम बर्दाश्त नहीं कर सकते।” निजाम स्वर बदलकर हंसा, “तसल्ली रखिये, हम अवाम के पालक हैं, और अवाम ही मेरे लिए सब कुछ है। बड़े सेठ ने जैसा अभी बयां किया है, हम हमेशा आपसे जुड़े हुए हैं। और आप हमसे। हम अलग नहीं हैं।”

कमलाबाई ने कुहनी से रूपादेवी को ठेला और वे भीड़ से लौटने लगीं। पीछे रुक रुक कर निजाम के हक में शोर उठता रहा। भीड़ से बाहर आकर उन्हें खुली हवा की सांस भली लगी। फूलमती ने पूछा, “बाई, ये कैसी तरंग की बात कही जा रही थी?”

कमलाबाई ने मुंह बिचकाकर कहा, “होगा कुछ! जालिमों ने मदारी बेचारे को क्यों कल्ल किया होगा? वो किसी का क्या बिगाड़ रहा था, बेचारा...”

झोपड़े पर लौटकर ही थकन से पस्त सब जहां तहां पड़ गईं। कमलाबाई ने डपटा, “अरे रोटी पानी का क्या होगा? मिलेगी?”

छोटी ने मसखरेपन से जबाब दिया, “तरंग आ जाने दे बाई, रोटी भी तैयार हो जाएगी।”

रूपादेवी न चाहते हुए भी हंसी। कमलाबाई ने लाड़ और झुंझलाहट में कई सारी गालियां छोटी को दे दीं।

हरकारे बड़े सेठ की नई योजना का इश्तहार करते हुए चारों ओर दौड़ने लगे। नौजवानों में निजाम और बड़े सेठ की चर्चा आम बात हो गई। पहले के किसी निजाम ने अपनी पीढ़ी को इस तरह से प्रभावित नहीं किया था कि वह बिना अपने दिमाग से सोचे, बस जो निजाम कहता है, उस पर भरोसा करने लगे। निजाम जो कुछ भी कहता या करता था, उस पर भरोसा करने वाले उसे यकीन की खुतहा बीमारी की तरह फैलाने में जुट जाते, हालांकि न वे जानते थे और न कहने पर मानते कि यह भी एक किस्म की बीमारी है, जिसकी चपेट में वे इस वक्त हैं।

इधर मुल्क के मौसम में काफी दिनों से कड़वाहट आने लगी थी। कमलाबाई ने बहुत उत्साह से साग और सब्जियों के अच्छे बीज गांव के बीज भंडार से खरीदवाए थे, मगर बरसात ने मुंह मोड़ लिया। कमलाबाई एंड कम्पनी तो शौकिया किसानी कर रहे थे, मगर असल किसान तड़प कर रह गए। निजाम ने इसे प्राकृतिक आपदा मानने से इनकार कर दिया और बड़े सेठ के कोष से लिए उधार न चुकाने का घटिया बहाना मान लिया। ऊपर बिगड़ा आसमान था, नीचे बिगड़ल सेठ...बीच में रोज बिगड़ती असफल किसानी! हर तरफ सारे नौजवान बड़े सेठ के नई तरंग वाले यंत्र पर मुफ्त के मनोरंजन पर फिदा थे, कुछ खास व्यापारियों को मुल्क के खजाने से उधार की मोटी थैलियां देकर भूल जाने के नियम बन रहे थे, वहीं बड़े सेठ के खूंखार कारकून मामूली...और कर्ज लेने के बाद बेहद मामूली हो गए...किसानों के घरों में घुसकर उसकी लानत मलामत, कुटाई, रुसवाई कर रहे थे। कर्ज के सूद मूल की अदायगी का तरीका हलक

में पंजा उतारकर कलेजा मसलने जैसी कार्रवाई थी।

रूपादेवी ने पहचाने हो चले एक गाहक के लड़के से पूछा, “तेरा बाप दिखाई नहीं देता? कहीं बाहर काम करने के लिए निकल गया क्या?”

लड़का यंत्र पर अपनी उंगलियां फेरते हुए अनमने ढंग से बोला, “लटक के मर गया कबका। और तू अब पूछती है रंडी!”

बगल में बैठी फूलमती ने आगे बढ़कर एक तमाचा उस लड़के को मारा तो लड़का जमीन पर थूककर बोला, “तुम सबकी जात और औकात नहीं जानते क्या! धरम भ्रष्ट करने वाली हो तुम लोग...साली किस किसका नहीं लेती तुम लोग...” वह हिकारत की इतिहा का भाव अपने चेहरे पर लाया और आगे चल दिया।

फूलमती ने पीछे से चिल्लाकर कहा, “कुत्ता तेरी जात क्या है, यह तो तेरे बाप से मालूम कर लिए हम लोग।”

लड़का थोड़ी दूर गया था, मुड़ा, “तुम लोग यहां बहुत दिन नहीं हो...बहुत जल्द, बहुत जल्द...” उसने उंगली तानी, “तुम लोग का हिसाब हो जाएगा। देखना...”

कमलाबाई ने फिक्रमंदी से बात रखी, “...ऐसी हवा हो गई है। गांव में किसान मर रहे हैं। और लौंडे उस मुए बड़े सेठ के जंतर पर दिन रात लगे रहते हैं। सुना है जंतर में सचमुच बड़ी ताकत है, उस पर कोई भी बात, खबर बिजली की तरह यहां की वहां हो जाती है। छोटी ने अपनी आंख से देखा है। लौंडे किसी को भी पीट देते हैं और उसकी तस्वीर उतारकर जंतर से जंतर को बांट देते हैं। हमारे बारे में भी बात मुंहामुंही नहीं फैली, इन्हीं हरामजादों ने जंतर से फैलाई है। यहीं बाहर बेले कुबेले घूमते रहते हैं शैतान।”

यह बात सच थी और भयानक कि पिछली बार जब छोटी ने जिस गाहक के साथ रात का धंधा निबटाया था, उसके यार ने पूरे टाइम का चलचित्र बना लिया था और यंत्र पर पूरे गांव और पता नहीं कहां कहां बांट दिया था। यह एक नए ढंग की आफत थी और कमलाबाई के दल को इसके खतरे के बारे में पता ही नहीं था, न वे कल्पना ही कर सकी थीं।

लड़के ने जो धमकी दी थी, वह बहुत से लोगों के तय कार्यक्रम का इतिहास था। गांव के उन लोगों ने एकबारगी एकजुटता का परिचय दिया और एक दिन आंधी तूफान की तरह बौराकर आगे बढ़े...

जाने कहां से आ गई हैं...इन छिनालों का कोई धरम नहीं...हमारे गांव का हवा पानी दूषित कर रही हैं। रंडियों के फेर में हमारा सहस्र वर्षों का गौरव कलंकित हो जाएगा! जनानियां बागी हो जाएंगी, मरद वीर्य से हाथ धो बैठेंगे! अरे, वीर्य से ही तो तेज आता है! पौरुष दमकता है! वीर्य गया तो उन्माद गया...बल गया...सत् चला जाएगा...मारो सालियों को...जिंदा जला दो...जला दो!

वे आग से खेलते थे। वे एक बहुत पुराने धर्म के अनुयायी थे। उनके मजहब की किताब में छोटी जात, औरत और जानवरों को बड़ी हिकारत भरी जुबान से एक समान बताया गया था। उन्हें बताया गया था, औरत वीर्य का दोहन करती है! औरत एक गंदा अस्तित्व है...उस औरत का कोई मजहब, कोई जात नहीं होता...मर्द उसका उपभोग करो और उससे घृणा करो... घृणा हिंस्र हो! तभी वह शासित रह सकती है। किंतु नगरवधुएं किसी के भी नियंत्रण से परे होती हैं...इसलिए वे अधिक खतरनाक हैं!

वे अकेले में वहां अपने जिस्म को आनंद देने अंधेरे में आया करते थे और अब उसी जगह को सामूहिक रूप से मशाल लेकर जलाने आए थे...वे पापिनों को जिंदा जला देंगे! कुफ्र

फैलाने वालियों को सजा देना मजहब की खिदमत है। वे धर्म राज्य की स्थापना के स्वप्नवाहक थे। वे जिसका निजी तौर पर मजे लेकर उपभोग करते थे, हर उस चीज का सामूहिक तौर पर बहिष्कार कर मुल्क के आला आशिक बनते थे...यह प्रायोजित चरित्र जबर्दस्त चलन में था... वैसे भी अपनी जान बचाने के लिए वे मुल्क से गद्दारी को व्यावहारिकता मानते थे, ये उनके इतिहासपुरुषों के खाते में सार्वजनिक रूप से दर्ज था!

किस्सागो ने अचानक कुछ पल का अंतराल आने दिया। हमारी नींद मर चुकी थी। कमरे में सिगरेटों के धुएं की बोझिलता थी ही...लग रहा था कुछ अन्य गलत और गजालत भरा वहां भाप की मानिंद भर गया है! हम सांस लेने में असहज महसूस कर रहे थे। कोई कुछ नहीं बोल रहा था, मगर सबके भीतर लगभग एक ही तरह का कुछ घट रहा था...समूचा कमरा कमलाबाई, रूपादेवी, फूलमती और तमाम औरतों के सामने जा खड़ा हुआ था। शायद हम सब याद कर रहे थे कि ऐसा हाल में हमने कहां और कब देखा है और जाना सुना है? और हम कुछ न कर सकने की हालत में महज घटना का एक गप्प लेकर घटनास्थल से चले गए हैं...औसत नागरिक की मानिंद!

चुप्पी बेतरह परेशान कर रही थी। क्या किस्सागो ने जानबूझकर ये वक्फा छोड़ा था? ये किस्सा सुनाने की जानलेवा कला थी!

सब कुछ बदल गया था। कमलाबाई ने याद किया कि जिस्म को धंधे में दे देने के बाद भी औरत का औरतपन खतरे में नहीं होता था। आदमी का आदमीपन बर्बाद नहीं हुआ था, अभी कुछ वक्त पहले तक। तमाम बुराइयों के बावजूद भलापन कहीं भीड़ में दोस्ताना हाथ हिलाता हुआ मिल जाता था। भरोसा और एतबार कोई चीज हुआ करती थी, जिसकी बदीलत रिश्ते और मसले जिंदा रहते थे। इंसाफ सिर्फ दुहाई की बात न था, हकीकत में हासिल किया जा सकता था। उस लड़के के वैया कहकर जाने के बाद हर सुबह से कुछ होने का शुबहा देर रात तक बना रहता...जैसे काफिले में मजमा दिखाकर मरने वाला वो मदारी जेहन में उभरकर कहता, 'वे आएंगे...वे आएंगे...वे आएंगे!'

रूपादेवी ने रोटी तवे पर पलटते हुए बाकियों के चेहरे देखे। भरे धुएं में वे चेहरे भी धुंआ थे। जैसे वे वहां मौजूद न होकर बस महज एक अक्स थे।

“हमें जाना होगा बाई। यहां से जाना होगा।” रूपादेवी ने बेचैनी से कहा।

“जान है तो जहान है बहन!” फूलमती ने सहमति दी।

“यहां से भी जाएं...दुनिया में कौन सी जगह हम लोगों के लिए महफूज हो सकती है?” कमलाबाई ने बैठे बैठे करवट ली। उसके चेहरे पर खिड़की के फांक से आती बाहर की कोई रोशनी झाई के माफिक पड़ रही थी।

छोटी ने रोटी के बाद थोड़ी सी सब्जी थाली में डाली और लेकर कमलाबाई के पास आ गई। फूलमती ने थोड़ी देर पहले पानी का लोटा पास रखा था और वहीं खड़ी थी।

“बाई, महफूज तो हम कभी कहीं नहीं रहीं। बोलो, रहीं?” फूलमती कमलाबाई के हाथ धुलाने लगी, “मुझे तो लगता है कोई आज कहीं महफूज नहीं है। क्या औरत, क्या मर्द! आदम की जान सस्ती हो गई है। बहुत बुरी खबरें सुन रही हूं।”

“फिरकापरस्ती बड़ी बुरी चीज है फूल।” रूपादेवी ने आखिरी रोटी सेंककर तवे से उतार दी और तवा भी चूल्हे से तक्सीम कर पास में टेक दिया।

“क्या करें? हम तो हर चीज से लड़ती रहीं। हर आदमी और हालात से दो दो हाथ



किया। अब यहां लड़ने को कुछ नहीं है। कोई मुकाबला नहीं है। नहीं तो लड़तीं, जरूर लड़तीं हम लोग।” उसने आह भरी, “कहीं और जगह मिले न मिले, उम्मीद तो बंधी रहनी चाहिए... बहन, समेट लो यहां से। इसी रात निकल जाएं हम सब...”

कमलाबाई ने कौर मुंह में हल्के हल्के चबाते हुए अपनी कामगारियों पर नजर डाली। ये सब उसकी लड़कियां हैं। उसकी बच्चियां...उसका कुनबा इनसे ही बनता है। हिफाजत पहली शर्त है। जब अपने मूल से एक बार उखड़े तो फिर हजार बार उखड़े, क्या फर्क पड़ता है। दाना पानी हो या जान का सवाल, सबको इनका हल ढूंढना पड़ता है।

लोगों की गोलबंदी और उससे पैदा होने वाली बुरी आवाजें जो दूर थीं, अब औरतों के ठिकाने के इर्दगिर्द बढ़ने लगी थीं...

“बाई! वे आ रहे हैं...!” उनमें से किसी ने चिल्लाकर कहा था।

...खाना टल गया...वो खाना कुछ ने जल्दी जल्दी अपने कपड़ों में बांध लिया। बस...

आधी रात कब की ढल गई थी। चुपचाप सर झुकाए जनानियों का मामूली सा वह काफिला पगडंडियों पर कहीं भी जा रहा था। गांव की सीमा पर ही वे रह रहे थे और अगला कोई गांव कुछ कोस पर होगा, इसका सिर्फ अनुमान कर लिया था। जंगल के दायरे से आगे निकलते ही कोई गांव नहीं, नगर या कस्बा था। कुछ दूर एक जगह मशाल लिए कई लोग खड़े थे। रूपादेवी के साथ बाकी भी ठिठक गए। उन्होंने देखा कि लोग एक ऊंचे बुत के नीचे थे और शोर मचाते हुए उसे गिराने की कोशिश कर रहे थे। बड़े सेठ के तरंग वाला यंत्र उनमें से हर किसी के पास था। वे आपस में जुड़े थे। वे एक ही किस्म के कपड़े, बल्कि एक ही रंग के कपड़े और साफे पहने थे। उनके हाथों में एक ही तरह के हथियार थे।

थोड़ी सी मशक्कत के बाद उन्होंने मिलकर उस बुत को गिरा दिया। और पागलों की तरह नाचने कूदने लगे। हथियार लहराने लगे। वो बुत एक बहुत माने हुए दानिशमंद और नेता का था जिसे दुनिया के कामगार अपना अगुआ मानते थे। रूपादेवी ने उसके बारे में शहर से आने वाले कई कामगारों से सुना था और उनकी जेबों में तस्वीर देखी थी। और लोग तो सिर्फ मनबहलावे के लिए आते थे, मगर कामगार अपनी थकान उतारने आते थे। वे आपस में जब बात करते थे तो इस नेता का जिक्र जरूर करते थे। रोजी रोजगार के मसलों में कोई गड़बड़ होती तो एक कहता, इसने ये कहा था, वो कहा था...मेहनतकशों का राज बना दिया था... बराबरी और साझे की दुनिया बन सकती है, उसने दिखाया था...। किसी ने अचानक बातचीत में जिक्र कर दिया था, तो रूपादेवी को सबसे भली बात वही लगी थी कि उसने जिस्मफरोशी में लगी औरतों को बेहतर जिंदगी की तरफ पहुंचाया था...

रूपादेवी ने डर, घृणा और निराशा एक साथ महसूस की। ये लोग जिंदा लोगों को कल्ल कर रहे हैं, बुतों को भी बख्शा नहीं जा रहा। कौन हैं ये लोग, पहले के दौर में तो कहीं ऐसे लोग नहीं होते थे। अचानक कैसे और कहां से आ गए? मदारी को मारने वाले, उनके दरवाजे पर आकर धमकाने वाले, बुत गिराने वाले...बड़े सेठ के साथ नारा लगाने वाले...निजाम की मुस्कराहट वाली नजरों के हकदार ये लोग...शायद मुल्क भर में सब जगह मौजूद हैं इस वक्त...

रूपादेवी को लगा कि वे कहां भाग रही हैं? हिंसक मूर्खता से कहीं बचने की उम्मीद नहीं है! सामना करो या खत्म होओ...उसके दिमाग में नगर कोतवाल की दंभ से भरी हंसी धमकी। उसे सहसा सेठ भगवत मल की शांत मगर शांतिर शख्सियत का एहसास हुआ। बड़े सेठ और निजाम की गलबहियां डालते जिस्मों से मुर्दों सी सड़ांध उठने लगी...

क्या यह नहीं था कि सारे सेठों ने सारे निजामों से सांठ गांठकर कोतवाल सिपाहियों की ताकत का इस्तेमाल कर, इन पागलों की जमात पैदाकर सिर्फ अपनी हवस पूरा करने के लिए चालें चली हैं! सिर्फ हवस...महज हवस...हवस...अपनी हवस...पीढ़ियों से पीढ़ियों तक फैली हुई हवस!

सहसा रूपादेवी आगे छूट भागी। उसे आज तक किसी ने दौड़ते नहीं देखा था...बाकी हतप्रभ, उसे पुकारते रह गए कि वह उन वहशियों के एकदम पास पहुंच गई। वे अचानक रुके। उनके सामने एक अजनबी औरत नीचे गिरी भग्न मूर्ति के टुकड़े में से बुत के साबुत बचे माथे से लिपट रही थी। गालियां या भर्त्सना, पता नहीं क्या...उसके मुंह से अजीब सी गुर्राहट जैसी निकल रही थी। उसका जिस्म कांप रहा था या थिरक रहा था! बुत गिराने वाले होश में आए और रूपादेवी पर टूट पड़े...होश के आखिरी कतरे में वह उनके फतवों के बीच डूबती आवाज में एक बार जोर से हांक लगाने को हुई...मगर लगा न सकी। उसे मारने वाले बहुत खूंखार तरीके से उस पर हावी हो गए थे।

फूलमती ने चीख मारी और सब कुछ भूलकर उसे बचाने दौड़ी...पीछे बची हुई औरतें भी चीत्कार करती हुई ढलान पर उतरने लगीं।

किस्सेबाज ने उत्तेजना से दहकती आवाज में कहा “घोषित वेश्याओं और अघोषित पागलों के बीच मुठभेड़ का नजारा था। भयानक नजारा...

“सालो, सोच सकते हो?” वह हंसा। अचानक बहुत भारीपन उसकी आवाज में आ गया, “तवारीख में ऐसी लड़ाई दर्ज नहीं होती है।”

कमरे में हम सब वाकई सोच रहे थे। हम उसके हरेक लफ्ज में उन नजारों को देखते ही रहे। पौ फटने में अब थोड़ा ही वक्त रह गया था। खिड़की के शीशे पर ओस की भारी परत जम चुकी थी। हमारे जेहन पर भी कुछ भारी सा जम गया था। कुछ भाप सा उठ रहा था भीतर...किस्सेबाज पर कोई गुस्सा नहीं आ रहा था अब...सारी रात चले इस किस्से ने हमारी नींद को जबरन जगाये रखा था। फिर भी इस समय कमरे में सर झुकाए हम सभी के अंदर कोई चिढ़, कोई उकताहट, कोई शिकायत न थी...जबकि और किस्सों के बाद हम किस्सेबाज को कोसते हुए, मन ही मन गालियां देते सोने की नाकामयाब कोशिशें करते थे।

हमें किस्सेबाज की खुराफात, उसकी किस्सेबाजी के दम से रश्क हो रहा था। साले ने कितनी खूबी से बहुत दूर की कथा नहीं कही थी! बीते वक्त की कथा नहीं...जैसा उसके शुरू में कहने से लगा था। अब कैसा था यह लगना कि यह कोठे की, कोठेवालों की या सिर्फ किसी खूबसूरत रूपादेवी की भी कथा नहीं थी! बस यही फर्क था...यही फर्क शायद कमरे में सबकी समझ में आ गया था। और हम परेशान हो उठे थे!

शायद हम सभी हिचक रहे थे या किसी के शुरुआत करने की उम्मीद कर रहे थे कि किस्सागो को पहली बार, दिल से, शुक्रिया कहें, वह दरवाजे पर जाकर बोला...“थोड़ी देर सो जाओ। मैं चाय पीने जा रहा हूं। भूटिया चाची ने सिगड़ी सुलगा ली होगी।”

## ‘विचार भी एक अनुभव है’

कुंवर नारायण से वंदना मिश्र की बातचीत

हिंदी के शिखर कवि कुंवर नारायण से सुपरिचित कवयित्री, अनुवादक, पत्रकार वंदना मिश्र ने यह भेंटवार्ता कुछ वर्ष पहले की थी। उस समय कुंवर जी दिल्ली में रहने लगे थे और लखनऊ अपने घर (महानगर) आते जाते रहते थे। ऐसे ही एक प्रवास के दौरान यह बातचीत हुई। बातचीत रिकार्डेड थी। इसे लिपिबद्ध करने में कुछ समय लगा। हस्तलिखित प्रति उन्हें अनुमोदन के लिए दी गई। इस बीच वह पूरी तरह दिल्ली में बस गये। बहुत व्यस्त भी रहने लगे थे। उनकी किताबों और लेखन सामग्री के बीच यह बातचीत कहीं दबी रही! लेकिन उनके अंतिम दिनों में यकायक मिल गई। उन्होंने इसे पूरा देखा। कांटछांट की। अत्यंत दुखद हुआ कि इस साक्षात्कार के प्रकाशन के पूर्व ही दीर्घ अस्वस्थता के बाद कुंवर जी का निधन हो गया। अंततः यह भेंटवार्ता तद्भव में।

— समीक्षकों ने आपके कवि रूप को ज्यादा उभारा है जबकि आपका कथा लेखन भी बहुत सशक्त है। इधर एक प्रवृत्ति देखने को मिलती है कि कवि के कथा लेखन की उपेक्षा की जाती है। उसे कथा के क्षेत्र में बाहरी आदमी या अनाधिकृत चेष्टा करने वाले व्यक्ति के रूप में ट्रीट किया जाता है।

यह ठीक है कि कवियों की कहानियों की कम चर्चा हुई है। एक कारण तो यह भी हो सकता है कि कवियों ने कविताओं की ओर ज्यादा ध्यान दिया इसलिए इनकी कहानियों को लोगों ने दूसरे दर्जे की चीज माना। लेकिन ऐसा नहीं है। मैं समझता हूं श्रीकांत वर्मा, रघुवीर सहाय, मुक्तिबोध अगर ये तीन नाम भी लूं तो इन लोगों का कहानी लेखन बहुत अच्छा है।

कहानी आंदोलन में जो विशुद्ध रूप से कहानीकार रहे हैं उन्होंने शायद इसको ज्यादा

अच्छा समझा कि कहानीकारों की ही चर्चा हो, कवि कहानीकारों की ओर उनका ध्यान अधिक नहीं गया या उन्हें शायद पूरी तरह कहानीकार नहीं माना। उनकी कहानियों को उनका आनुषांगिक लेखन ही समझा गया। हालांकि मैं समझता हूँ ये हिंदी में ही ऐसी बात है। बाहर ऐसा नहीं है। अभी मैं बोर्हेस की चर्चा कर रहा था। अगर बोर्हेस का नाम लूँ तो वह उतने ही सिद्ध कवि हैं, जितने सिद्ध कहानीकार हैं। हालांकि उन्होंने कोई बड़ा फिक्शन नहीं लिखा, उपन्यास नहीं लिखा लेकिन उनकी कहानियाँ बहुत ही सुंदर कहानियाँ हैं और बड़ी प्रेरक हैं। हर कहानी अपने आपमें एक सम्पूर्ण अनुभव देती है। अधिकतर मेटाफिजिकल स्टोरीज हैं और इसकी अपेक्षा उनकी जो कविताएँ हैं वो बहुत यथार्थवादी हैं। इधर के उपन्यासों में आप देखेंगी मारखेज ने भी लीजेंड या लोकोक्तियों वगैरह को आधार बनाकर उपन्यास लिखे हैं और ये बहुत ज्यादा काल्पनिक हैं। तो यह एक अजीब बात है कि कविता काफी कुछ यथार्थ के नजदीक गई है और जो बड़े उपन्यास हैं वे मिथ की ओर, लीजेंड की ओर या कविता के उपकरणों की ओर ज्यादा गये हैं। दोनों का ही, मैं समझता हूँ डाइमेंशन बढ़ा है। कविता बहुत ज्यादा काल्पनिक हो गई तो उसने यथार्थ की ओर बढ़कर अपने दायरे को बढ़ाया, उपन्यास बहुत ज्यादा यथार्थवादी हो गया तो उसने थोड़ा कल्पना की ओर जाकर अपने दायरे को बढ़ाया। यह क्रिया प्रतिक्रिया विभिन्न विधाओं में चलती रहती है।

— कवि कहानीकार का फर्क शायद हमारे यहां भी पहले नहीं था जैसे निराला, प्रसाद...

हां, पहले ऐसा नहीं था। इधर मेरे ख्याल में कहानी का जो मूवमेंट था, वह मूवमेंट कुछ इस तरह चला...

— जिसे युद्ध की तरह लड़ा गया...

मैं तो हंसी में कहता भी था कि ये प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी बना ली है।

— हिंदी आलोचना काफी विवादित रही है। अलग अलग खेमे हैं, अलग अलग पैमाने और सबसे बढ़कर यह कि एक खेमे से प्रशंसित होने का अर्थ दूसरे खेमे से निष्कासित हो जाना सा हो गया है।

मैंने कम से कम यह कोशिश की है कि समीक्षा के मामले में इस तरह की कट्टर रेखायें या दल नहीं बनें और ध्यान कृति पर रहे। हर कृति खुद बताती है कि उसे किस तरह देखा जाये, और उन्हीं शर्तों पर उसका आकलन होना चाहिए। जहां तक विचारधाराओं का सवाल है या पूर्वाग्रहों का सवाल है, वह जरूर रहते हैं लेकिन उनको इतना आक्रामक नहीं होना चाहिये कि वह दूसरी तरह के लेखक को बिल्कुल स्वीकार ही न कर सकें। मैंने स्वयं बहुत से मार्क्सवादी लेखकों को पसंद किया है। अच्छा लेखन हमेशा समझ में आता है चाहे इसके पीछे कोई भी विचारधारा हो, वहां कोई घपला नहीं होने पाता। घपला तब होता है जब घटिया लेखन को हम विचारधारा के बल पर स्थापित करना चाहते हैं। इससे फाल्स वैल्यूज या मिथ्या मूल्य पनपते हैं, जिससे सावधानी की जरूरत है।

जहां तक कहानी की बात है, नामवर जी ने तो बराबर कवि कथाकारों का नाम लिया है अपने भाषणों में। वे हमेशा सचेत रहे हैं इस बात की ओर कि उनको इग्नोर नहीं किया जाना चाहिए। शायद कुछ विवाद भी हुआ था जब उन्होंने विनोद कुमार शुक्ल का नाम लिया था जिनको मैं समझता हूँ, बहुत अच्छे उपन्यासकार हैं। कहानीकार भी हैं और कवि भी उतने ही अच्छे हैं। इसलिए मैं समझता हूँ, अच्छे आलोचक, अच्छे क्रिटिक बराबर सचेत रहते हैं कि..  
. अच्छा लेखन ही प्रकाश में आये।

— कभी कभी समान विचारधारा होते हुए व्याख्या में अंतर होता है जैसे 'अंधेरे में'...

व्याख्या का अंतर तो होगा ही। विचारधारा एक होते हुए भी यह फर्क रहेगा किस दृष्टि से देखते हैं दोनों। रामविलास जी और नामवर जी की व्याख्या में अंतर है क्योंकि साहित्य को लेकर उनकी जो संवेदनशीलता है वह थोड़ी अलग तरह की है उनकी विचारधारा की समानता के बावजूद।

— इस समय समीक्षा और साहित्य का अंतरसम्बंध कैसा है? क्या समीक्षा साहित्य पर कोई असर डाल पा रही है या दोनों एक दूसरे से बेपरवाह अपनी राह चल रहे हैं?

मुझे लगता है 1990-91 के बाद जबसे रूसी मार्क्सवाद का थोड़ा विघटन हुआ है तबसे समीक्षा विचारधारा को लेकर थोड़ा ज्यादा सहज हुई है और लेफ्टिस्ट आग्रह भी अब उतना कट्टर नहीं रह गया है और इस तरह से जो एकेडेमिक शास्त्रीय समीक्षा है वह फिर से सामने आई है और एक यह आग्रह है कि कृतियों को एक दूसरी तरह से ज्यादा व्यापक परिदृश्य में समझा जाये। अब एक ज्यादा खुलापन आया है। इसका क्या नतीजा होगा अभी यह कहना बहुत जल्दी है लेकिन मैं समझता हूँ समीक्षा का क्षेत्र ज्यादा व्यापक होगा जो पहले संकुचित हो गया था, खेमों में बंट गया था।

— हिंदी को संस्कृत से अत्यंत समृद्ध साहित्य परम्परा मिली जिसमें कालिदास, भवभूति जैसे कवि थे, वैदिक ऋचाओं की प्रकृति को सम्बोधित रचनाएँ थीं, संगीत था। हिंदीभाषी क्षेत्र ने अनेक विदेशी संस्कृतियों को आत्मसात किया, अनेक सामाजिक राजनीतिक आंदोलनों में भागीदार रहा, सामाजिक उथलपुथल और विसंगतियों का केंद्र रहा, फिर क्या कारण है कि छोटे छोटे देशों के साहित्य ने तो अंग्रेजी के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान बनायी किंतु हिंदी साहित्य न सिर्फ विश्व परिदृश्य पर अपनी कोई छाप छोड़ पाया, बल्कि अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य के संदर्भ में भी वह किसी विशिष्टता का दावा नहीं कर पा रहा?

हाल में मैंने थोड़ा अध्ययन किया मध्यकालीन साहित्य का। अभी भोपाल में जो सेमिनार हुआ था उसमें मैंने एक पेपर पढ़ा था, बोला भी था। मेरा ख्याल है कि जब भारतीयता की अपनी पहचान की बात उठी तो हमने अपने को सीधे संस्कृत साहित्य से जोड़ा, पाश्चात्य साहित्य से जोड़ा, उनके सिद्धांतों से जोड़ा, लेकिन यह जो डेढ़ हजार साल का मध्यकालीन साहित्य था उससे हमने कभी अपने को गम्भीरता से नहीं जोड़ा। हम हमेशा उसे भक्तिकालीन, आर्थोडाक्स मूवमेंट कहकर अस्वीकार करते रहे, अगर अस्वीकार नहीं तो उससे बचते रहे।

एकेडेमिक अध्ययन बहुत से हुए, अब भी हो रहे हैं लेकिन उसको इस तरह रखा जाता है जैसे वह हमारे पूरे इतिहास में एक खंड था जिसका आज से कोई सम्बंध नहीं, और सच पूछिये तो हमारी भाषा, हमारी संवेदना और हमारी काव्यदृष्टि ये तीनों कहीं ज्यादा घनिष्ठ रूप से हमारे मध्यकालीन साहित्य से जुड़े हैं बजाय संस्कृत या पाश्चात्य से।

जो हमारी भाषा हिंदी आज है, अपभ्रंश से आई है और अपभ्रंश का साहित्य भक्तिकालीन साहित्य है। इसको मैं बहुत बड़ी निधि भी समझता हूँ। आप कभी इस बात पर ध्यान दीजिएगा कि इतना बड़ा सामाजिक मूवमेंट, राजनीतिक मूवमेंट सिर्फ इसी कविता के बल पर एक रख सका इतने बड़े देश को। कविता का ऐसा उदाहरण दुनिया में कहीं नहीं मिलेगा।

राजनीति में हम दसों टुकड़े हों जाते हैं लेकिन जब आप इमोशनली सोचती हैं, उर्दू शायरी हो चाहे हिंदी कविता, तो अलग करना मुश्किल हो जाता है। चाहे सूफी धर्म भावना हो, भक्ति धर्म भावना हो, ऐसे एक दूसरे में घुलेमिले हैं कि हम चाहकर भी उनको अलग नहीं कर सकते। केवल आप काव्यसम्पदा को लीजिये। दोहे की यात्रा को लीजिये। अल्लारों से, नयनारों से दक्षिण

से लेकर उत्तर भारत तक केवल दोहे की यात्रा... बिहारी और आज तक में चले आइये। इतना बड़ा मूवमेंट खाली दो लाइन के एक कपलेट के ऊपर चला। हम कंटेंट की बात नहीं कर रहे हैं, राम या कृष्णभक्ति की बात नहीं कर रहे हैं, हम सिर्फ कविता की बात कर रहे हैं। दुनिया में कहीं ऐसा उदाहरण है कि कविता का हमारे सामाजिक जीवन में इतना बड़ा रोल रहा हो? वह हमारे संगीत में व्याप्त है, हमारे नृत्य में व्याप्त है, हमारी कविता में व्याप्त है और हमारी भाषा में व्याप्त है। आज भी आप संगीत सुनती हैं, वही राधाकृष्ण आलम्बन पर है लेकिन आप भावविभोर हो उठते हैं। हमने मान लिया ये डार्क एजेज थे जैसा वेस्ट में कहा जाता है, लेकिन हमारे यहां का मध्ययुग डार्क एज नहीं था।

इतनी जातियां हमारे यहां आईं, हम उनके कंट्रीव्यूशन को ही भूल गये। आप कभी केरल के माप्पिला गीतों को सुनिये। ये अरब की देन है। अब भी अरब ट्राइब्स वहां वैसे ही रह रही हैं। अरब केवल उत्तर भारत से नहीं आये थे, सी रूट से भी आये थे। अरब की बड़ी स्ट्रॉंग सी रूट, नेवल हिस्ट्री है। व्यापार के लिए आते थे। वे भारत के दक्षिण में रहे, वहां की भाषा उन्होंने ली। उसको अपने विचार दिये। अरब में भी सूफी विचारधारा आ चुकी थी जो अद्वैत के साथ मिल गई यहां, क्योंकि दोनों में भाववैभिन्य नहीं है बहुत ज्यादा। तो इन सब चीजों को बहुत गम्भीरता से हमारी आधुनिकता के साथ नहीं जोड़ा गया।

संस्कृत की प्रकृति बहुत भिन्न है। हमारी हिंदी की प्रकृति उससे बहुत मेल नहीं खाती। वह बहुत संशुअस पोयट्री है और बड़ी प्रेसाइज भाषा है। हमने जो भाषा पायी है, वह इन लोगों से पायी है, मध्यकाल से पायी है।

हम अपने को संस्कृत से तो जोड़ते रहे क्योंकि वह ग्लोरिफाइड लैंग्वेज थी लेकिन प्राकृत, अपभ्रंश वगैरह उसकी अपेक्षा लोकभाषाएं थीं, उनसे जुड़ने में परहेज करते रहे।

— शायद इस पीरियड के रिइंटरप्रेटेशन से कुछ बात बने।

इस पीरियड पर बहुत लिखा गया है। विश्वविद्यालयों में जितनी रिसर्च हुई है अधिक इसी पर हुई है। मैं कह रहा हूं कि इसको कनेक्ट नहीं किया गया है।

— अन्य भारतीय भाषाओं, जैसे मलयालम, बांग्ला वगैरह की तुलना में हमारी स्थिति बेहतर नहीं।

इसके दो कारण हैं। हमारे यहां शिक्षा इनकी अपेक्षा कम है। जैसे केरल में सेंट पर्सेंट शिक्षा है। कम्परेटिवली बंगाल में भी शिक्षा ज्यादा है। महाराष्ट्र वगैरह में आप जाइये वहां पढ़े लिखे लोग सामान्य तौर पर पत्रिकाएं पढ़ते दिखते हैं। अपेक्षाकृत जितना बड़ा हमारा क्षेत्र है, उतनी शिक्षा यहां नहीं है। एक तो यह बड़ा कारण है और दूसरा मुझे लगता है जिस तरह बांग्ला, मराठी, मलयालम साहित्य अपनी परम्परा से लगातार जुड़े रहे उस तरह से हम नहीं जुड़े रहे। हमारे बीच बीच में जो गैप्स आये उनको हमने ठीक से आत्मसात नहीं किया। आज की खड़ी बोली हिंदी को आप देखिये तो यह मुश्किल से सौ साल पुरानी है; जबकि बांग्ला आसानी से कम से कम चार सौ, तीन सौ या पांच सौ साल पुरानी है। तो इससे भी बड़ा फर्क पड़ा। हमारी भाषा हमें बनानी पड़ी। आजादी मिली तो हम थे, रघुवीर थे, हमें एक ही चिंता थी, यह जल्दी थी कि हम कैसे जल्दी से जल्दी इतने एक्सपेरीमेंट्स कर डालें कि हिंदी कविता दुनिया की किसी भी कविता के बराबर हो। एक कारण एक्सपेरीमेंट्स का यह भी था कि हम वह सब कर सकें जो कोई और भाषा कर सकती है। इसमें दिक्कतें भी आती थीं।

मैं मानता हूं केवल भाषा से इतना फर्क नहीं पड़ता, जैसे शेक्सपियर ने जब लिखना शुरू किया था तो अंग्रेजी भाषा बहुत विकसित भाषा नहीं थी। यूरोप में कम से कम चार पांच भाषाएं

ऐसी थीं जो अंग्रेजी से कहीं ज्यादा विकसित थीं। एक बड़ी प्रतिभा जब आती है तो वह भाषा को समृद्ध करती है। भाषा से लेती भी है और उससे कहीं ज्यादा देती है। इस दृष्टि से देखें तो हिंदी का जितना विकास इधर पचास वर्षों में हुआ है उतना पहले नहीं हुआ था। इतने लोग काम कर रहे हैं और अच्छा काम कर रहे हैं। इसे आप मेरी प्रेजुडिस मान सकती हैं मगर आज जो हिंदी कविता लिखी जा रही है वह दुनिया की किसी भी भाषा में लिखी जा रही कविता से कमजोर नहीं है, यह मैं निश्चित मानता हूं।

—कथा साहित्य?

कथा साहित्य भी बहुत अच्छा लिखा जा रहा है, लेकिन हां, उपन्यास में मुझे ऐसा नहीं लगता कि वह गहराई है जो इधर के कई गैर अंग्रेजी उपन्यासकारों के उपन्यासों में हमको मिल सकती है। इसका भी एक कारण मुझे यह लगता है कि हम लोगों ने कभी अपने कथा साहित्य को ठीक से समझने की कोशिश नहीं की जैसे 'कथासरितसागर', 'बृहत कथा मंजरी'।

लेकिन हमारे यहां जो पहला उदाहरण मैं सोच पाता हूं वह हजारी प्रसाद द्विवेदी का ही सोच पाता हूं। अभी उपन्यास आया है सलमान रुश्दी का, पूरी तकनीक उन्होंने 'कथा सरित सागर' से ली है। आपने देखा होगा।

'कथासरितसागर', पढ़ा है या नहीं?

—नहीं।

आप पढ़िये इसको। इसका खाली क्राफ्ट देखिये। जो बात में भक्ति साहित्य के बारे में कह रहा था वही मैं इसके लिए भी कहना चाहता हूं कि हम कंटेंट पर चले जाते हैं तो ये तो कहानियां हैं, परी की, तोता मैना की। आप केवल क्राफ्ट देखिये।

डाग्मेटिक नहीं होना चाहिए। हमें जहां छंद की जरूरत होगी वहां हम छंद ले लेंगे। जहां मुक्तछंद में अपनी बात कह सकेंगे वहां मुक्त छंद में कहेंगे। मुक्तछंद में भी लिखें लेकिन यदि आपकी छंद की बैकग्राउंड है तो आपके मुक्तछंद में दूसरी आभा आयेगी।

—आप बहुत अध्ययनशील हैं, विद्वान हैं। क्या आपका बहुपठित होना किसी तरह से आपकी सर्जना को बाधित करता है।

मुझे ऐसा नहीं लगता। एक तो वह सीधे मेरे लेखन में आता नहीं है, प्रच्छन्न रूप से कहीं मौजूद रहता है हमारे पूरे सोच विचार में; और जब मैं लिखने बैठता हूं तो यह एक नियंत्रक के रूप में तो काम करता है लेकिन नियामक नहीं बन जाता। जैसा मैंने कभी कहा, इससे चीजों के बारे में सोचने विचारने में मदद मिलती है। फिर, जब मुझे मालूम रहता है कि और लोगों ने इस विषय पर क्या लिखा, कैसा लिखा तो इस ओर से थोड़ी सावधानी रहती है कि हम उनकी बात को दोहराएँ नहीं। अगर कुछ नया कहना है तो कहूँ वरना मान लूँ कि उन्होंने हमसे बेहतर कहा है, उसे दोहराने से क्या फायदा। मेरे मामले में तो ऐसा नहीं है कि पढ़ा सुना बाधक होता है, वह सहायक ही होता है।

पढ़ने को मैं जीवन में विशेष महत्व देता हूँ; इससे अनुभवों में गहराई और दूरदर्शिता आती है। पढ़ने की दुनिया अलग है, लिखने की अलग, दोनों एक दूसरे के सहायक हैं विरोधी नहीं।

—आपके काव्य संग्रहों के बीच लम्बे अंतराल का कारण?

आपने देखा होगा कि मेरे संग्रह काफी लम्बे अंतराल के बाद आते रहे हैं। सात आठ साल कोई चीज नहीं आती तो इसका एक कारण है कि मैं तुरंत नहीं छपाता चाहे पत्रिका में हो चाहे पुस्तक हो। दूसरे, बराबर पढ़ता लिखता रहता हूँ, और क्या लिखा जा रहा है देखता रहता हूँ और कोशिश यही करता हूँ कि जो भी लिखूँ या कहूँ सोच विचार कर ही लिखूँ कहूँ। लेखन के साथ

जो एक भावनात्मक जुड़ाव होता है वह तुरंत होता है। तो मैं थोड़ा समय देता हूं कि वह भावनात्मक जुड़ाव जजमेंट पर हावी नहीं रहे, थोड़े समय बाद हम अलग होकर उस चीज को देख सकें।

—लेकिन जैसे कोई तात्कालिक उत्प्रेरक हो, कोई घटना जिससे आप उद्वेलित हों और कुछ लिखें...

ऐसे में हो सकता है नोट्स लिखकर डाल दूं, कुछ लाइनें। जैसे अयोध्या पर मेरी कविता है। अयोध्या की घटना 91-92 में हुई थी। कविता थोड़े बाद में छपी लेकिन मैंने उसके कुछ अंश तभी लिख लिये थे। फिर दुबारा जब उसे उठाया शायद चार पांच महीने बाद तब वह कविता पूरी हुई।

— या आपकी इराक सम्बंधी कविता

वह भी इराक की लड़ाई खत्म होने के कुछ बाद लिखी गई। टी.वी. में तेल में डूबी हुई एक चिड़िया की तस्वीर थी। उससे उस कविता की पूरी जमीन मुझे मिली कि इतनी बड़ी घटना हो गई, इतने लोग मारे गये और उसको ऐसा दिखाया जा रहा है कि जैसे सिर्फ इतनी कैजुअलिटी हुई कि तेल में डूबी हुई एक चिड़िया है और वह भी बचा ली गई। टी.वी. पर जो रिपोर्टिंग होती थी उससे बिल्कुल पता नहीं लगता था कि कितना विनाश हुआ। मीडिया का किस तरह भयानक रूप से इस्तेमाल हो सकता है, इसका यह एक उदाहरण था।

— भारतीय मूल के अंग्रेजी लेखकों की रचनाएं आपको कैसी लगती हैं, उनकी लोकप्रियता का आधार, मूल्यांकन?

अच्छी लगती हैं। ये उपन्यासकार प्रतिभासम्पन्न हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है लेकिन जरूर उनके पीछे कहीं यह मानसिकता रहती है कि ये पाश्चात्य पाठकों के लिए लिखे जा रहे हैं...

—मार्केट समझकर...

कुछ न कुछ बाजार दृष्टि में रहता है लेकिन पूरी तरह से उतना ही कारण नहीं होता। बाजार को दृष्टि में रखकर लिखें तो भी अगर प्रतिभासम्पन्न नहीं हैं तो सफल लेखक नहीं बन सकेंगे। मैं समझता हूं सलमान रुश्दी में, विक्रम सेठ में, अरुंधती राय में निश्चित रूप से प्रतिभा है।

— इनकी लोकप्रियता का कारण?

एक कारण तो यह लगता है कि ये एक बिल्कुल फर्क तरह की जिंदगी उपन्यासों में पेश करते हैं जिससे पाश्चात्य पाठक पूरी तरह से परिचित नहीं हैं। उसका यह अजूबापन उन्हें अच्छा लगता है। फिर एक ऐसी जिंदगी, जो कहना चाहिए उनकी कल्पना से परे है, वह आती है इन उपन्यासों में।

वहां के उपन्यासों में ऐसी बहुत सी चीजें कोई मायने नहीं रखतीं। आज वो समस्याएं ही नहीं रह गई हैं उनकी। भारत में अगर हैं तो उस ओर उनकी रुचि जाती है।

— अंग्रेजी में लिखने वाले भारतीयों की पुरानी पीढ़ी जैसे नीरद सी चौधरी और नयी पीढ़ी में आप क्या फर्क महसूस करते हैं?

देखिये एक फर्क तो यह है कि नयी पीढ़ी भारतीय जीवन को लेकर अधिक सहानुभूतिपूर्ण ढंग से लिखती है, देखती है। जबकि जैसे नीरद चौधरी को अगर आप लें तो उनका पूरा दृष्टिकोण अंग्रेजी दृष्टिकोण है। वह अंग्रेजी दृष्टिकोण से भारत को देखते हैं; या जैसे नायपाल का लेखन है, उन्होंने भारत का एक बहुत ही अंधेरा पक्ष चित्रित किया है अपने लेखन में लेकिन उनके इधर के लेखन में भारत को लेकर एक फर्क दिखलायी पड़ता है, यह अधिक सहिष्णु एटीट्यूड है।

— किन विदेशी साहित्यकारों का प्रभाव आप हिंदी साहित्य पर देखते हैं?



एक दो का नाम लेना मुश्किल है लेकिन मुझे लगता है कि कविता में अगर देखें तो जो ईस्ट यूरोपियन पोयेट्स हैं जैसे पोलैण्ड के तादेऊश रुजेविच, ज्वीग्न्येव हेर्वैत वगैरह हैं... वैसे ही जो कार्टिनेल पोयट्री है योरप की उसमें रिल्के हैं। ऐसे ही लैटिन अमेरिकन पोयेट्स हैं। इन्होंने शायद भारत की कविता को ज्यादा प्रभावित किया है। ठेठ अंग्रेजी कवियों ने इतना प्रभावित नहीं किया। इंग्लैंड या अमेरिका के कवियों का मुझे कोई साफ असर नहीं दिखायी देता। उनके काव्य सिद्धांतों ने जरूर असर डाला है हमारे सोचने के ढंग पर लेकिन कविता पर शायद ईस्ट योरोपियन और लैटिन अमेरिकन पोयट्री का असर पिछले बीस साल में ज्यादा साफ दिखायी देता है। लैटिन अमेरिका के होर्हे लुईस बोर्हेस मुझे बहुत पसंद हैं।

— *हिंदी साहित्य पर रुश्दी की टिप्पणी।*

जाहिर है रुश्दी उस सारे लेखन से परिचित नहीं हैं जिसका वह कोई जिक्र नहीं करते। जितने से परिचित हैं उसका किया जैसे मंटो का जिक्र किया। रुश्दी का लेख ही इस बात का सबसे बड़ा साक्ष्य है कि उन्हें हिंदी या दूसरी भाषाओं के साहित्य का ज्ञान नहीं है।

— *रुश्दी को भारत आने का वीजा दिये जाने को लेकर काफी हंगामा हुआ है।*

मैं इसको तो गलत समझता हूँ कि धार्मिक कारणों या इस तरह के अन्य कारणों से किसी व्यक्ति का किसी देश में प्रवेश रोका जाये।

— *मिलान कुद्रेरा और मार्खेज के उपन्यास।*

मुझे दोनों ही लेखक बहुत पसंद हैं। मार्खेज को मैं इस सदी के बहुत ही उत्कृष्ट उपन्यासकारों में मानता हूँ और 'लव इन द टाइम ऑफ कॉलरा' तो इनका एक अद्भुत उपन्यास है, हालांकि उनके 'वन हंड्रेड ईयर्स ऑफ सॉलिट्यूड' का बहुत जिक्र हुआ। यह भी एक बड़ी बात है कि एक उपन्यासकार आम तौर पर एक या दो से अधिक अच्छे उपन्यास नहीं दे पाता लेकिन मार्खेज के कई उपन्यास मुझे बहुत अच्छे लगे। कहानियाँ भी उतनी ही उत्कृष्ट हैं। वे निश्चित रूप से फिक्शन के क्षेत्र में बड़े और महान लेखक माने जाएंगे। मिलान कुद्रेरा इनकी अपेक्षा मुझे कम पसंद आते हैं। लेकिन वह भी बहुत अच्छे उपन्यासकारों में हैं, खास तौर पर उनका 'जोक' मुझे बहुत पसंद आया था। 'लाइफ इज एल्सव्हेयर' भी। आपको शायद यह बात थोड़ा चौंकायेगी लेकिन मुझे इनकी किताब 'आर्ट ऑफ फिक्शन' बहुत पसंद आई थी।

— *क्या मार्खेज के मुकाबले मिलान ज्यादा आसान नहीं?*

हां यह तो है।

— *क्या इसीलिए मिलान मार्खेज के मुकाबले ज्यादा पठनीय बन जाते हैं?*

नहीं ऐसा तो नहीं लगा मुझे। मार्खेज बहुत पठनीय हैं। ऐसा कम ही हुआ है मेरे साथ कि एक उपन्यास शुरू करूँ और फिर बिना खत्म किये रख सकूँ। शायद मार्खेज में ही यह गुण है। कहानी कहने का उनका अंदाज अद्भुत है।

— *कई बार ऐसा होता है कि कविता पर कवि और समीक्षकों की राय फर्क हो जाती है। कवि की कुछ रचनाएँ जो उसे काफी पसंद होती हैं समीक्षक से उपेक्षित रह जाती हैं। क्या आपकी किसी कविता के साथ ऐसा हुआ?*

मेरी एक कविता जिस पर लोगों का ध्यान नहीं गया वह है 'मुश्किल से शुरू हुई दुनिया' जो 'कोई दूसरा नहीं' में संकलित है। वह मुझे अपनी बहुत अच्छी कविताओं में से लगती है लेकिन उसकी चर्चा कम हुई। शायद उसका क्राफ्ट ऐसा है कि समझने में मुश्किल होती है। अयोध्या पर मेरी कविता की चर्चा हुई लेकिन जिस तरह से अयोध्या उस कविता में आई है उसकी ओर लोगों का ध्यान ज्यादा नहीं गया।

— आप उर्दू नज्म भी लिखते हैं, छपवायी नहीं?

वह शायरी नहीं, डायरी है। सिर्फ अभ्यास के लिए लिखता हूँ। उर्दू के छंद का अगर अभ्यास होता रहे तो अच्छा रहता है। छंद में अगर अच्छी गति है तो मुक्त छंद भी बेहतर होता है। उर्दू शायरी मुख्य रूप से मेरी जमीन नहीं।

— हिंदी उर्दू विवाद का मूल कारण आपकी नजर में?

मैं समझता हूँ थोड़ा बहुत तो ये दोनों भाषाएं एक ही हैं, लिपि अलग अलग जरूर हैं। इनका विकास का क्रम भी थोड़ा बहुत एक ही है। अगर हम पुरानी हिंदी अपभ्रंश और अब तक देखें तो वही क्रम है। उर्दू ए मुअल्ला शाहजहां के वक्त से मानते हैं। ऐसा नहीं है, और पीछे जाइये तो एक ट्रेंड है संत कवियों का जिसका एक उदाहरण कबीर हैं। वह जहां भी जाते थे वहां की भाषा के शब्दों को लेकर अपनी भाषा में मिलाकर बोलते थे ताकि लोगों की समझ में आ सके। ठीक यही हिंदी के साथ भी हुआ। इसे लश्करी जुबान जरूर कह देते हैं लेकिन यह बाजार की जो हिंदी प्रचलित थी उसमें यहां आने वाले विदेशी अपने शब्द मिलाकर कामचलाऊ भाषा बना लेते थे। तो यह जो क्रम है इसका लम्बा इतिहास है कम से कम हजार डेढ़ हजार साल का, जबसे मुसलमान भारत में आये। भारत में आर्य और दूसरी जातियां इसी तरह से अपना काम चलाती थीं और धीरे धीरे यही भाषा स्थापित होती चली जाती थी। उसी कड़ी में लेटेस्ट है हिंदी उर्दू का विकास। मुझे लगता है हिंदी उर्दू विवाद सिर्फ एक जातीय और राजनैतिक ढंग से उठाया गया विवाद है लेकिन भाषा उस विवाद को स्वीकार नहीं करती। हम हिंदी बोलने लिखने वाले आसानी से उर्दू को भी लिख बोल और समझ सकते हैं। फिर भी यदि वे ऐसा चाहते हैं तो मान लेने में क्या हर्ज है।

— आप संगीत के अनुरागी पारखी हैं। संगीत की बैठकें आपके घर पर होती रहती हैं। आपको विशेष रूप से कैसा संगीत पसंद है?

पारखी तो मैं अपने को नहीं कहूंगा, हां सुनने का शौक है। मुख्य रूप से संगीत में मुझे ख्याल और ध्रुपद पसंद है। ध्रुपद गायकी अभी इधर हाल में फिर से सामने आई है बीच में तो बिल्कुल बैकग्राउंड में चली गई थी लेकिन अब डागर बंधुओं की वजह से और बिहार की मलिक फैमिली, सीताराम जी ने काफी काम किया है।

ख्याल गायकी में कुछ लोगों ने जैसे फैयाज खां साहब ने धमार का पुट दिया तो मुझे ये प्रयोग अच्छे लगते हैं। आजकल गुंडेचा बंधु बहुत अच्छा ध्रुपद गा रहे हैं। ख्याल गायकी तो खैर इस्टैब्लिश्ड गायकी है ही। इसमें मुझे ग्वालियर घराने के अमीर खां साहब बहुत पसंद हैं। आजकल एक गायिका हैं जिनका नाम नहीं लेते लोग— मालिनी राजुलकर लेकिन मैं समझता हूँ इतनी शुद्ध गायकी हमको कम सुनने को मिली है। लोग बड़े बड़े नाम लेते हैं— किशोरी अमोनकर वगैरह के लेकिन आप ध्यान से कभी मालिनी जी का गाना सुनिये, बहुत ही सुंदर गायिका हैं। और नये लोगों में अश्विनी भिडे बहुत अच्छा गा रही हैं। जसराज जी तो खैर प्रिय गायकों में से हैं। निसार हुसैन खां साहब मुझे बहुत पसंद थे। इनके जैसा तराना गाने वाला वो या अमीर खां साहब। फैयाज खां साहब बहुत पसंद हैं मुझे, मगर उनके बाद उनका घराना, आगरा घराना कुछ कमजोर पड़ गया।

— परवीन सुलताना और किशोरी अमोनकर?

किशोरी अमोनकर निश्चित रूप से बहुत अच्छा गाती हैं। परवीन सुलताना में कारीगरी कुछ ज्यादा है।

— लेकिन उनका पंचम पर अधिकार।

हां, यह बात है। लेकिन पाकिस्तानी गायक जैसे आबिदा परवीन। ये लोग कितना खूबसूरत गा रहे हैं या फतेह अली बहुत अच्छे गायक थे। वैसे ठीक कह रही हैं आप, पंचम का काम परवीन सुल्ताना का बहुत अच्छा है लेकिन लगता है एक लेवल के बाद जाकर उसमें इन्स्पयर्ड संगीत वाला मजा नहीं आता जैसे अमीर खां साहब जब गाते हैं तो आप देखिये जैसे लहरों पर कोई किशती डोल रही हो। नीचे से नीचे सप्तकों पर निकल जाएंगे, आ जाएंगे, ऐसे सहज भाव से कि आपको कहीं झटका नहीं लगेगा।

— *पंडित ओंकार नाथ ठाकुर?*

हां, पंडित जी बहुत अच्छा गाते थे। उनसे मैं थोड़ा परिचित भी था। आते भी थे वह हमारे यहां। पंडित मल्लिकार्जुन मंसूर मुझे बहुत पसंद थे।

— *आपने ख्याल में फैयाज खां साहब के प्रयोग की चर्चा की थी*

प्रयोग फैयाज साहब ने तो किये ही ध्रुपद के अंग उसमें लगाये... धमार वगैरह और ये प्रयोग काफी सफल रहे... और लोगों ने भी प्रयोग किये। प्रयोग की गुंजाइश तो हमेशा रहती है। इसका एक एक्सट्रीम उदाहरण है रागमाला। उसमें तमाम रागों को मिक्स करते हैं। आप कभी मालिनी जी का रागमाला सुनिये। आपकी तबीयत खुश हो जायेगी। इतना अच्छा मर्ज करती हैं एक राग को दूसरे में।

— *उपशास्त्रीय संगीत?*

उपशास्त्रीय संगीत भी पसंद है। मुझे बेगम अख्तर पसंद हैं। ठुमरी में बड़े गुलाम अली खां साहब बहुत पसंद हैं।

— *कौन से राग आपको विशेष रूप से पसंद हैं?*

मुझे कई राग पसंद हैं जैसे हंसध्वनि, मारू विहाग, विहाग दोनों। सारंग के भेद मल्हार के भेद रामदासी और मेघ दोनों ही पसंद हैं। मुझे लगता है कि ऋतु के साथ जितना अच्छा सामंजस्य मल्हार रागों का बैठता है शायद उतना अच्छा बसंत का भी नहीं बैठता।

भीमसेन जी बहुत अच्छा गाते हैं। उन्होंने छायानट और मल्हार को जैसे मिक्स किया है छाया मल्हार में, वह बहुत सुंदर है। तो यह भी एक प्रयोग है। और उनकी पूरी गायकी में अंभग गायकी का जो एक आभास सा मिलता रहता है, वह भी है। फिर आप प्रयोगों में कुमार गंधर्व के प्रयोगों को याद कीजिये। उन्होंने तमाम लोकधुनों को लेकर गाया और कबीर के निर्गुण की तो जैसी सुंदर अवतारणा उन्होंने की है वह बहुत मुश्किल है।

— *उन्होंने तो तुलसीदास के पद भी गाये*

हां, लेकिन इनका तुलसीदास मुझे कम पसंद आया है। जहां तक मुझे याद है एक बार जितेंद्र अभिषेकी ने तुलसीदास को गाया था, वह बड़ा अच्छा लगा था।

— *संयुक्ता पाणिग्रही के पति रघुनाथ जी ने भी तो तुलसीदास को बहुत अच्छा गाया है।*

हां, उन्हें मैंने सुना है। यहां हमारे घर पर भी गाया है उन्होंने। बहुत अच्छा गाते हैं।

— *लेकिन क्या वह कुछ उपेक्षित नहीं रहे...*

देखिये इन लोगों की गायकी पूरी जयदेव के गीत गोविंद के साथ, नृत्य के साथ इस तरह जुड़ी है कि लोगों का ध्यान नहीं जाता कि वह अपने आप में अच्छे, सफल गायक भी हैं। आप ठीक कह रही हैं, रघुनाथ पाणिग्रही की गायकी की ओर लोगों का ध्यान जाना चाहिए।

— *गायिकी का कौन सा घराना आपको पसंद है?*

म्वालियर घराने की गायकी मुझे प्रिय है। अमीर खां साहब और मालिनी राजुलकर दोनों इसी

घराने के हैं लेकिन लोगों के दिमाग में केवल कृष्णराव पंडित और लक्ष्मण राव पंडित की गायकी है। ये दोनों बहुत टर्स गायक हैं— ग्रामर गाते हैं लेकिन हैं बहुत ही कुशल गायक।

ग्वालियर घराना तो वास्तव में लखनऊ की ख्याल गायकी का घराना है। हद्दू खां— हस्सू खां यहीं लखनऊ के रहने वाले थे। जब यहां नवाबों के जमाने में दादरा टुमरी लाइट क्लासिकल का जोर बढ़ा तो वे सब भागकर ग्वालियर चले गये थे। यहां के जो अंतिम बड़े ख्याल गायक थे, गुलाम रसूल। वह यहां से चले गये थे और फिर यही घराना बाद में ग्वालियर घराना हो गया और लखनऊ की गायकी वहां पनपी। यहां टुमरी वगैरह पनपी।

— आप फिल्मों के शौकीन हैं। आपको हर तरह की देशी विदेशी फिल्में देखने का मौका मिलता रहा है। आपको किस तरह की फिल्में पसंद हैं?

ये जो पापुलर हालीवुड फिल्में हैं ये सब तो मैं बहुत देखता नहीं हूं। ये ज्यादा पसंद नहीं हैं। वैसे थ्रिलर के रूप में बैठकर देख लूं, वह और बात है। अगर कैटेगराइज करना हो तो इनमें कुछ बड़े, सुपर्व आर्टिस्ट हैं जैसे स्पीलबर्ग का नाम लूंगा मैं, पापुलर होते हुए भी इस आदमी के पास एक आर्ट है, जेनुइन आर्ट। लेकिन वो मेरे ढंग की फिल्में नहीं हैं। फ्रांस के न्यूवेव सिनेमा पर सहित्य का काफी असर रहा है। मुझे पोलिश डायरेक्टर किसलॉस्की पसंद हैं। आंद्रे वायदा मुझे बहुत पसंद हैं। फ्रेंच न्यू वेव फिल्मकारों में, गोदार हैं। बर्गमन शाब्रोल पसंद हैं। क्यूब्रिक की फिल्में बहुत खूबसूरत हैं, किस किसका नाम लूं! चार्ली चैप्लिन, आपको लगेगा मैं किस ह्यूमरिस्ट का नाम ले रहा हूं लेकिन वह जीनियस है। मैं समझता हूं वन आफ द ग्रेटेस्ट पर्सनलिटीज आफ द ट्वेंटिएथ सेंचुरी। उस पर तो जितना लिखा जाये कम है।

भारतीय फिल्मकारों में सत्यजित राय, मृणाल सेन, अडूर गोपाल कृष्णन बहुत ही कुशल हैं। श्याम बेनेगल की फिल्में पसंद हैं।

— और मणि कौल?

मणि कौल ने साहित्यिक विषयों पर फिल्में बनायी हैं। उनको लेकर लोगों में दो तरह की राय है। कुछ लोगों को पसंद आई और कुछ को लगता है कि वह साहित्यिक विषयों से ठीक से जुड़ नहीं पाते हैं। जैसे उन्होंने मुक्तिबोध पर फिल्म बनायी है— 'सतह से उठता आदमी'। मुझे अच्छी लगी, फिल्म अपनेआप में अच्छी है। अगर सोचें कि मुक्तिबोध पर फिल्म है तो शायद कमियां दिखायी देती हैं। लेकिन मेरा ख्याल है कि उनकी डाक्यूमेंट्री बहुत अच्छी हैं, जैसे उन्होंने ध्रुपद पर फिल्म बनायी है। बहुत बढ़िया है। डाक्यूमेंट्री के मामले में मणि कौल का मुकाबला नहीं है। वह बहुत सेंसिटिव फिल्म मेकर हैं।

— ऋत्तिक घटक...?

ऋत्तिक घटक तो जीनियस हैं। बहुत ही अच्छे फिल्म मेकर्स में से हैं। वह मुझे कितने पसंद हैं। इसका अंदाजा आप इसी से लगा सकती हैं कि उनकी लगभग सारी फिल्में मेरे पास हैं।

— फिल्मों की सुना है आपके पास अच्छी खासी लाइब्रेरी है...

हां, फिल्मों की अच्छी लाइब्रेरी है। जब लंदन में जाता था तो मेरा पहला काम यही होता कि फिल्में क्लासिक्स लाता।

— और कौन निर्देशक आपको पसंद हैं?

फेलिनी का नाम मैंने नहीं लिया था। फेलिनी मुझे बहुत पसंद हैं। तारकोव्स्की तो अद्भुत है। मैंने तारकोव्स्की पर काफी लिखा भी है और उसको तो हम मानने हैं कि पोयेट्स अमंग फिल्म मेकर्स। हालांकि शायद सत्यजित राय को बहुत पसंद नहीं थे। एक बार फिल्म फेस्टिवल में उनका फोन आया कि उनके लिए तारकोव्स्की की 'सैक्रिफाइस' का स्पेशल शो किया जा रहा

है। मुझेको बुलाया कि आओ साथ ही देखेंगे फिल्म।

सत्यजित राय और मेरा काफी साथ रहता था।

शतरंज के खिलाड़ी बना रहे थे, सबसे परिचय हुआ। फिल्म फेस्टिवल में अक्सर मिल जाते थे। वहां गये, अगल बगल बैठे हम लोग। (दो तीन लोग थे)। शायद शबाना आजमी भी थीं। फिल्म खत्म हुई तो मैंने पूछा मानिक दा, कैसी लगी फिल्म तो उन्होंने कहा 'रादर हेवी'। कम बोलते थे, वहां बस इतना ही बोले। इसका मतलब यह नहीं कि उनको पसंद नहीं थे। फिर बात की तो उन्होंने कहा बहुत अच्छा फिल्म मेकर है, बहुत सेंसिटिव। जापानी में कुरोसावा, ओजू।

कुछ तुर्की फिल्में भी मुझे बहुत पसंद आईं। इलमान गुने, वह बहुत प्रतिभासम्पन्न फिल्म मेकर है। वोकरं वाई मुझे पसंद हैं। यह विषय तो बेहद लम्बा है। लगभग एक पुस्तक बराबर तो लिख ही चुका हूं इस विषय पर।

— आपने नाटक क्यों नहीं लिखे...

मैंने दो नाटक लिखे थे। मेरी दृष्टि में दोनों असफल नाटक हैं। सौ मंचन हुए थे एक नाटक के, सूचना विभाग ने किये थे। मेरा कमेंट इसी से समझ लीजिये कि मैंने इसकी एक भी प्रस्तुति नहीं देखी।

— आप प्रस्तुति से नाखुश थे...

नहीं नहीं, कुछ ऐसा हुआ कि मैं देख नहीं पाया, मैं आज भी समझता हूं कि वे बहुत सफल नाटक नहीं थे। एक नाटक की प्रस्तुति इलाहाबाद में सत्यव्रत सिन्हा ने की थी।

— इन नाटकों का नाम क्या था?

एक था 'शर्त' और दूसरा 'खाली जगह'। इन नाटकों की स्क्रिप्ट शायद छपी भी है 'छायानट' में। लेकिन मैं इनका जिक्र नहीं करना चाहता क्योंकि मुझे ये पसंद नहीं हैं। दोनों नाटक मुझे असफल नाटक लगते हैं।

— 'आत्मजयी' का नाट्य रूपांतरण?

हां, शायद इसके कुछ पोर्शस नेशनल स्कूल आफ ड्रामा में रामगोपाल बजाज ने किये। कुछ सत्यदेव दुबे ने भी किये थे। शायद एनएसडी में इसके कुछ अंशों का पाठ विधार्थियों को कराया जाता है। उसके कुछ अंश बजाज करना चाहते थे। उन्होंने कहा भी था कि इसको नाटक रूप में कर दीजिये लेकिन रह गया ढिलाई से। अब लिखे हुए पर काम करना मुश्किल हो जाता है।

— वक्त गुजारने का सबसे अच्छा जरिया क्या लगता है आपको?

मुझे फिल्म देखना बहुत अच्छा लगता है, संगीत सुनना अच्छा लगता है। अभी आप जब आई तो मैं मालिनी राजुलकर को सुन रहा था। उससे पहले रविशंकर का सितार सुन रहा था। कभी कभी तो मैं काम करते वक्त भी हल्का सा संगीत लगा देता हूं। मगर गायन नहीं, इंस्ट्रुमेंटल बजता रहता है तो अच्छा लगता है।

— उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी के उपाध्यक्ष के रूप में आपका अनुभव कैसा रहा?

पुरानी बात हो गई। मैं जिस समय वहां था तो यह तो नहीं कह सकता कि बहुत संतुष्ट था। मैंने इस्तीफा दे दिया था टर्म खत्म होने से पहले ही। जिस तरह से मैं चाहता था कि काम होता वह सम्भव नहीं हो पा रहा था। कुछ तो मुझे लगता है कि जिनकी काम में रुचि हो ऐसे डिवोटड लोग कम थे। कुछ सरकारी अड़चनें भी होती हैं। आजादी से इन संस्थाओं में काम नहीं हो पाता। लोकल राजनीति और इस तरह की चीजें भी परेशानी पैदा करती हैं।

— बाहर के लोगों की वहां क्या भूमिका थी?

ज्यादातर तो वो लोग आते नहीं थे। कभी मीटिंग में आये, अपनी राय प्रकट कर दी, चले गये

तो उसका कुछ ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ पाता था। कर्ताधर्ता तो वे ही हैं जो स्थायी कर्मचारी थे। आप काम सौंप भी दीजिये। सब कागजों पर हो गया लेकिन जो कर रहा है, उसमें अगर निष्ठा की कमी है तो काम अधूरा होगा या पूरी तरह संतोष नहीं दे पायेगा। मैंने डाक्यूमेंटेशन का काम इंद्रोइयूस किया था अपने समय में। जो भी यहां की लोककलायें हैं, लोक फार्म्स हैं। थोड़ा बहुत काम हुआ भी। उस समय विजय नरेश थीं, और लोग भी थे। उन्होंने मेहनत से काम किया। लेकिन वह काम फिर ज्यादा आगे नहीं बढ़ पाया क्योंकि लोगों के बीच जाकर रहना होता था। यह रिसर्च नेचर का काम था और उसमें खर्च की भी बात आती थी तो वो हुआ थोड़ा बहुत लेकिन मेरे मन लायक नहीं हो पाया। लेकिन एक शुरुआत पर ध्यान गया तो शायद उसका फॉल आउट यह था कि नौटंकी वगैरह की विधाएं फिर से रिवाइव हुईं। इधर लोगों का ध्यान गया। तो इस माने में कह सकते हैं कि थोड़ा काम तो हुआ।

— महिला लेखन और दलित लेखन के बारे में आप क्या कहेंगे?

लेखन को इस तरह का लेबल देना मुझे बहुत ठीक नहीं लगता। लेखन, लेखन है और महिलाओं का लेखन किसी भी लेखन के मुकाबले में कम नहीं है। दुनिया की अनेक महिलायें हैं जो उच्चकोटि का साहित्य लिख रही हैं। ग्रीक कवयित्री सैफो की कविताएं आज भी प्रसिद्ध हैं। वर्जीनिया वुल्फ के उपन्यास आप देखिये।

शिमबोर्सका, आख्तोवा, स्वेताईवा, गोल्डीमर, टोनी मारिस जैसी अनेक महिलायें हैं जिन्हें हम किसी भी तरह महिला लेखिकाएं कहकर वर्गीकृत नहीं कर सकते। भारतीय महिलायें भी बहुत अच्छा लिख रहीं हैं कृष्णा सोबती, महाश्वेता देवी और भी अनेक हैं। इस तरह का लेबल लगता है तो लगता है कि किसी तरह की रियायत मांग रहे हैं, और रियायती मूल्यांकन सही नहीं होता। लेखिकाएं तो नहीं कहतीं कि हमारे लेखन को आप महिला लेखन कहिये।

हां, स्त्रीविमर्श एक भिन्न समस्या है। भारत में अभी तक यह समस्या बनी हुई है। बहुत जरूरी है कि महिलाओं को बराबरी की हिस्सेदारी और अपोर्चिनिटी मिले। पर जरूरी नहीं है कि इस पर महिलायें ही बात कर सकती हैं। आज अनेक तरह से इस बात को उठाया जा रहा है। अनेक महिलायें लिखकर, सक्रिय होकर इस समस्या को बहुत अच्छी तरह उठा रही हैं। आज अनेक महिलायें उच्च पदों पर काम कर रही हैं।

— और दलित लेखन?

दलित लेखन के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। आज भी हमारे यहां दलित समस्या विकट रूप से मौजूद है। अनेक साहित्यकारों ने इसके विरोध में लेखन किया है। दलित लेखक आपबीती को उसकी पूरी कटुता और तीक्ष्णता में अभिव्यक्ति दे पाते हैं। सहानुभूति और अनुभूति में थोड़ा अंतर तो हो ही जाता है। कई दलित लेखक बहुत अच्छा लिख रहे हैं। विशेष रूप से महाराष्ट्र और दक्षिण में। पता नहीं जातिप्रथा की शर्मनाक स्थिति हमारे देश से कब जायेगी। इस विकट समस्या को देश से आमूल हटाना बहुत जरूरी है।

— कविता को आप मूलतः क्या मानते हैं, सहज आत्माभिव्यक्ति, शब्दों का खेल?

शब्द और अभिव्यक्ति दोनों हैं कविता में। मेरी दृष्टि में यह बड़ा सिंथेटिक फार्म है। कविता आत्माभिव्यक्ति के साथ शब्दों का कुशल संयोजन भी है। शब्द रचना को शब्दों का खेल कहना उचित नहीं जान पड़ता। शब्दों का ऐतिहासिक अर्थ भी होता है, और कविता उसे उद्घाटित करने का एक सूक्ष्म प्रयास है।

कविता अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है। इसका स्व के माध्यम से सर्व में साधारणीकरण होता है। इस अर्थ में कविता आत्मिक भी है और सार्विक भी। हम जो अनुभव करते हैं उसे

आत्मसात करके व्यक्त करते हैं। इसी तरह अन्य के अनुभवों का माध्यम भी बनते रहते हैं। जिस तरह निजी अनुभवों का साधारणीकरण होता है उसी तरह दूसरों के अनुभवों का निजीकरण। इस अर्थ में वह आत्म में संकुचित हो जाना नहीं है बल्कि आत्म का सर्व में विस्तार है। दोनों बातों को उदारता से समझने की जरूरत है।

आत्म या सेल्फ को लेकर फूको की किताब 'टैक्नोलाजी आफ सैल्फ' याद आती है जिसमें फूको ने विभिन्न संस्कृतियों में प्रचलित सेल्फ में अर्थ वैभिन्न्य का गहराई से विचार किया है।

— आपके कई आलेखों में लखनऊ की साहित्यिक गोष्ठियों का जिक्र है जिनमें आपने राहुल जी, यशपाल जी, नागर जी, सज्जाद जहीर, रजिया सज्जाद जहीर, राजीव सक्सेना आदि की उपस्थिति का भावुक होकर स्मरण किया है। आज जब आप दिल्ली से लौटकर यहां आते हैं तो यहां का माहौल कैसा लगता है?

देखिये, सब समय की अपनी अपनी तरह की सक्रियता होती है। फिर भी मुझे लखनऊ में पहले जैसा माहौल नहीं लगता। काफी समय से लगता रहा है कि स्थानीय राजनीति साहित्य संस्कृति पर ज्यादा हावी है।

— आपको लो प्रोफाइल कवि माना जाता है। निराडम्बर और चिंतन प्रमुख।

आपकी आखिरी बात से शुरू करूंगा। चिंतन को मैं आदमी की बाकी चेष्टाओं से अलग नहीं मानता। एक भावुक आदमी भी चिंतक हो सकता है। टी. एस. इलियट ने कभी 'फेल्डथाट' की बात की थी कि कविता में अनुभूत विचार विचारानुभूति की भी जगह है। चिंतनशीलता को लेखन में उतना ही महत्व देता हूँ जितना जीवन में। लेखन में चिंतन को सहजता से आना चाहिये, आरोपित चेष्टा की तरह नहीं। जीवनानुभव की तरह विचार भी एक अनुभव है। विचारों की भी अपनी रागात्मकता होती है। मैं समझता हूँ चिंतन और विचार जरूरी हैं। बिना इसके न हम खुद को समझ सकेंगे न दूसरों को। समझने से मेरा मतलब पूरे व्यक्तित्व को समझना है, इमोशंस भी हैं, पैशंस भी हैं, हमारा सोच विचार भी है, हमारे एक दूसरे के साथ सम्बंध भी हैं। इसलिए इसे तो मैं बहुत इंटिग्रल, संश्लिष्ट मानता हूँ।

आपकी दूसरी बात, लेखन में दृढ़ता और शक्ति को महत्व देता हूँ। स्वभाव और व्यवहार में हो सकता है, लो प्रोफाइल होऊँ। वह मेरा स्वभाव हो सकता है, कोई सायास प्रयत्न नहीं है। हमेशा लो प्रोफाइल में रहना भी कोई अच्छी बात नहीं है। कभी क्रोध और उग्रता भी जरूरी हो जाते हैं। बिना जरूरत आक्रामक और अपने को आगे बढ़ाने की बेतहाशा कोशिश मुझे ठीक नहीं लगती। लेखन में मौलिकता और गुण होंगे तो वह अपनेआप आकृष्ट करेगा।

— आपकी रचनाओं का पहला पाठक?

मेरी पत्नी भारती ही देखती हैं। मैं उन्हें ही दिखाता हूँ। इधर उनको शिकायत है कि मैं कभी कभी बिना उन्हें दिखाए भी भेज देता हूँ।

— आप उन गिने चुने साहित्यकारों में हैं जिनकी लम्बी काव्ययात्रा में कोई ठहराव नहीं है। अपनी हर नयी रचना के साथ आप पाठकों के कुछ और करीब आते हैं, और पाठकों का एक नया वर्ग तैयार करते हैं। वक्त की चुनौतियों को लगातार स्वीकार करने और रचना के जरिये उनका जवाब देने का ऊर्जास्रोत क्या है?

मेरी हमेशा यही कोशिश रही है कि अपने को दुहराऊँ नहीं, नया कुछ कहने को हो तभी लिखूँ। वक्त की चुनौती तो अपनेआप लेखन में आ ही जाती है। हर लेखक ऐक्टीविस्ट नहीं होता है, उसका प्रतिरोध लेखन के जरिये ही होता है।

## रवींद्र वर्मा की कविताएं

---

### प्रायश्चित की परछाई

अपना छोटापन  
अपना ओछापन  
अपनी कृतघ्नता  
अपनी अहमन्यता  
इन दिनों बार बार आंखों में  
आंखें डाल देती हैं  
जैसे अपना हिसाब मांगती हों  
इस काले का क्या करूं?  
आईना कुछ काम नहीं आता  
इस बाबाजी के कम्बल को कैसे छोड़ूं?  
क्या यह मेरे साथ ही आग में जाएगा?

अपूर्णता के प्रायश्चित की अंतिम आहुति

इसी प्रायश्चित की परछाई  
धरती पर फैली है :



एक हत्यारा राज कर रहा है  
एक डाकू को अभी जनता चुनेगी—

वही जनता  
जो सभ्यता के आरम्भ से  
उसी सभ्यता को  
गोवर्धन पर्वत की तरह  
उठाए है अपने कांधों पर  
जिनसे खून  
लगातार  
टपक  
रहा  
है

### धरती का समाधिलेख

(वैज्ञानिक स्टीफन हॉकिंग का मत है कि धरती सौ बरस से ज्यादा नहीं बचेगी उसे मानव सभ्यता की तकनीकी और बढ़ती आक्रामकता खा जाएगी।)

यह धरती कभी जगमग करती थी  
फूल, पत्तों, बादल, पानी और पहाड़  
की ऐसी झांकी थी कि  
नजर नहीं हटती थी—  
अब तो यहां सिर्फ धूल  
हवा की तरह  
उड़ती है।

करोड़ों वर्ष घूमने के बाद  
पृथ्वी की धूल से  
आदमी पैदा हुआ था  
मगर वह न पृथ्वी को संभाल सका  
न अपने को—  
सहस्राब्दियों के पार  
हांफता हुआ  
वह दूरी पार न कर पाया  
जो उसके दिमाग से  
दिल तक फैली थी :

उसके मांसल दिमाग की छाया  
उसके धड़कते दिल पर पड़ती रही  
और दिल का अंधेरा  
बढ़ता रहा, बढ़ता रहा...

जब दिल बुझा  
धरती पर एक महाविस्फोट हुआ  
और धरती धूल से घिर गई  
जो दिन रात  
दसों दिशाओं में  
हवा की तरह  
घूमती है।

### ईश्वर की पीड़ा

ओ मेरे प्यारे सर्वव्यापी, सर्वज्ञानी, सर्वशक्तिमान ईश्वर!  
कल परदे पर  
जंगल में मैंने एक भीमकाय भैंसा देखा  
जिसे बिल्लियों जैसे पांच शेर  
चारों ओर से घेर रहे थे।  
पहाड़ सा भैंसा हौले हौले चारों ओर घूमता  
उसके हंसिए से सींगों से  
शेर डरते  
और इधर उधर हो जाते।  
पर शेर फिर पीछे से और अगल बगल से  
झपटते और अपने दांत भैंसे पर गड़ा देते।

भैंसा घायल होने लगा।

इतने में पांच और भैंसे दृश्य में आए  
सींग फटकारते हुए  
शेर कुछ दूर तितर बितर हो गए  
मैंने राहत की सांस ली—  
मुझे लगा अब घायल भैंसा बच जाएगा।

मगर ऐसा नहीं हुआ।

कुछ पल बाद पांचों शेर चले गए ।

घायल भैंसा घायल था,  
पांचों शेर फिर लौट आए  
उनके प्रहार और तेज हो गए  
अकेला घायल भैंसा हारने लगा,  
एक शेर उछला  
उसने भैंसे की नाक जबड़े में भर ली  
भैंसे का दम घुटने लगा  
पहले वह घुटना मोड़कर बैठा  
फिर धराशायी हो गया ।

शेरों की दावत शुरू हो गई ।

मुझसे देखा न गया—  
मुझे लगा, रेल के डिब्बे में  
लिंचिंग हुई!

तुम कैसे चुपचाप देखते रहते हो, ईश्वर!  
या मुझे ही अपनी पीड़ा सहने को बनाया है ।

## यूक्लिप्टस

ये भव्य, छरहरे, लम्बे पेड़  
जो आकाश को ढंकने की चेष्टा में  
ऊपर उठते चले जाते हैं  
पर अचानक

हताश  
अपनी पत्तियों में छितराकर  
आसमान में बिखर जाते हैं

ये मेरे बड़े पुराने दोस्त हैं  
जिनसे मैं हर सुबह मिलता था  
जब वे अपने हाथ हिलाते मुस्कराते थे

इधर अरसे बाद  
महीनों बाद

एक सुबह मैं पार्क में घुसा  
मैंने बायीं ओर नजरें घुमाई :  
यूक्लिप्टस उसी तरह आकाश में झूमते हुए  
मुस्करा रहे थे  
मैं उसी तरफ मंत्रबिद्ध देखता रहा  
अपलक  
और सहसा रो पड़ा  
फूट फूटकर  
ऐसे कि कलेजा मुंह को आ जाये

जैसे कि कोई दोस्त  
बिछड़कर  
अरसे बाद मिले

यूक्लिप्टस,  
क्या तुम भी रोये?

### लोकतंत्र : दो कविताएं

लोकतंत्र एक इंतजार है :  
उसका  
जो अगली बार आयेगा

पिछली बार जो आया  
वह फू फां करके  
टांयं टांयं फिस्स हो गया  
हमने खुद देखा  
वह धुंधवाती बाती थी  
जिसमें सिर्फ धुआं था  
आग नहीं थी  
जो दूर चमकी  
वह हमारी मृगतृष्णा थी

(2)

1857 के बाद  
झांसी के आसपास

उसी सदी में  
तीन सूखे पड़े थे  
अंग्रेज बदला ले रहे थे  
न नहरें थी  
न तालाब थे  
भूख थी  
और किसान की हिम्मत थी

एक सदी के बाद  
लोकतंत्र में  
सतत सूखे से  
किसान की हिम्मत  
टूट गई  
उसने अपनी ही जान ली

अब कौन बदला ले रहा था?

# कुलदीप कुमार की कविताएं

---

अस्सी और नब्बे के दशक के संधिकाल में जिस युवा समूह ने अपनी कविताओं और बौद्धिकता से गहरी उम्मीद जताई थी, कुलदीप उसमें प्रमुख थे। बाद में वह पत्रकारिता में ऐसे रमे कि उनकी कविताओं का प्रकाशन भी होना चाहिए, इसे भूल गये। फिलहाल वह वापस कविता के घर में लौटे हैं। *तद्भव* में पहली बार उनकी कविताएं।

## चौराहे पर लड़की

रोज दिखती है उसी चौराहे पर  
सर्दी, गरमी, बरसात, ओला, आंधी, लू  
कुछ भी नहीं रोक पाता उसे

बंदरिया की तरह एक नन्हें से बच्चे को सीने से चिपकाए  
वह हर कार के पास जाकर हाथ फैलाती है  
पक्का रंग है उसका, सांवले से कुछ गहरा ही  
चेहरा खुरदरा है पर एक अजीब से सौंदर्य से दीप्त  
आंखें वैसी ही सूनी  
जैसा उसका घर

स्थगित यौवन  
सूखे झरने सा

मैं अक्सर दूर से ही उसे देख लेता हूँ और  
कार ऐसी जगह रोकने की कोशिश करता हूँ  
जहां वह हरी बत्ती होने तक पहुंच न पाए  
दुविधा में रहता हूँ हरदम ऐसा करते हुए  
क्या मैं पैसे बचाने के लिए ऐसा कर रहा हूँ  
या खुद को बचाने के लिए?

कभी कभी दिए भी हैं मैंने उसे पैसे  
जब वह आ ही गई ठीक खिड़की के सामने  
उसे तो क्या पता चला होगा  
कि पैसे उसकी हथेलियों में गिरे  
और आंसू मेरी जेब में

कभी कभार उसका बच्चा कुनमुना कर  
अपने जीवन का सबूत देता है  
और मैं सोचता रह जाता हूँ  
क्या इसका जीवन कभी शुरू भी होगा?

यह सब भी मैं लाल बत्ती पर रुके हुए ही सोचता हूँ  
वरना हमें अब कुछ भी सोचने का शऊर कहां रहा?

**जादू**

एक राग झरता है

जंगली खुशबुओं के रंगविरंगे फूल  
खिलते हैं  
मालिनी नदी के किनारे  
बाढ़ आती है  
जब कोई दुष्यंत  
किसी शकुंतला से मिलता है  
उदाम यौवन के जोम में

रोशनी के अदृश्य घेरे के भीतर से  
फूटती है रोशनी  
और  
कसमसाते तारों को छेड़ता हुआ  
रात का अलस हाथ  
थिर हो जाता है

जब रात सो जाती है  
तभी यह जादू पूरी तरह से जगता है

दिल यकायक डूबने लगता है  
कहीं कोई सरोद बजाता हो शायद

## जानना

रोज जीते हैं  
रोज मरते हैं  
लेकिन  
न तो ठीक से जीना जानते हैं  
न मरना

सदियों तक पतियों के साथ रहने के बाद भी  
पत्नियों को नहीं लगता कि  
उन्हें जानने की कोई जरूरत थी  
भूल जाती हैं  
कि कभी उन्हें जानना भी था

वे जानना ही भूल जाती हैं

पहचानती भी नहीं हैं उनकी शकलें  
सिर्फ स्पर्श याद रहता है  
दृष्टिहीनों की तरह

और पतियों को तो  
कभी यह अहसास भी नहीं होता  
कि वे पत्नियों के साथ रह रहे हैं



उन्हें जानना तो बहुत दूर की बात है

जिस शरीर को हम अपना समझते हैं  
रहते हैं जिसमें जिंदगी भर  
उसे ही कितना जानते हैं?

दिन भर देश और देशप्रेम और वसुधैव कुटुंबकम् की बातें करते हैं  
लेकिन  
अपने कस्बे तक को तो ठीक से जानते नहीं

अब मेरे नजीबाबाद को ही ले लो

क्या मुझे पता है वह कितने किलोमीटर में फैला है  
कितने नए मुहल्ले बस गए हैं बाबरी मस्जिद के बाद  
कितने जने रोज रात में सोते हैं खाली पेट?

क्या मुझे भनक भी है कि वह दूकान कहां चली गई जहां से खरीदते थे पतंग  
उन बड़े मियां पतंगसाज के घर का क्या हुआ  
जो जल गया था पिछले दंगे में  
कहां गए सारे के सारे रफूगर  
उनका तो पूरा एक मुहल्ला ही था

अरे, छोड़िए भी यह सब  
मुझे तो यह तक नहीं मालूम कि अब वहां पहले जैसी रबड़ी क्यों नहीं बनती  
और क्यों सोनपापड़ी अब वैसी सोनी नहीं रही

कभी कभी तो लगता है  
सार्थक है उन्हीं का जीवन  
जिन्होंने कुछ नहीं जाना  
किसी को नहीं जाना

और जिंदा रहे

## जिजीविषा

मैं जीना चाहता हूं

ताकि तुम्हें देखता रह सकूं

मर गया  
तो तुम्हें  
देखूंगा कैसे?

## दिनचर्या

रोज आता है दिन  
जैसे लंबी चुप्पी के बीच  
कोई एक शब्द

फिर एक ऐसा क्षण भी आता है  
जब सड़क के बीचोंबीच चलते चलते  
वक्त की राख गिरने लगती है कंधों पर  
और लोग  
सलाम के लिए उठा हाथ  
भूल जाते हैं जेब में  
वापस डालना

मेरे पास कुछ नहीं है  
उस क्षण को  
देने के लिए

फिर रात होती है  
और उसके मर्मभेदी सन्नाटे में  
बिना किसी हलचल के  
लोग जागते हैं  
और फिर  
क्रम से एक के बाद एक  
सोने चले जाते हैं

रोज जाता है दिन  
जैसे अचानक मिलने के बाद  
कोई बहुत पुराना दोस्त

मैं सिर्फ देखता हूँ

**मां**

सपने में दिखी मां  
वैसी ही सुंदर, गोलमटोल  
जैसी साठ बरस पहले  
आंखों में नहीं थीं झुर्रियां  
गालों में नहीं थी काली गहराई  
हाथों से छूटकर नहीं गिर रही थी  
दृष्टि  
वह स्याह फ्रेम में जड़े  
फोटो में खड़ी थी

गोद में उठाये शायद मुझे  
तब उसका चेहरा कातर नहीं था

**यही जीवन**

यूं तो यह जीना भी कोई जीना है  
फिर भी  
अगर मृत्यु के बाद  
दुबारा यहां आ गया  
तो जीना चाहूंगा एक बार  
फिर  
यही जीवन

शायद तब पढ़ सकूं वे सब किताबें  
जो मैंने कई घंटियां सी नौकरियां करते हुए  
पैसे बचा बचाकर खरीदी थीं  
बल्कि कुछ के लिए तो उधार भी लिया था

शायद लिख पाऊं वे सभी कविताएं  
जो स्वप्न में तो दिखाई दे जाती हैं  
पर आंख खुलते ही

फुर्र हो जाती हैं

दुबारा यही जीवन मिले अगर  
तो शायद उन सभी दोस्तों से मिल सकूं  
जिनके अब नाम भी याद नहीं  
लेकिन  
जिनकी शक्तें अभी भी आंखों के आगे आ जाती हैं  
अनायास  
और हां,  
शायद उन सभी शहरों में भी जा सकूं  
जहां बढ़िया खुरचन मिलती है  
और  
जिनसे प्रेम करने के बावजूद कभी कह नहीं पाया  
उनसे कहने की हिम्मत जुटा सकूं

इन सबसे भी ज्यादा जरूरी एक और काम है  
जो मैं करना चाहूंगा  
बड़ा भाई जो बांह छुड़ाकर चला गया हमेशा के लिए  
उससे कहूंगा  
मुझे वहां याद रखे  
जैसे मैं उसे यहां रखता हूं

## याद

क्यों भई  
तुम इतना याद क्यों आती हो?

बिजली के खम्भे के नीचे  
जब हम पहली बार मिले थे  
तो कितना अंधेरा था  
और तभी  
अचानक भक्क से  
बल्ब जल गया

मैंने एक उचटती नजर से तुम्हें देखा  
और

मेरे भीतर भी  
अचानक कुछ भक्क से जला

प्यार

और कुछ भी तो नहीं

तुम तो चली गई अपनी राह  
लेकिन वह बिजली का खम्भा आज भी वहीं है  
मैं अक्सर चला जाता हूँ  
खड़ा रहता हूँ उसके नीचे  
युगों तक

सिर्फ इस उम्मीद में  
कि किसी दिन अंधेरा होगा  
और  
जब बिजली आएगी  
तो यह बल्ब  
पहले की ही तरह  
फिर से जल उठेगा

तब  
शायद प्यार भी  
वापस आ जाए  
भक्क से

चलो, वो सब तो ठीक है  
पर यह तो बता दो  
तुम इतना याद क्यों आती हो?

**लंच पर प्रेम**

वह एक क्षण  
कैसा था!

अद्वितीय, अलौकिक, असम्भव

दुर्विनार मासूमियत के साथ साथ एक मोहक खिलवाड़  
एक दीप्ति जो स्वप्नलोक के गहन गह्वर में क्रीड़ा कर रही थी  
एक अलिखित संदेश जो जाना चाहता था  
उस अलक्षित प्रिया के पास  
जो कहीं थी ही नहीं

वह एक क्षण  
जब उसने कहा  
मेरे संबंध थे लेकिन उजड़ गए  
उखड़ गया मेरे अस्तित्व का खूंट  
लेकिन आज भी मैं  
जीवित हूँ  
एक स्वाधीन व्यक्ति की तरह

मुझमें कोई कमी नहीं है

उसकी वह बेधक दृष्टि  
आज भी मुझे याद है  
उसी ने मुझे विश्वास दिलाया  
कि  
उसकी तरह ही  
मैं भी हूँ  
एक स्वाधीन व्यक्ति

क्योंकि

प्रेम ही बांधता है  
और वही  
मुक्त भी करता है

यह मेरे जीवन का  
कभी न होने वाला  
सबसे बड़ा प्रेम था

## शब्द परिचय

(रुमझुम के लिए)

शब्दों के इस बवंडर में से  
क्या मैं तुम्हें दे सकता हूँ  
कोई एक शब्द  
कोई एक वाक्य  
कोई एक चमकता पत्थर  
यह कहकर कि—  
“संभालकर रखना,  
कभी काम आएगा  
मत चला देना इसे जिस तिस पर  
झाड़ पोंछ कर रखे रहना इसे  
ताउम्र।”

शायद नहीं

अच्छा हो अगर तुम खुद ही ढूंढो  
वह चमकीला पत्थर  
जो कभी चकमक बने तो कभी  
नुकीला हथियार  
अच्छा हो तुम खुद ही  
शब्दों के भीतर यात्रा करना सीखो  
और जानो कि हर शब्द  
कितना चिथड़ा हो चुका है  
कितनी भोंधरी हो चुकी है उसकी धार

तुम्हारी उम्र के बच्चों के लिए  
दिए जाते हैं आशीर्वाद  
मानी जाती हैं मन्तों  
बरसाया जाता है प्यार दुलार

लेकिन मैं ऐसा कुछ नहीं करूंगा  
सिर्फ कहूंगा एक ही बात

विश्वास केवल अपना करना  
शब्दों का नहीं

वे चाहे किसी के भी क्यों न हों

इनका भी नहीं  
जो आज मैं तुम्हें दे रहा हूँ

## शब्द परिचय-2

(छोटू के लिए)

इन्हें अंजुरी में भर लेना  
सोचना ये शब्द नहीं  
फूल हैं  
मेरी चिंताओं के

जब पुष्पधन्वा आएगा  
तब तुम्हारे काम  
न तो ये शब्द आएंगे और न ये फूल  
काम आएगा केवल काम

क्या तुम भुजाओं में भरकर  
भींच सकोगे हरेक क्षण  
संजो सकोगे उसकी हर ध्वनि, हर मुद्रा, हर भंगिमा  
निचोड़ सकोगे पूरा का पूरा सत्व?

फेंक पाओगे कुदाल  
क्यारियों के भीतर फैली पुष्प पंक्तियों के बीच  
कर पाओगे सिजदा  
हर बुतनुमा बुत के आगे?

झेल सकोगे प्रेम और घृणा के झंझावात  
बचे रह सकोगे दलदल पर चलते हुए?

प्यारे छोटू!  
अगर तुम यह सब न कर पाए  
तो सच जानो  
जिंदगी बहुत मुश्किल रहेगी

पुरखों के पुण्य तुम्हारे साथ रहें!



## पंकज राग की कविताएं

---

### ‘दहशत’ : कुछ कविताएं

जिस गर्जन से दब जाती हैं दूसरी कई आवाजें  
वैसा गर्जन हर रात मुझे सपने में सुनाई देता है  
और जब आंखें खुलती हैं  
तो कमरे में छाई रहती है एक दहशत  
खिड़की से बाहर दिखते पेड़ के हरे पत्ते भटके भटके से लगते हैं  
और सूरज गेरुआ नजर आता है।

कौन कहता है कि दहशत काली होती है  
अब तो रंगीनियत में भी दहशत है।

(2)

जिस जगह बैठता हूं दिन भर  
और जिसे आप मेरा दफ्तर कहते हैं  
वह एक भयभीत सा कमरा है  
जहां धूप नहीं आती

वरिष्ठ कमरों में वैसे भी मनाही है धूप और हवा की  
 जब भी दरवाजा खुलता है तो मुझे लगता है  
 कि शायद अब हवा आएगी  
 लेकिन आते हैं कुछ ऐसे लोग  
 जो करीने से अपना डर छुपाये  
 त्वरित विकास के बोझ से झुके झुके से इस बड़े से कमरे में  
 तरक्की की नई नवेली परिभाषा के सामने  
 अपने आप को महफूज रखने की कोशिश में  
 बिछे बिछे से मुझे नमस्कार करते हैं

डरे हुए ऐसे लोगों के जाने के बाद भी  
 इस बड़े कमरे में  
 विकास की व्याख्या तैरती रहती है  
 लोग नहीं रहते  
 फिर भी व्याख्या रह जाती है  
 वह आदेशित करती है मुझे और मेरे कमरे को  
 कमरा और भी वातानुकूलित हो जाता है  
 और इसी ठंडी दहशत के साथ काटता हूं मैं सारा दिन

इसीलिए आजकल अच्छा लगता है शाम में घर को लौटना

(3)

कभी कभी सोचता हूं कि नौकरी छोड़ दूं तो क्या दहशत कम हो जाएगी?  
 और छोड़ने की वजह लिखित में जाहिर कर दूं तो  
 तो क्या ये नौकरी छोड़गी मुझे?  
 क्या नौकरी देने वाले पीछे ही तो नहीं पड़ जाएंगे?  
 क्या मेरे तथाकथित रहनुमा इतने वर्षों की चाकरी से  
 दो तीन कागज निकालकर  
 चिपका तो नहीं देंगे मेरी पीठ पर?  
 क्या एक खेल नहीं शुरू हो जाएगा मेरी वजहों को झूठा साबित करने का?  
 क्या मेरे घर के सामने की सड़क मुझसे अलग तो न मुड़ जाएगी?  
 और किस तरफ मुड़ेंगे मेरे नौकरीपेशा दोस्त  
 और वे सब जो कभी मुझसे वाबस्ता थे?  
 उनकी आंखों के उपहास, उनकी मुस्कराहट के विद्रूप  
 और उनके उपदेशों को कितने दिनों तक झेल पाऊंगा मैं?

ऐसी न जाने कितनी बातें सोच सोचकर होती है एक दूसरी दहशत  
 कुछ और सोचूं तो शायद एक तीसरी दहशत भी पैदा हो जाए  
 अब क्या करूं  
 सब कुछ ऐसे ही चलने दूं  
 या करूं किसी ऐसी दहशत का इंतजार  
 जिसके बाद दहशत ही बेमानी हो जाए?

(4)

नींद यूं खुली जैसे किसी दहशत ने थपथपाया हो  
 और फुसफुसाकर कानों में कहा हो  
 मुझे तुम्हारी जिंदगी से प्यार हो गया।  
 अब मुझे रचबस जाना है तुम्हारे जीवन में  
 रहना है तुम्हारे ही साथ  
 तुम चाहो न चाहो  
 तुम्हारे देश के आकाओं ने चाहा है  
 तो फिर मुझे रहना है तुम्हारे ही साथ।  
 अब मुझे तुम्हें अच्छा बनाना है  
 तुम इतनी देर रात तक क्या वाहियात चीजें पढ़ते हो?  
 सुबह जल्दी उठो और करो सूर्य नमस्कार  
 तुम्हें पता ही होगा—गंगाजल साफ हो रहा है  
 और तुम्हें चाहिए कि  
 इसी साफ गंगाजल से अपनी उनींदी आंखें भी साफ करो  
 तभी तुम्हें दिखेगा  
 कि तुम्हारे आसपास सब कुछ कितना सुनहला लग रहा है।

सच कहूं तो तुम्हें प्यार का अर्थ ही नहीं मालूम  
 तुम्हें यह भी मालूम नहीं कि तुम्हारे देश में  
 प्यार का एक अधिनियम बन रहा है  
 जिसमें बताया जा रहा है कि तुम किससे प्यार करो  
 कितना करो किससे न करो  
 और किससे बिल्कुल न करो  
 अगर तुम्हें मालूम होता तो तुम भी मुझसे प्यार करते  
 बहुत बहुत करते  
 जैसे मैं भी करती हूं  
 इस अधिनियम के सभी खंडों और उपखंडों का पालन कर के  
 तुम्हें समझना चाहिए कि यदि तुम्हारी सुबह से रात तक की दिनचर्या

पर मेरा अधिकार है  
तो यह प्यार है  
और यह छोटा प्यार नहीं है  
मैं तो तुममें देश देखती हूँ  
एक स्वच्छ शुद्ध देश  
गाय के दूध की तरह उज्ज्वल देश  
जिसकी रक्षा दूषितों के लाल खून से  
बार बार की जानी चाहिए।

अब प्रतिकार न करो  
अनुशासित बनो  
और लिपट जाओ मुझसे  
मेरे पीछे कानून की अधिकृत संहिता है  
मैं दहशत नहीं  
मैं ही प्यार हूँ।

(5)

या खुदा यह भी क्या मंजर है  
कि मेरे बच्चे खौफजदा हैं  
मैं दहशत में हूँ  
मेरा देश खामोश है  
और लोग मुझे बधाई दे रहे हैं  
एक पुरानी कविता की

**पटना : 'ढूँढ़ोगे अगर मुल्कों मुल्कों'**

राजेंद्र नगर के उस छोटे से पहले माले के फ्लैट के सामने  
एक पतली सी सड़क थी  
जिसके उस पार कुछ झाड़ू झंखारों के बीच  
एक पोखर था जिसमें सुबह सुबह कमल के फूल खिलते थे  
उससे भी थोड़ा परे रेलवे लाइन थी  
जिस पर भाप के इंजन वाली रेलगाड़ियां आया जाया करती थीं  
इस पूरे परिदृश्य में कहीं ढलान, कहीं चढ़ाई  
कुछ आहटें और कुछ घुमाव भी जरूर रहे होंगे  
लेकिन पता नहीं क्यों

पटना को जब याद करता हूँ तो एक सीधी रेखा की तरह ही  
शायद इसलिए कि बचपन के कई वर्षों में से  
यादों के कुछ क्षण ही जिंदा रह पाते हैं  
और ऐसे क्षण अपने आप ही क्रमबद्ध होकर एक दूसरे को बढ़ाते चलते हैं  
या शायद इसलिए भी कि गंगा के समानांतर बसने और बढ़ने वाला एक शहर  
चाहता तो यही है  
कि सीधी रेखा में ही बढ़ता और चलता जाए।

ऐसी चाहत कामयाब नहीं होती  
न व्यक्ति की, न शहर की  
रेखाएं आड़ी, तिरछी चलने लगती हैं, मिटने भी लगती हैं  
जगह जगह बनने लगते हैं आयताकार खंड  
और इन खंडों के अंदर ही व्यक्ति खोजने लगता है  
अपनी पहचान और अपनी सफलता  
ऐसे खंडों का बहुमत एक भारी भरकम सत्ता बनाता है  
जो नदियों को मोड़कर  
शहर के फूलों को झुकाकर  
और रास्तों को टेढ़ा कर  
सीधी सादी चाहतों को ही शर्मसार कर देता है

पटना की यादें बहुत बचपन की यादें हैं  
शायद बचपन अकेला ऐसा समय होता है  
जब सत्ता के असर को आप समझ नहीं पाते  
इसलिए उससे बचे रहने की खुशफहमी में  
रीडर्स कॉर्नर से खरीदी हुई किताबें  
पटना मार्केट के बिकते हुए मकोए के गुच्छे  
पटना कॉलेज के सामने के मारवाड़ी बासे का सुस्वादु खाना  
सभी एक खुली हुई स्निग्ध धूप की तरह याद आते हैं  
आसमान खुला तो नहीं था उस वक्त भी  
लेकिन बचपन की यादों में शायद धुआं नहीं होता

फिर भी यादों के परे भी कुछ होता है  
जहां आग भी होती है और धुआं भी  
जहां सोडा फाउंटेन भी उसकी लपेट में आता है  
और एक तथाकथित संपूर्ण क्रांति  
का उद्घोष भी उसे प्रज्वलित करता है  
बुद्ध ने कभी कहा था

कि पाटलीपुत्र एक मुख्य शहर बनेगा  
 लेकिन तीन खतरे उस पर मंडराते रहेंगे  
 अग्नि, पानी और आंतरिक मतभेद  
 1975 की उस विकराल बाढ़ से  
 तो कुछ खास नहीं बदला  
 लेकिन संपूर्ण क्रांति की उस आग ने शायद पटना  
 को अजीब तरह झकझोर दिया  
 यह एक नई सत्ता की शुरुआत थी  
 जो औरंगजेब के पोते आजिम के बनाए अजीमाबाद से बिल्कुल अलग थी  
 यहां न तो अजीमाबाद के पहले बनी पत्थर की मस्जिद का एहतराम था  
 न पादरी की हवेली की मालुमात थी  
 न छज्जूबाग से बंगाल जाते आमों की महक थी  
 यहां न गोलघर की बेवकूफाना संरचना से कोई मतलब था  
 या फिर पटना कॉलेज की खूबसूरत डच इमारतों से कोई प्यार  
 अब बस हंगामा था  
 जिसके बीच जब मैं जाता था पटना  
 तो देखता था एक हुजूम में दिल्ली जाते छात्रों को  
 बर्बाद होते राजेंद्र नगर और कदमकुआं की सड़कों को  
 और अपहरण और हत्या की तमाम वारदातों के बीच भी  
 पान की दुकानों पर देश और व्यवस्था को लेकर  
 हर दिन दुहराई जाने वाले बहसों को

किसी ने मुझसे कहा कि क्यों दुखी होते हो  
 यह अब एक समीकरण है  
 और अब तुम्हारे बचपन की यादों की रेखाएं भी सीधी, आड़ी, तिरछी  
 सब से परे कुछ ऐसे चलने लगी हैं कि  
 अजीमाबाद के मुसव्विरखाने के वे चित्रकार तो  
 आज बेचारे ही हो जाते  
 कालिकिंकर दत्त, आर.के. सिन्हा और रामशरण शर्मा जैसे बुद्धिजीवियों की  
 अगर समाधियां होतीं तो उनके  
 पत्थर गिर गिर कर चीत्कार कर रहे होते  
 तुम तो बस खुश हो जाओ कि अब पटना में  
 शराब नहीं मिलती

लोग जब मुझसे ऐसी बातें करते हैं  
 तो मैं पटना नहीं जाना चाहता  
 लेकिन अजीमाबाद की गलियों में एक बार

घूमना चाहता हूं  
शायद कुछ मिल जाए  
शायद यह शहर एक मोड़ ले ले  
शायद फिर से बन जाए एक सीधी रेखा नक्शे पर  
भले ही शाद अजीमाबादी ने बहुत पहले कहा था  
कि 'ढूंढोगे अगर मुल्कों मुल्कों मिलने के नहीं नायाब हैं हम'  
फिर भी लगता है  
कि कोशिश करूंगा तो  
कुछ न कुछ ढूंढ ही लूंगा  
उस अजीमाबाद में  
जहां से शायद एक रेखा निकलकर  
पटना को भी अपनी बांहों में ले ले।

## अनिल त्रिपाठी की पांच कविताएं

---

### विपर्यस्त

इन दिनों  
मैं दरवाजे को ही मकान समझने लगा हूँ  
और छत को फर्श  
जब तुम कहते हो  
रात के तीन बजे हैं  
तो मैं सुबह के दस को  
घड़ी में देखने लगता हूँ।

मुझे पेड़ों की जड़ें  
आसमान में दिखती सी  
जान पड़ती हैं  
और आदमी का सिर  
पैर लगने लगा है।

मानो पूरा कबंध उल्टा लटक गया हो  
जैसे कि कोई आदमकद चमगादड़



घने अंधेरे में  
किसी बहुत पुराने दरख्त की शाख से  
लटका हो धरती के किसी कोने में।

बगल की सड़क पर  
बेतहाशा छोड़ रहे हैं पीछे  
आदमी के दो पांव और  
सारे दृश्य को कैद करतीं  
उनकी दो आंखें।

भविष्य जैसे कि  
पहुंच गया हो किसी  
प्रागैतिहासिक काल में।

इस उत्तर सत्य समय में  
जब सच को झुठलाया जा रहा है  
तो मुझे लगता है असल में  
हमें सुलाया जा रहा है।

और यही हमारा रोना  
मेरी सारी तकलीफों  
जिसमें एक लोकतंत्र का स्वास्थ्य भी है  
पर बहुत भारी है।

## पोस्ट टुथ

वह दोनों तरफ था  
और दोनों के लिए  
'असंदिग्ध' था  
और उसके लिए यही  
'कलावाद' था।

जबकि वह  
किसी ओर नहीं था  
पर दोनों के लिए संदिग्ध था  
और उसके लिए यही

‘यथार्थवाद’ था ।

समय की इस दहलीज पर  
कलावादी असंदिग्ध  
यथार्थवादी संदिग्ध पर  
बहुत भारी था  
यही ‘उत्तर सत्यवाद’ था ।

**अब भी**

तुम भरोसा कर सकते हो  
अब भी इस पेड़ पर जिसमें  
तमाम कठिन मौसम के बावजूद  
बौर आया है ।

और अब भी  
मन सी चंचल गिलहरियां  
पेड़ की टहनियों एवं तनों को  
पहचानती हैं  
और इससे संवाद करती हैं ।

नदी में पानी भले ही कम हो  
पर अब भी होती है  
नदी की चांद से गुप्तगू  
तुम इस पर विश्वास कर सकते हो ।

विश्वास कर सकते हो कि  
फूलों के पास इस समय भी  
पराग है और उनका आकर्षण  
अब भी कम नहीं हुआ है ।

इस चिलचिलाती धूप में  
खड़े और खिले गुलमोहर  
और सन्नाटे को तोड़ती  
कोयल की आवाज पर  
विश्वास कर सकते हो ।

इसलिए अब भी  
तमाम दुश्चिंताओं और खतरों के बाद भी  
जोखिम लेने की अपनी शक्ति पर  
विश्वास कर सकते हो।

## बापू की याद

बापू जी आपके पास थे  
तो केवल तीन  
पर यहां चौथा भी है।

पहला जब कहता 'बुरा मत कहो'  
तो चौथा कहता है  
मुझे बुरा मत कहो।

जब दूसरा कहता 'बुरा मत देखो'  
तो चौथा कहता है  
मुझमें बुराई मत देखो।

इसी तरह जब  
तीसरा कहता 'बुरा मत सुनो'  
तो चौथा कहता है  
मेरी बुराई मत सुनो।

बापू इस समय  
चौथे का ही बोलबाला है  
वह बुरा बोलता है  
बुरा देखता है  
और बुरा ही सुनता है।

आपके तीनों तो बापू  
अब भी वैसे ही बैठे हैं  
मूर्तियां बने हुए और हमारा सामना  
चौथे से है।

## भय में नमी

पिता की सूनी आंखों की तरह  
पूरी सेंवार सूनी थी  
कई बीघे की फसल को  
छुट्टा जानवरों ने चर लिया था।

जहांतहां कुछ फसलें खड़ी थीं  
खासकर पकते हुए धान  
जिसे सिरजने की जद्दोजहद में  
किसान पूरी ताकत के साथ  
हांका लगाते।

जानवरों के आतंक से  
मीलों पसरा सन्नाटा था  
खेत दर खेत उदास थे  
बोने की प्रतीक्षा में।

तमाम जतन के बावजूद  
नहीं बचा था ओद  
ओद यानी नमी  
नमी के बिना नहीं बचा था  
किसान जीवन का नमक।

कहा पिता ने ऐसा नहीं  
कि पहले नहीं होता था  
पर इस समय  
जानवरों के आतंक में  
इस समय का बहुत सारा भय शामिल है।

# अनिल मिश्र की चार कविताएं

---

अनिल मिश्र यूं दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी रहे किंतु अंततः कविता में रमे। प्रकाशन को लेकर संकोची। अभी तक दो कविता संग्रह प्रकाशित—*हम अलख के स्वर*, *अकिंचन* और *खिली रहना धूप*। तीसरा शीघ्र प्रकाश्य। अनिल की सक्रियताओं का एक पक्ष *संवेद वाराणसी* का संपादन भी है।

## पहाड़ी के पत्थर

हवा दिशा बदलती है और पानी अपने रास्ते  
इन पत्थरों पर बैठकर आसमान अपने कपड़े बदलता है

लाखों वर्षों से निश्चल निर्विकार पड़े  
एक विशाल शिलाखंड पर कभी कभी आती है एक थकी उड़ान  
और छोड़ जाती है कोई टूटा हुआ पंख  
अपनी कमर में डलिया बांधे स्त्रियां आती हैं  
और आंसुओं से तर कर जाती हैं पहाड़ी की छाती  
उनके साथ आते हैं बच्चे  
और लगातार कुछ समझाते रहते हैं पत्थरों को

कभी कभी आता है हारा हुआ प्रेम  
और किसी शिला के सीने से लिपटकर बहुत रोता है

जिसमें घुस नहीं पाती लोहे की नुकीली छेनी  
उन्हीं प्रस्तरों को चीरती घुसती जाती है कोमल पौधे की मुलायम जड़

## आंगन

पीढ़ियों को एक साथ बैठते हुए  
हमेशा ऐसा लगा  
मैंने युगों के अंतराल को पाट दिया है  
अच्छा है मेरे जीवन में कोई अर्धविराम नहीं है  
कोई पूर्णविराम नहीं है  
विराम है जिस पर कोई लगाम नहीं है

जब भी रुकने को होता है समय  
मैं हरे हरे पत्तों वाले एक घने पेड़ में बदल जाता हूँ  
जिसका अर्थ संध्याओं का रंग बदल लेना है आपस में  
मैं इसी समय बादल के एक बड़े टुकड़े का प्रतिबिंब होता हूँ  
और नदी में जल बढ़ने के संकेत पाते ही  
बच्चे तैयार करते हैं कागज की अपनी नावें

मुझे अपने होने का पहली बार अनुभव तब हुआ  
जब कवितापाठ करने आए कविगण  
और पता चला कि खुले आसमान से कम हवादार नहीं है जमीन  
हंसने का अर्थ मालती पर खिले हुए फूल हैं  
भीषण गर्मी से भले सूख जाए घास  
धरती बचा के रखती है जड़ें बारिश के आने तक

सोने या बैठने का कमरा नहीं  
किसी घर का फेफड़ा होता है एक आंगन  
मैं बनता हूँ ईंट और सीमेंट की दीवारों से दुनिया की कच्ची समझ से  
मैं बनता हूँ दरअसल अपने पिता को दिए जा रहे  
बच्ची के सबसे मासूम चुंबन से

चारों दिशाओं से मेरी सीमाएं रचता

आसमान खोलता है मेरा मुंह ताराओं की रोशनी पीने के लिए  
सुन सकता हूं किसी की हंसी  
महसूस होता है किसी का रोना भी  
रोशनी न हो हवा न हो और दिलों में बचा न हो संवाद के लिए तनिक भी तेल  
मेरे पास आना घुटन भरे बंद कमरों से  
खुद अपने को आंगन में बदलने के लिए

## शब्द और संधिपत्र

हजारों हत्याओं के बाद आई है ये रात  
अपनी अपनी टाई ठीक करते  
बैठ गए हैं शब्द मेज के चारों ओर  
पीछे छोड़ आए हैं जले हुए घर  
चीखती घाटियां छोड़ आए हैं

इस हाल तक पहुंचने के रास्ते में  
नागफनियों के जंगल थे  
कांटों की खरोच के निशान लिए  
दर्द भी आया है उनके साथ

संधिपत्र पर बैठते समय  
इस बात का ध्यान रखा कि  
किसी तरह फिर से फूलों की खेती हो  
अंगारा थोड़ा ठंडा हो जाए  
और बज्र हो जाए थोड़ा मुलायम

कौन ऊपर होगा कौन नीचे  
कौन किसके साथ  
ऐसी तमाम तलवारों को म्यानों में रखकर  
आपस में गले मिल रहे हैं शब्द

## व्याकरण

बचपन में व्याकरण की पुस्तक में पढ़ा  
कि एक से अधिक वर्णों से बनी हुई स्वतंत्र सार्थक ध्वनि शब्द है

तभी से सोचता रहा  
अवश्य होती होगी आसपास  
कहीं निरर्थक शब्दों की बस्ती  
बार बार निकालकर बाहर फेंक दिए होंगे  
वो सार्थक शब्दों के टोले से  
क्या करते?

मैंने व्याकरण के बारे में भी सोचा  
फिर उसकी कार्यशाला के बारे में  
जहां गढ़ी जाती होगी ऐसी परिभाषाएं



# जात्रा

अशोक कुमार पांडेय

उल्टे सांप सी सड़क पर चींटियों सी रेंगती भीड़ में चलता कहां चला आया हूं

रुकिए—एक पेड़ कहता है जिसकी पत्तियां लुट चुकी हैं  
पीले फूल जिनमें न खुशबू न छांव कोई  
देवताओं से बहिष्कृत, मनुष्यों के सर पर गिर रहे हैं  
कितना कम हो गया पानी धरती पर।

रुकना चलने का व्यवधान है या व्यतिक्रम लौटना तो चलने का ही विस्तार है एक उदास

सूरज एकांत की आग में जलता चला जाता है  
कवि एकांत दूंदता खिड़कियां बंद करता है सारी  
और फिर मोबाईल की स्क्रीन में खोजता है कविता  
कोई अपनी ही तस्वीर खींच देखता है मुग्ध  
पेड़ अपना आखिरी फूल गिरा चिड़ियों को सुनाता है किस्से  
मैंने वह फूल तुम्हारे लिए रखा तो था जाने कहां गया...  
जिस दरवाजे पर लिखा है मनुष्य उरें कुत्तों से वहां एक बच्चा खड़ा है भीतर चली

गई गेंद के बारे में सोचते

सुनिए—रुकता नहीं कहता चला जाता है कोई  
चलता हूं और आवाज चलती है आगे आगे  
तुमने कहा था करना प्रतीक्षा रुकना था मुझे  
पर यह आवाज...चलता चला जाता हूं और तेज  
मोजे पसीने से भीगे हैं कमीज चिपकती जाती है देह से  
गले में कांटे उग रहे हैं कान सुन्न होते जाते आवाजों से  
एकांत की आग है यह!

देह जलती है आत्मा को देखा ही किसने है आवाज है एक जो जलती नहीं चलती जाती है लगातार

यहां कुछ नहीं हाशिये पर जो शून्य दिखता है वह भी नहीं  
गुजरा हुआ जीवन है एक बेमानी भविष्य की कहां होती है कोई शक्ति  
और जो है अधर में लटका उसके गिरने की प्रतीक्षा में चांद सूरज सब  
रुकता हूं वहां जहां आधे कपड़ों वाला एक बूढ़ा मरने के बाद सफेद संगमरमर  
बन गया  
उफ दाहिने हाशिये की ओर बढ़ता जाता हूं  
उस ओर जिधर एक दलदल है  
गहरा दलदल  
शांति

शांतियां श्मशानों के कितने करीब होती हैं मंदिर टूटे मस्जिद टूटी अब श्मशानों की बारी है?

(दो)

पानी बहुत कम बचा है धरती पर आसमान थक गया रो रो के समंदर पी गई मछलियां

चिड़ियों की सामूहिक आत्महत्या पर बहाने के लिए दो बूंद आंसू भी नहीं बचा सड़क सूखी पतझड़ में गिरी पत्तियों से लिपट रोती लगातार अश्रुहीन आहिस्ता रखता हूं पांव संभल संभल कर कांटे चूमते हैं पत्तियां धन्यवाद की मुद्रा में देखती हैं लाचार कदमों के निशान दरअसल खून के निशान हैं जो बचा नहीं अब आंसुओं की तरह आगे का रास्ता तुम्हें खुद ही तय करना है...

रास्ते पहाड़ से फिसल गए पत्थर हैं मंजिलें स्वर्ग से बहिष्कृत आदम सपने हव्वा हैं  
निरुपाय

इकलौती खुली खिड़की से बढ़ता है एक हाथ जिसमें खाली बर्तन है  
उसमें भरती है धूप और धूल मैं उंगलियों से एक चित्र बना देता हूं उस पर  
बंद होती है खिड़की तो उसमें से एक सूराख झांकता है  
मुझे भीतर जाना था शायद मैं दूर निकल आया हूं लेकिन  
यहां दीवार पर लिखे हैं सारे पवित्र शब्द  
जहां एक बच्चा खड़िया से विकेट बना रहा है  
और एक औरत गोबर लिए बैठी है कि खत्म हो खेल तो थापे चिपरी  
उसने आग के बारे में पूछा है मुझसे  
पानी खत्म हुआ है और तुम्हें आग की चिंता है?  
सब्र करो बाबू कहा उसने तो सुना कब्र में रहो बाबू

कब्रों को आग नहीं पानी की जरूरत है और मुझे आग की जरूरत पानी तक पहुंचने  
के लिए

(तीन)

उदास क्यों हो देखो सब तो हंस रहे हैं मत चलो इतना थक जाओगे कुछ पी ही लो  
कम से कम

उसी वक्त समाचार देखते कह रहा था कोई  
है तो इतना पानी वाटर पार्क में आएगी होली तो देखना रंग भी होंगे  
उसी वक्त पढ़ रहा था अखबार कोई ट्रेन का सफर कर रहा है पानी  
चलती कार से उछाली किसी ने बोतल तो तेज संगीत गूंजा उसी वक्त  
तीन बच्चे लपक पड़े हैं बोतल पर जिसमें पानी नहीं है  
प्लास्टिक के खोखे पर जिसमें जरा सा नमक है  
पानी बिना मर गया जो उसकी लाश भीग रही थी बर्फ में उसी वक्त  
सांप सीधा हो रहा है धीरे धीरे  
सूरज थक गया चीखते चीखते कौन आता उसके पास?  
आसमान में उदासी की कालिख छाई तो लोग निकल पड़े हैं बाहर

पहाड़ पर बर्फ बेचकर लौटते लोगों की बोतलों में पानी नहीं शराब है और उंगलियों  
में आग।

# अदनान कफील दरवेश की कविताएं

---

अदनान कफील दरवेश ने अपनी रचनात्मकता से समकालीन युवा कविता में खास जगह बनाई है। बेहद संभावनापूर्ण कवि के रूप में उन्हें देखा जा रहा है।

## पवित्र अंधेरा

अंधेरे को पहली बार हमने  
इतना पवित्र पाया था।

इस शहर की  
बदन छिल जाने वाली भीड़ में  
एक अंधेरा ही था, जो हमारे लिए  
सिग्नल की हरी बत्ती की तरह जलता था  
हमारी बेरोकटोक आवाजाही का  
सबसे बड़ा पैरोकार बनकर

हमारे लिए बावली की प्राचीन सीढ़ियां उगाता  
उनका प्राचीन सीला अंधेरा  
हमारे इतने पास बैठने की, जादुई जगह बनाता

हमें नींद और कामना की  
सर्पिल सुरंगों में उतारकर  
ढक्कन बंद करता।

लैंपपोस्ट की पीली थकी रोशनियां  
फुटपाथ को कोमल बनातीं  
हमारे घावों को सहलातीं  
हमारे जूतों के खुले फीते बांधतीं।

शहर की रुखड़ी पीठ पर  
फोड़े की तरह उगे पुराने खंडहर  
हमें बाहें खोल बुलाते  
शहर के भीतर एक दूसरा शहर आकार लेता  
जो हमारी जासूसी के बजाय, निगरानी करता।

लेकिन हम जानते थे, ये एक फंतासी भर है  
जो हमारे लिए उगे  
शहर की प्राचीर पार करते ही  
टूट जाएगा  
और अचानक हम सिग्नल पर  
गाड़ियों के हार्न के कोलाहल में  
खुद को घिरा पाएंगे।

एक चिड़िया होगी जो चीखती हुई  
हमारे सिर के ठीक ऊपर से गुजर जाएगी।

ऑटोरिक्षा के तीन पहिए  
तीन अलग दिशाओं में भागेंगे।

अंधेरा फिर उगेगा  
एक बहुत छोटे वक्फे के लिए  
जैसे विदा के लिए उठा हाथ हो।

इस शहर में यकीनन  
एक अंधेरा ही होगा  
जो हमें साथ देखकर  
यूं मुस्कराएगा  
और धीरे धीरे  
अनंत तक फैल जाएगा...

## एक नीरस शाम की सिम्फनी बज रही है जैसे

एक नीरस शाम की सिम्फनी बज रही है जैसे  
अंधियाला, जैसे बिहान का धोका दे रहा है  
लगता है : बिहंसी है रात ।

डंकर रही हैं गायें  
उनके खुरों में युगों पुरानी कीच  
सिसक रही है  
अब्बा एस्वेस्टस की छत को एकटक तक रहे हैं  
उनकी घुर्ची दाढ़ी में जम रही है गर्द  
आज खराब मौसम होने की वजह से  
बंद पड़ा है रेडियो  
बगल की छत, जिसपर उपले की बड़ी गदबदी बिंदियां  
अभी कुछ देर पहले तक सजी थीं  
बारिश में घुलकर बह रही हैं  
जिसे अभी अभी एक स्त्री पाथ गई थी  
उपले में दबी कहीं कराह में बदल गया है  
उसकी चूड़ियों का थका संगीत  
उसकी जीवटता और पसीने से सनी  
देह की ताजा गंध  
अभी भी आ रही है  
हर झटास के साथ ।

ऊपर पिघल रहा है आकाश  
नीचे खदक रही है पृथ्वी ।

और पीछे से  
बस्ती के पर्दे को चीरती हुई  
आ रही है  
अजान की धुंधली आवाज...

## वो जानते थे

(निराला को याद करते हुए)

आंखें रहीं घड़ियां  
जिनमें पतझड़ सबसे अधिक बार बजा  
देह रहा : जर्जर पेड़

जिसमें पीड़ाओं ने सबसे ज्यादा घोंसले बनाए  
हृदय रहा वो रस्ता  
जिस पर जमा हुए  
सबसे अधिक लाशों के ऊढ़े।

स्नेह का निर्झर  
राख बना  
झड़  
झड़ता रहा  
ढकता रहा  
आत्मा को  
जिनसे खिलते रहे घावों के फूल।

रोना जिनके लिए प्रेम में था  
सबसे बड़ा अनैतिक कर्म  
उन्होंने ही कहा : थाम लो आंसू!  
क्योंकि वे अच्छी तरह जानते थे,  
रोने से कम हो जाती है पीड़ा!

## शहर की रात

हर रात फूलती हैं शहर की दीवारें  
खून की लकीरों से पसीजती हैं  
जिनमें उभरते हैं चेहरे  
जंजीरें पटकते हुए  
बिलबिलाते हैं भूख से।

इच्छाएं पीसकर आदमी को  
ढक देती हैं मलबों में।

उधर कब्रिस्तान चींखकर पुकारता है  
मसान से उठती हैं डंकरने की वीभत्स आवाजें  
दुबारा नष्ट करने के लिए  
सूजी आत्माओं को।

रोज दरकती हैं  
अनगिनत कामनाओं की मेहराबें।

भसकती हैं दड़बे के बराबर कमरे की जमीनें  
जहां एक की सांसें  
दूसरे तीसरे चौथे की सांसों में घुलकर  
तलफलाती हैं।

जहां बेरोजगारों की नींदें  
रोज उचटती हैं बार बार  
मुसलसल पिराती हैं उनकी पिंडलियां  
दर्द करती है कनपटी  
अकड़ जाती हैं शरीर की नसें  
जीवन  
किसी बनिए के यहां  
गिरवी रखी चीज मालूम देने लगता है  
रोज उनकी पीठ पर  
धरी जाती हैं ईंटें  
वे कुछ और झुकने लगते हैं आगे की तरफ  
उनके पीले चेहरों से झांकती हैं  
मरियल आत्माएं और दुष्टताएं  
वे धीरे धीरे तैयार होते जाते हैं  
खतरनाक मंसूबों में खपने के लिए।

जहां चिटकती हैं खिड़कियां और रोशनदान  
टुलकती हैं स्याहियां  
तार की तरह झनझनाती हैं रात की दीवारें  
देर तक खदकता है मग्गे में रखा पानी  
अंवटता है शरीर का  
थका लहू।

दिन भर की चालाकियों से  
खाली हो चुका आदमी  
रात को अलगनी पर  
बिना क्लिप के भरकता है।

दिन भर के हाड़तोड़ काम में जुती देह  
रात को किसी और देह से लिपटकर  
ठंडी होती है झटकों से  
घरों में सिसकारियों से ज्यादा  
गूंजती हैं सिसकियां।



गलियों में कुत्तों से ज्यादा  
भटकती हैं अतृप्त इच्छाएं  
और नुचे चुथे स्वप्न।

दिन  
इन सब पर दांत फाड़ता  
चला आता है फिर से...

## शहर की रात-2

सब आवाजें बंद हो रहीं धीरे धीरे  
छायाएं अब गश्त दे रहीं  
सड़कों पर  
दीवालों पर  
आसमान पर  
मन पर  
लंबी लंबी अजगर छायाएं।

अभी कोई एक हूक उठेगी  
कोई इच्छा  
फिर चक्कर काटेगी कमरे में  
और अलमारी आईने से लिपट लिपट जाएगी  
चौथे तल से गिरी थूकों की उंगलियां  
सड़क में धंस जाएंगी  
आंसू से भीगा मुख  
कालिख से फिर मुंह ढापेगा  
रात रात भर खिड़की से एक महक आएगी  
मन शरीर में नहीं रहेगा  
बाहर होगा  
आंखें खुद को ही देख रही होंगी।

एक वृत्त दीखेगा  
जिसकी गोलाई रक्त से निर्मित होगी।

एक स्वप्न, जो आंखों में कांच सा धंसा होगा  
एक याद, जो कई यादों को झिंझोड़ेगी, फैलाएगी  
एक मुख, जो आंखों में टिक जाएगा  
एक सांस, जो सीने को कुछ और दबाएगी

एक चीख, जो गली की छोर से टकराकर  
वापिस लौट आएगी।

निर्धनता, बेकारी के बड़े हथौड़े  
नाखूनों को तोड़ेंगे  
असफलता की खीझ  
पागल पागल कर जाएगी  
इसी बीच प्रेयसी का थका चेहरा  
याद आएगा  
एक पीड़ा की लहर  
नाभि से उठकर  
पूरे बदन में फैल जाएगी  
न जाने कब आंख लगेगी  
और सुबह हो जाएगी...

## गुजरे जमाने का शहर - IV

ममता कालिया

हम लेखक भी बिसाती की तरह अपनी बिसात बिछाते हैं। चमकीली चीजें सबसे ऊपर सजाकर, मद्धम चीजें नीचे की कतार में खिसका देते हैं।

कहां तो मैं सोच रही थी कि लिखूं अपने शहर इलाहाबाद के उन तेजस्वी सितारों के बारे में जिनसे यह शहर रोशन है। इनके बारे में हम कह सकते हैं कि इनसे हमारी आन, बान और शान है। इनके बल पर इलाहाबाद शतक बनाता रहेगा, जितने क्रिकेट के मैदान में, उनसे ज्यादा जिंदगी के मैदान में। मेरा इशारा ओ.पी. मालवीय, शम्सुरहमान फारुखी, जियाउल हक और अकील रिजवी साहब की ओर रहा। ये साहेबान 80 की उम्र पार करके भी अभी सचेत हैं। शरीर कुछ कमजोर हो चला है लेकिन दिमाग दुरुस्त है। उम्मीद बंधती है कि ये उम्र को पटकनी देकर शतक पूरा करेंगे।

लिखने के दौरान यह कंकड़ आन गिरा।

हमारे ओ.पी. सर एक रात चल बसे।

नहीं, कोई लाचार अंत नहीं हुआ। सन् 1994 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त हुए पर एक दिन भी खाली नहीं बैठे। अंग्रेजी साहित्य की अनेक उच्चस्तरीय पुस्तकें लिखीं। अंग्रेजी साहित्य के साथ हिंदी साहित्य की अद्यतन जानकारी से भरपूर रहते। अपने अंतिम दिनों में मृणाल पांडेय की पुस्तक 'सहेला रे' पढ़ रहे थे। उनका कलाकार पौत्र उत्कर्ष यह पुस्तक खरीदकर लाया तो बोले— "पहले मैं पढ़ूंगा, तुम बाद में पढ़ लेना।" न जाने कितने छात्रों को अपने घर में रखकर पढ़ाया, लिखाया और खिलाया। उनके पढ़ाए हुए छात्र आई.ए.एस., पी. सी.एस., की प्रतियोगी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते गये। विभूति नारायण राय, शीस खान, के.पी.

सिंह जैसी प्रतिभाएं उनके निर्देशन में सफल हुईं। उनकी किताबें, 'आधुनिक हिंदी निबंध' और *Comprehensive General English* प्रतियोगी छात्रों में बहुत लोकप्रिय थीं।

एक वक्त उन्हें शास्त्रीय और उपशास्त्रीय संगीत से खूब लगाव हो गया। उन्होंने रामपुर घराने के उस्ताद दिलशाद हुसैन खान साहब से तालीम हासिल की। उन्होंने निराला, फिराक, फ़ैज और ग़ालिब के कलाम खूब तबियत से गाये।

ओ.पी. सर के अंदर जाति, धर्म, वर्ग की कोई दीवार नहीं थी। अपना लंबा चौड़ा कुनवा था। घर के बच्चों को तो योग्य बनाया ही, उन्होंने किसी को भी ज्ञान बांटने में कभी कोताही नहीं की। मजे की बात यह कि उनकी पत्नी घोर कर्मकांडी और सनातनी महिला थीं। मालवीय जी घनघोर नास्तिक। लेकिन उनमें कोई संघर्ष नहीं था। प्रेमी युगल थे वे। ओ.पी. सर कल्याणी देवी में रहते थे। वहां पहुंचने के लिए चौक, कोतवाली और अतरसुइया का ट्रैफिक जाम झेलना पड़ता पर क्या मजाल उनके घर पर कभी विद्यार्थियों का जमघट कम हो जाये।

ओ.पी. सर को पेड़ लगाने और बागबानी का शौक भी था। उन्होंने देखा दरियाबाद का कब्रिस्तान बड़ा निचाट पड़ा है। बस मन में ठान लिया इस कब्रिस्तान को गुलिस्तां बनाना है। रोज अपने विद्यार्थियों की टीम लेकर वहां जाते और दस बीस पौधे लगाकर आ जाते। पौधे फल फूलकर पेड़ बन गये। कब्रिस्तान की निस्तब्धता में थोड़ा जीवन प्रवेश कर गया। यहां तक कि लोगों ने दरियाबाद के कब्रिस्तान को गुलिस्तां कहना शुरू कर दिया। ओ.पी. मालवीय जी को कोई गुमान नहीं। उनको, लोगों ने नया नाम दे दिया— 'पेड़ वाले मालवीय जी'।

ओ.पी. सर ने जीवन भर शहर को दिया ही दिया, निर्विकार भाव से।

इसी तरह जियाउल हक साहब प्रगतिशील लेखक संघ के अध्यक्ष की हैसियत से सभी बुद्धिजीवियों को एकजुट रखने की कोशिश में ताउम्र लगे रहे हैं। उनकी मीटिंग में हॉल खचाखच भरा रहता था। मीटिंग की सूचना देने वे स्वयं चले आते। डॉ. सैयद अकील रिजवी इलाहाबाद विश्वविद्यालय में उर्दू विभाग की रीड रहे हैं। अभी उस दिन उन्हें फोम की रजाई में लिपटे बैठकर चाय की चुस्कियां लेते देखा तो अपनी भी उम्र पीछे चली गई जब पूरे जोश ओ खरोश से वे युवा उर्दू लेखकों को प्रोत्साहन दिया करते थे। उन्होंने अपने अकादमिक जीवन को तरक्कीपसंद अदब और अदीबों से रोशन रखा। युवाओं के लेखन पर उनका नजरिया हमेशा तरक्कीपसंद रहा।

अपने शमसुर्रहमान फारुखी जी की जीवनशैली का भी टाटबाट निराला है। सरकारी नौकरी में से अपनी सृजनशीलता साफ बचाकर महफूज चले आये। रचना और आलोचना दोनों मैदानों में बाजी उनके हाथ रही। उनकी अपनी जीनियस तो थी जिसे शहर ने वह सुकून दिया कि वे कविता, उपन्यास और आलोचना में सर्वोच्च मुकाम हासिल कर सके। गजल के इतिहास और विकास पर उन्होंने मौलिक विश्लेषण प्रस्तुत किया। जिस जिंदादिली से वे क्लासिक और जदीदी अदब का नजरिया समझाते हैं सुनकर लगता है उन्हें प्रोफेसर होना चाहिए था। हैरत होती है कि उनके अंदर कवि, अफसानानिगार, आलोचक और काव्य सिद्धांतकार साथ साथ बैठे हुए हैं। जीने का अंदाज एकदम निराला। हेस्टिंग्स रोड पर हरेभरे लॉन में वे आरामकुर्सी पर बैठते हैं। दोनों पालतू कुत्ते दौड़कर उनके दायें बायें उछल कूद मचाना शुरू करते हैं। मेहमानों से मुखातिब होने के पहले फारुखी साहब अपने पहरेदारों को वापस अंदर जाने का इशारा करते हैं। जमीला आपा की भतीजी हिफ्जा ने मेहमाननवाजी का जिम्मा संभाल रखा है। वह बावर्चीखाने से लगातार नाश्ता भिजवाती रहती है, मेवे मिठाई कटलेट और दाजिलिंग की दिलकश चाय। क्रांकारी की नफासत के क्या कहने। फारुखी साहब की लायब्रेरी नायाब है। बहुत बड़े हॉल की एक लंबी दीवार में करीने से कतार में लगी किताबें ही किताबें, लगभग हर भाषा

की इंग्लिश, उर्दू, हिंदी के अलावा फारसी, अरबी और फ्रेंच की। उनकी बातें सुनकर दिमाग के रोशनदान खुल जाते हैं। जश्न ए रेखा में फारुखी साहब की तकरीरें बहुत पसंद की गई हैं।

यह जो कुछ लिखा जा रहा है, इलाहाबाद की याद में घटित हो रहा है। इसमें क्रमबद्धता न दूँ। यह अपना मन है कभी चौक में रानीमंडी, अतरसुइया, कल्याणीदेवी की सैर कर आता है, कभी रिक्शे में बैठ निरंजन टॉकीज के पुल के पार सिविल लाइंस की रौनक देख आता है। देखते देखते शहर का नाम बदल गया। सरकारी रिपोर्टों में 18 अक्टूबर 2018 को इस शहर का नाम प्रयागराज कर दिया गया। शाब्दिक स्तर पर प्रयागराज शब्द से कोई कष्ट नहीं है। प्रयाग नाम बड़े बूढ़ों के मुंह पर युगों से चढ़ा हुआ है। लोग अपने ठिकाने से नहान के लिए प्रयागराज आते हैं इलाहाबाद नहीं। शास्त्रों में भी उल्लेख मिलता है कि तपस्या एवं मोक्ष के लिए गंगाघाट पर ही जाना श्रेयस्कर है। प्रयाग का अर्थ है बड़ा यज्ञ। प्र = बहुत विशाल, याग = यज्ञ। ऐसी भूमि जहां बहुत से यज्ञ हो चुके हैं प्रयाग हुई। यह भी माना जाता है कि अकबर ने इलाहाबाद का नाम अलाहाबाद कर दिया। सन् 1583 में अकबर ने एक बड़ा शहर स्थापित किया और इसे अल्लाह की जगह माना। आजकल सभी पुरानी चीजों को मुगलों के नाम जड़कर उखाड़ा जा रहा है। कहा तो यहां तक जा रहा है कि अकबर के दिनेइलाही मजहब के नाम पर इसे इलाहाबाद कहा गया। सन् 1911 के गजट में इसका नाम इलाहाबाद दिया गया है। इलाहाबाद न केवल नदियों का संगम था। वरन् यह अन्य राज्यों तक पहुंचने का भी हृदयस्थल था। इसलिए अंग्रेजों ने यहां हाईकोर्ट, पब्लिक सर्विस कमीशन जैसे जरूरी दफ्तर बनाये। दिलचस्प यह भी है कि जिन मोहल्लों के नाम नहीं बदले गये, यह माना जा रहा है, वे अकबर काल से पूर्व ही मौजूद थे— अतरसुइया, भारद्वाज आश्रम, झूंसी और कौशांबी।

किसी नगर के इतिहास से छेड़छाड़ करना, मिथक और मिथ्योक्तियों का पिटाया खोलना भी होता है। कवि और इलाहाबादी विद्वान बोधिसत्व ने इस विषय पर लिखा है कि 'संसार में बेटी के नाम पर बसा लगभग अकेला नगर है इलावास जिसका नाम अकबर ने और उनके कम आधुनिक साथियों ने पूरा बदल दिया। इलावास नाम इलाहाबाद नगर के लिए प्रयाग से प्रचीन है।

'इलाहाबाद अंचल में यह भी मान्यता है पुरुरवा एल अर्थात् इलापुत्र ने मां के नाम पर इसे बसाया। अंतिम रूप से बेटी या मां के नाम पर आबाद हुआ नगर है इलाहाबाद।

'रामायण के अनुसार प्रयाग केवल वन था जहां इक्केदुक्के मुनि रहते थे। आबाद बस्ती इलावास थी।' जिस प्रकार बूढ़ पुरनिया के मन मानस में प्रयाग नाम बसा हुआ है वैसे ही हम और हमारे बाद आई नव पीढ़ियों के मानस में इलाहाबाद नाम बसा रहेगा।

याद आ रही है बिजूका डॉट कॉम पर पढ़ी संदीप तिवारी की कविता—

जो इलाहाबाद छोड़कर गया है

वह प्रयागराज नहीं लौटेगा।

लौटेगा तो इलाहाबाद लौटेगा।

प्रयागराज एक ट्रेन का नाम था।

अब प्रयागराज एक जंक्शन का नाम हो जायेगा।

अब टिकट पर नहीं लिखा मिलेगा इलाहाबाद

अब इलाहाबाद में उतनी महक भी नहीं बची रहेगी।

प्लेटफार्म पर गड़े पीले बोर्ड

जिसको देखने भर से आ जाती थी जान में जान

उस पर लिखा एक प्यारा शब्द

अब मिटा दिया जायेगा।  
 कहीं पर कुछ भी लिख दिया जाये  
 कुछ भी तोड़ फोड़ दिया जाये  
 पर दुखी मत होना।  
 सुबह जब ट्रेन पहुंचेगी इलाहाबाद जंक्शन  
 बगल बैठा मुसाफिर उठायेंगा  
 और बढ़ जायेगा इतना कहते हुए—  
 'जग जा भाई, आ गया इलाहाबाद'।

ताज्जुब कि कवियों ने शहर के नये नामकरण पर इतनी जल्द, इतनी भावभीनी प्रतिक्रिया जतलाई, गद्य लेखक ठस्स के ठस्स बैठे रह गये। क्या उनके प्रतिरोध के मुंह में दही जम गया अथवा उनकी संवेदना को लकवा मार गया। होते आज फिराक तो कहते— “यह क्या बदतमीजी है, शहर के नाम कमीजों की तरह नहीं बदले जाते।” बेधड़क बोलने वालों से ही शहर का कलेजा नापा जाता है।

वापस लौटें कुम्भ पर। कुम्भ के बगैर प्रयाग क्या? इस बार का कुम्भ तो सबसे विलक्षण था। एक तो अर्द्धकुम्भ को पूर्णकुम्भ बनाया गया। फिर उसे राष्ट्रीय के साथ अंतरराष्ट्रीय बनाया गया। 15 जनवरी से 4 मार्च तक शहर का रंग भगवा हो गया। सड़कें चौड़ी हुई, पटरियां संकरी हुई, मेला क्षेत्र में 40,000 एल.ई.डी. बल्ब लगाये गये। शहर की पुरानी बस्तियां रोशनी से मरहूम रहीं, हाईकोर्ट से लगाकर 1325 मीटर लम्बा उड़नपुल बना, रामबाग पर पैदलपार पुल खड़ा हुआ। कुम्भ तो प्रति छह वर्ष और बारह वर्ष में आता ही है, प्रायः शांतिपूर्वक सम्पन्न हो जाता है। मोक्ष की खोज में निकला तीर्थयात्री हंगामा खड़ा नहीं करता। जैसी भी व्यवस्था हो उसी में सुख संतोष ढूढ़ लेता है।

लेकिन इस बार तो पचास दिन के मेले के लिए 366 योजनाएं घोषित हो गईं। रातों में हैलोजन लाइट लगाकर काम पूरे किये गये। नये घाट निर्मित किये गये। और तो और सवा लाख शौचालय बना डाले।

विकास को और क्या चाहिए। शहर सुंदर लगे, स्वच्छ हो, शांत हो। विदेशी अतिथि आये तो घबराकर भागे नहीं। तभी तो सत्तर देशों के राजदूत यहां पधारे। अनगिनत पर्यटक। शहर की अर्थव्यवस्था को सहारा मिला। वे मिठाईवाले जो लोकनाथ की गलियों में मक्खी मारा करते थे, अब मेलाक्षेत्र में चकाचक कमाई करने लगे। कंठी, माला, इलायचीदाना बेचने वाले भी खुशहाल हुए। धवल दुग्ध में मक्षिकापात हो ही जाता है। समूचे शहर से सारे सफाईकर्मी मेलाक्षेत्र की सफाई के लिए बुला लिए गये थे। वे अपना काम चाबुकदस्ती से कर रहे थे। उनके मेहनताने के भुगतान में देर क्या अबेर कर दी मेला अधिकारियों ने। उन्होंने अरदास की, अर्जी लगायी ‘हुजूर जो मेहनताना तय हुआ वह दिया जाये।’ किसी के कान पर जूं नहीं रेंगी।

लेनिन ने गलत नहीं लिखा अगर कहा कि मजदूर का पैसा उसको पसीना सूखने से पहले मिल जाना चाहिए। कई कर्मियों का तो पूरा कुनबा सफाई के काम में यहां मेलाक्षेत्र में लगा था। बिना कमाई वे क्या खायें। उनमें नाराजी फैलने लगी। खाली जेब काम का दबाव झेलना आसान नहीं होता। सफाई कर्मचारी संगठन ने हस्तक्षेप किया। उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया गया। सफाईकर्मियों पर काम का दबाव देखकर लग रहा था कि यह स्वच्छता का वैश्विक मेला है, धर्म, संस्कृति अध्यात्म का नहीं। तभी तो इसके स्वच्छता पक्ष का वैश्विक प्रचार किया गया। गांवों से आये मेला भक्तों को मेलाक्षेत्र में अब्बल तो घुसने नहीं दिया गया, अगर वे किसी तरह

घुस गये तो उन्हें ठंड में, मीलों पैदल चलाया गया। यह आम श्रद्धालु की जगह वी.आई.पी. श्रद्धालुओं का पिकनिक स्थल बन गया। इसका नतीजा यह हुआ कि संगम अति महत्वपूर्ण अतिथियों के लिए निर्मल, नीरव और निजी छोड़ दिया गया और झूसी के स्नानार्थियों को झूसी और फाफामऊ वालों को वहीं; अरैल निवासियों को अरैल घाट तक सीमित कर दिया। हर स्नान पर्व पर यातायात के नियमों का भय फैलाकर स्थानीय स्नानार्थियों को तंग किया जाता रहा। इसका परिणाम उन कलाकारों को भुगतना पड़ा जो दूर दूर से, देश के हर कोने से, सरकार के आमंत्रण पर अपनी कला की प्रस्तुति के लिए पहुंचे थे। उन्हें दर्शकों का टोटा रहा। लगभग खाली पंडाल में समूहनृत्य होते देख फिल्म 'शराबी' का वह दृश्य याद आता रहा जहां जयाप्रदा, जब स्टेज पर नृत्य करने आती हैं, तो पूरा हॉल खाली होता है, सिर्फ एक दर्शक विकी उर्फ अमिताभ बच्चन बैठा मिलता है।

नाटकीयता यहीं खत्म नहीं हुई। आगे की दास्तान सुनिये। पूरे शहर में कला छात्रों से दीवारों पर चित्र बनवाये गये। नगर अभिराम लगने लगा। रोशनी की झिलमिल में छात्रों का कला कौशल जगमगाया। लेकिन उनका पारिश्रमिक— इल्लै। बेचारे अपने घर और होस्टल से कितनी बार, मेला अधिकारी के चरण चूमने दौड़ें। पारिश्रमिक की बात पर ही तो भड़ककर युवा कवि अंशु मालवीय मुसीबत में पड़ गये। सफाई कर्मियों में भुखमरी की नौबत आई देखकर जवान खून खौल गया। जब एक तम्बू परिसर से वे इस ज्यादती के खिलाफ जनगीत सुना रहे थे, खुफिया विभाग के लोगों ने सादे कपड़ों में आकर उन्हें दबोचा। सब कुछ इतना झपाटे से किया गया कि वहां मौजूद लोगों को भी कुछ देर बाद ही समझ आया कि जो इनोवा गाड़ी में अंशु मालवीय को बैठाया गया, वह उनका प्रतिबंधीकरण था। ठीक उसी वक्त हमारे मुखिया संसद में एक कविता की पंक्तियां उद्धृत कर रहे थे। कविता का सदुपयोग और दुरुपयोग एक ही दिन हमने देख लिया। उससे पूर्व एक दिन मुखिया ने सफाई कर्मियों के पैर गंगाजल से पखारे थे। सर्वत्र प्रेस में इस कृत्य की भूरि भूरि सराहना हुई थी।

अंशु मालवीय के घर परिवार से जब लोगों ने सम्पर्क किया, वहां किसी को नहीं पता था कि कवि कहां है, उसकी खैरियत क्या है? वह तो भला हो नये मीडिया का। फेसबुक और वॉट्सएप के जरिए पूरे मुल्क को घटना की जानकारी मिल गई। उधर सफाई कर्मियों ने पूर्ण हड़ताल पर जाने की धमकी दे डाली। मजबूरन प्रशासन को दो तीन घंटों में ही कवि अंशु को छोड़ने पर बाध्य होना पड़ा। मैं हैरानी में थी कि गंगा यमुना सरस्वती के मिलनजल को विदेशी स्नान के लिए निर्मल कैसे दिखाया गया होगा? पता चला कि कुम्भ के समय ऊपर के स्रोतों का पानी भारी मात्रा में गंगा की ओर मोड़ा गया। 'ज्वार गया, जलयान गये' की तर्ज पर अब गंगा यमुना वापस अनमनी, उदास और मटमैली हैं। लोगों ने फिर से वहां सूखे फूल, कूड़ा कागज, अगरबत्ती, प्लास्टिक डालना शुरू कर दिया। इंटरनेट पर एक चित्र में दिखाया गया है कि गंगा के कीच में सुअर सपरिवार लोट रहे हैं। कवि यश मालवीय के नवगीत की पंक्तियां हैं—

कुम्भ भर के लिए गंगा इंतजामी थी

अब कहां से जहर ढूँढे

रेत के उठते बवंडर में।

नाव उलटी, पाल उलटे

पूजनों के थाल उलटे

बोट क्लब पर बोट मार्गें

घंटियां घड़ियाल उलटे।

सन् 1991 से हम रानीमंडी छोड़कर रसूलाबाद वाले अपने घर में आ गये। यह मकान सन् 1978 में किशतों पर खरीदा। यह खाली पड़ा था। हमें जिंदगी की आपाधापी ने इतनी मोहलत ही न दी कि हम नये घर में रह सकें। माताजी की स्वास्थ्यगत परेशानियों की वजह से हमें यहां आना पड़ा।

मेहदौरी कॉलोनी का यह मकान बड़ा व दुर्मांजिला था। उसमें नीचे सामने की तरफ लॉन और बगल में बड़ी सी गैरेज थी। पिछवाड़े का आंगन पूरा कच्चा था। लाख पैर बचाकर सीमेंट की पट्टी पर चलो, बाहर की धूल मिट्टी घर के अंदर आ जाती। शकीला सारा घर सुबह साफ करती, शाम तक फिर गंदा लगने लगता। माताई ने कहा— “इंदर आगे पीछे की जमीन पक्की करा दे।”

अभी ‘गंगा यमुना’ अखबार शुरू नहीं हुआ था।

रवि ने काम लगवा दिया।

हम हमेशा बने बनाये मकानों में रहते रहे। पता नहीं था कि अगवाड़ा और पीठ पीछे का आंगन बनवाने में कितनी मेहनत लगती है।

राजमजदूर दुबला नाटा अघेड़ आदमी था लेकिन उसके कारीगर कुशल और फुर्तिले थे।

मैं सीमेंट बालू से बचती हुई कॉलेज चली जाती। रवि और माताई मूठे डालकर बाहर बैठ जाते और मिस्त्री से बातें करते रहते।

राजमिस्त्री से दोस्ताना हो गया। वह अपने दुख सुख सुनाता। रवि ने कहा— “झाईजी तुसी बेड़ा पक्का कर रहे हो, हरियाली देखन कित्थे जाओगे?”

“हां पुत्त ये तो सोचा ही नहीं।”

मिस्त्री ने सुझाया कि आगे और पीछे दीवार से सटी डेढ़ फुट चौड़ी पट्टी कच्ची रखी जाये। पीछे ज्यादा जमीन थी। वहां बीच बीच में गोल गड्ढे छोड़ दिये पेड़ लगाने के लिए। पहले से लगे हुए शरीफे, जामुन, शहतूत और अमरूद के पेड़ों को सुरक्षित रखा गया। पंजाब से सत्या मासी गलगल का पौधा लायी थीं, एक थाले में उसे रोप दिया। दूसरे ही साल उसमें शानदार बड़े बड़े गलगल लगे जिनका हमने अचार बनाया।

आगे का आंगन सफेद सीमेंट से पेंट होकर इतना साफ, चमकदार लग रहा था कि एक चांदनी रात में पड़ोस की बिल्ली उसे दूध समझकर चाट गई। सुबह उसकी जीभी के निशान देखते ही मिस्त्री समझ गया। उसने उस जगह फिर सफेद सीमेंट लगायी। ऊपर टैरेस पर बहुत सारे गमले थे जो बच्चों की गेंदबाजी के शिकार होते रहे। अन्नू और उसके साथी घर के सामने की सड़क पर भी क्रिकेट खेलते तो न जाने कैसे गेंद ऊपर टैरेस पर आकर गमलों को ही लगती। पूरा गमला नहीं टूटता। एक किनारा या आधा हिस्सा टूट जाता। यही गनीमत थी कि उस कालोनी में गमले बेचने वाले आते रहते। नीचे खिड़कियों के सामने वाली कच्ची जगह पर रवि ने बेगमबेलिया की एक पौध नर्सरी से लाकर लायी थी। उसमें सफेद बेगमबेलिया लगे। रवि ने उसी जगह सटाकर बेगमबेलिया के और पौधे लगाये। पीले, गुलाबी, बैंगनी और सफेद बेगमबेलिया का घना, विशाल झुरमुट तैयार हो गया। कई वर्षों में वह इतना फैल और चढ़ गया कि हमारी टैरेस तक जा पहुंचा।

उधर पिछवाड़े लगा सागौन का पेड़ भी कालोनी का सबसे ऊंचा, लम्बा प्राणी था।

मैं रवि से कहती— “तुम जो भी चीज उगाते हो वह झट से लम्बी हो जाती है।”

रवि हंसते हुए, बच्चों की तरफ शरारत से देखते— “देखो दोनों कैसे कद निकाल रहे हैं।” घर में बागबानी, जिसको सत्यानंद निरूपम गमलबानी कहते हैं, बड़ा सस्ता, सुंदर और



सुकुमल सा शौक है। हफ्ते में एक दिन माली आता। वह खाद, गुड़ाई और नई पौध वगैरह का काम कर देता। गुसलखाने से पाइप लगाकर बाहर लाना असुविधा पैदा करता। हमने बाहर एक नल लगवा लिया।

बेगमबेलिया में सवरे से चिड़ियों का अपना गाना शुरू हो जाता। कई चिड़ियों ने उसमें घोंसला बना लिया। सुबह उनके छोटे छोटे बच्चे भी चोंच खोले दिख जाते। एक कत्थई रंग की चिड़िया आती। उसके सिर पर मुकुट जैसा होता। कुछ एकदम काले रंग की नन्हीं चिड़ियां आतीं। मैं उनको कलमुनिया बुलाती।

पिछवाड़े अमरूद के पेड़ पर अमरूद पक गये, इसका पता हमें तोते देते। वे पेड़ से चख चख कर अमरूद नीचे फेंकते। सुबह पीछे का आंगन अधखाये फलों से बिछा रहता। जामुन के पेड़ पर चींटे पिलचे रहते। वहीं कपड़े सुखाने की रस्सी बंधी हुई थी। चींटे कपड़ों में चिपक जाते। तंग आकर जामुन का पेड़ कटवाना पड़ा।

सागौन का पेड़ हमारे घर का वैभव था। हर आगंतुक को उसके दर्शन करवाए जाते। लेखक भी एक से एक उर्वर दिमाग के होते हैं। कोई कहता— “कालिया इस पेड़ की सेवा करो तो यह तुम्हें तीन चार लाख रुपये दे जायेगा।”

सागौन अठारह फीट ऊंचाई ले चुका था। उसकी भारी टहनियां नीचे तक झुकी रहतीं। पड़ोसी घर से अक्सर शिकायत आती, “आपके पेड़ की छाया की वजह से हमारी मूली बैंगन बढ़त नहीं लेतीं।” पेड़ को छंटवाने का खयाल भी हमारे लिए दुखदायी था।

एक बार जबलपुर से ज्ञानरंजन आये। उन्हें पेड़ पौधों से बहुत लगाव है। उन्होंने हमारा सागौन देखते ही बता दिया कि इसमें चींटियां लग चुकी हैं। उन्होंने पेड़ का काफी हिस्सा खुरचा, उसकी छाल के नीचे चींटियां रेंग रही थीं।

हम समझे नहीं; वह दीमक थी जो धीरे धीरे पूरे पेड़ में लग गई।

हम तो सन् 2003 में कलकत्ता और उसके बाद दिल्ली चले आये। दीमक ने घर में अड्डा बना लिया। वह पहले सागौन को खोखला कर गई, बाद में किताबों की आलमारियों में ऐसी लगी कि हमारा दुर्लभ पुस्तक संग्रह समूचा चाटकर लुगदी बना गई। दीमक कैंसर की तरह फैलती है, यह हमें बहुत बाद में पता चला। हम दिल्ली से दो तीन दिन के लिए इलाहाबाद आते। अक्सर किसी कार्यक्रम के कारण। मिलने जुलने में झट से छुट्टी खत्म हो जाती। मन्नु और लाडो बार बार कहते— “पापा पेड़ कटवा दीजिए, उससे सारे घर में अंधेरा है और कीड़े झड़ते हैं।” दोस्तों ने बताया हरा पेड़ कटवाने से पहले वन विभाग की स्वीकृति लेनी होती है। कहां लिखें, किसको लिखें कुछ स्पष्ट नहीं हुआ। बड़े दिनों बाद पता चला कि वन सुरक्षा कार्यालय में अर्जी डालकर पेड़ काटा जायेगा। किसी दोस्त ने ही आरम्भिक दौड़भाग की और पेड़ का एक ग्राहक भी पकड़ लाया। उसी रात हमारी दिल्ली की वापसी थी।

पेड़ का ग्राहक बड़ी सी ट्रक और कर्मचारियों सहित आया। पहले ऊपर का हिस्सा काटा गया, फिर बीच का। हम दोनों को यह दृश्य तकलीफ दे रहा था। मन्नु को लग रहा था, बला टल रही है। जब अंतिम हिस्सा कटने की वारी आई तो पेड़वाला बिदक गया। वह विशाल हिस्सा बीच में खोखला था। तने के आसपास की लकड़ी साफ स्वस्थ थी लेकिन बीचोंबीच पोला हो चुका था।

पेड़वाले ग्राहक ने कहा— “यह पेड़ मेरे किसी काम का नहीं है। मैं वापस जा रहा हूँ।”

हम परेशान। पूरा घर पेड़ के दो कटे हुए तने और वजनी शाखाओं से एकदम जंगल में तब्दील हो गया था। मन्नु की बेटी आद्या मुश्किल से दो बरस की थी। उसे कोई संक्रमण न लग जाये इसकी मुख्य चिंता थी।

यश मालवीय, रवि ने काफी समझा बुझाकर पेड़वाले को मनाया कि वह पेड़ यहां से उठा ले जाये। जो भी रुपये उसने दिये वे मन्नू को दे दिये गये कि घर का pest control करवाये। उसी दौरान पता चला कि नीचे के कमरों में कतार से लगी हमारी समस्त किताबें दीमक ने चाट लीं। उनमें दुर्लभ ग्रंथ और प्रख्यात विद्वानों की भेंट दी हुई पुस्तकें थीं। यहां तक कि पापा का पुस्तक भंडार भी मेरे ही पास था। धीरे-धीरे अस्थाना की कहानी याद आने लगी। 'पिता' में पिता कहता है— "एक तरफ से मैं मर रहा हूं दूसरी तरफ से खाली हो रहा हूं।"

पता नहीं लोग तीन चार घर बनवाकर कैसे संभाल लेते हैं। हम तो दोनों मिलकर एक घर की भी रक्षा नहीं कर पाये। दिल्ली में लाजपत नगर में हमारे पास इतना छोटा मकान था कि उसमें किताबों के लिए जगह ही नहीं थी। आज तक हमें मेहदौरी के घर की आलमारियों में लगी किताबों की कतारें याद आती हैं। इसे काल न्याय कहें या काल अन्याय। अन्य पेड़ पौधे भी बहुत सताये गये। आगे को लगा बेगमबेलिया बच्चों ने कटवा दिया कि इसकी वजह से अंधेरा रहता है। फाटक के कड़े पर साइकस का बहुत बड़ा और भारी काटेदार पाइप था। रवि उसे घर का चौकीदार कहते— "इसके रहते चोर अंदर आने का जोखिम उठायेगा ही नहीं उसके हाथ पैर छिल जाएंगे।" उसका गमला भी वज्र सीमेंट का था। घर के दरवाजे के बाहर एक घड़ी टंगी रहती थीं अंदर उसके लिए माकूल दीवार नहीं दिखी। उसकी सडूलियत भी थी। घर से निकलते और लौटते वक्त घड़ी नसीहत देती।

एक सुबह हम जागे तो हमारा साइकस का वज्र गमला और दीवारघड़ी, दोनों नदारत। दोनों की खाली जगह ध्वस्त उजाड़, अपनी शून्यता का हाहाकार कर रही थीं। कालोनी में बाकायदा पहरेदार भी था जो रात में कई बार डंडा पटककर आवाज लगाता— "जागते रहे।" हमें भी आदत हो गई थी कि इलाहाबाद की समस्त समस्याएं अधबीच में मन्नू के जिम्मे डालकर सीधे दिल्ली कूच कर जायें। तब वहां ज्यादा बसावट नहीं थी। सड़क थी पर टूटी पथरीली। बाजार था, रौनक नहीं थी। इंजीनियरिंग कालेज था पर विकास नहीं था। आवागमन के साधन के नाम पर लम्बे ऑटो चलते जिन्हें गणेश कहते और जिनके बाहरी ढांचे पर लोहे के कुंडे लटके रहते। उनमें दूधवाले अपने भारी डोल बांधकर आसपास के गांवों में जाते। गंगा के ऊपर सौ साल पुराना जर्जर पुल था जो रेलगाड़ी गुजरने के बाद दुष्यंत कुमार की गजल सा थरथराता रहता—

*तू किसी रेल सी गुजरती है  
मैं किसी पुल सा थरथराता हूँ।*

लेकिन डाक पते से महसूस होता, हम अंग्रेजों की बसाई हुई बस्ती में रहते हैं। पते में हम लोग लिखते— कैवेलरी लाइंस, इलाहाबाद। आजादी से पहले और बाद में भी यहां मिलिटरी की छावनी रही। पुलिस लाइंस पार करते ही हमको लम्बी, पक्की, सीधी सड़कें मिलतीं जो मिलिटरी का प्रतिबंधित क्षेत्र कहलातीं। इस इलाके की सड़कों पर बिजली नहीं लगाई जाती थी। अगर आपके वाहन की बत्ती खराब हो जाये तो भगवान भरोसे ही घर पहुंच सकते थे। चौक इलाके की गहमागहमी के बाद रसूलाबाद हमें साक्षात् निर्वासन, निष्कासन दिखायी देता। रसूलाबाद घाट पर श्मशान था और गंगा यहां कुछ खिन्नमना सी बहती। पहले जब मकान कम बने थे हमारी टैरेस से गंगा दिख जाती। ताजुब यह कि दूर जाकर गंगा स्वच्छ, निर्मल और सतेज नजर आती।

हमारे घर के बायें हाथ की सड़क सीधे रसूलाबाद घाट ले जाती। अक्सर वहां से शववाहन गुजरते। जीप की छत पर बंधी अर्थी और अंदर बैठे चार छह घरवाले। एक बार मैंने एक आदमी को रिक्शे में लाश ले जाते देखा। वह बिल्कुल अकेला था, अर्थी से बचाकर अपने पैर लटकाए

हुए था और उदास, निसंग भाव से केला खा रहा था। मुझे लगा जरूर कोई अजनबी होगा। अस्पताल में इसका मरीज मर गया और यह उसका अंतिम संस्कार करने यहां घाट पर आया है। कहां से जुटाएगा बंधु बांधव? ऐसे न जाने कितने विदारक दृश्य दिख जाते। इलाहाबाद विकास प्राधिकरण को चुनकर यही जगह मिली थी हमारी कालोनी बसाने को— मेहदौरी कालोनी। पहले तो मेहदौरी का कोई अर्थ ही समझ में नहीं आया। किसी ने बताया मेहदौरी वहां के एक गांव का नाम था। श्मशान की वजह से यहां के वातावरण में एक अवसाद व्याप्त रहता है। इलाहाबाद में रहने वाले एक कवि जयकृष्ण तुषार ने इसीलिए लिखा है—

हर लहर पर मोक्ष लिखता है रसूलाबाद  
मौन से बस मौन का होता है यहां संवाद।  
सभी मौसम बांटते  
हर दिन यहां अवसाद

रसूलाबाद के घाट पर साहित्यकार संसद का भवन और परिसर है। सन् 1942 में यह बड़े जोर शोर से स्थापित हुआ था। इसके पहले अध्यक्ष मैथिलीशरण गुप्त थे। महादेवी वर्मा, निराला जी, माखनलाल चतुर्वेदी और हजारी प्रसाद द्विवेदी इसकी गतिविधियों में सक्रिय रहे। किंतु बाद में पुलिस के एक कर्मचारी करुणेश जी ने इसे विवादों का अड्डा बना दिया। भवन के बरामदों में उसने अवैध रूप से किरायेदार बसा दिये। इसे खाली करवाने में लम्बी कानूनी लड़ाई चली। मुकदमा हारने के बाद भी करुणेश के गुर्गे इस भवन और परिसर पर इतनी निगाह रखते हैं कि सुबह की सैर में भी आप इसकी बेंच पर टिक नहीं सकते। उसी वक्त कोई पूछताछ के लिए आ जाता है। संस्थापकों के जाने पर संस्थाओं की क्या गति होती है, साहित्यकार संसद इसका सजीव उदाहरण है। महादेवी जी और निराला जी का नाम भी इसे स्वरूप नहीं दे पाया। साहित्य, संस्कृति और कला की गुंजाइश इसी तरह शहर से कम होती चली जाती है। सिविल लाइंस में बैंक ऑफ बड़ौदा शाखा के पास एक प्लॉट खाली पड़ा हुआ है। कभी यहां अवैध सामान बेचने वाले आ बैठते हैं, कभी यहां कचौड़ी बिकने लगती। एक दिन पता चला कि यह जगह थियेटर स्थापित करने के लिए आरक्षित की गई लेकिन किसी ने यहां बड़ा रंग सभागार बनवाने की कोशिश नहीं की। जाने कितने प्रशासनिक अधिकारी आये और गये।

प्रशासन शब्द से एक और याद की कॉलबेल दब गई। *रागदरबारी* और *मकान* जैसे चर्चित उपन्यासों के विख्यात रचनाकार, हमारे प्रिय अग्रज मित्र श्रीलाल शुक्ल कुछ बरस इलाहाबाद में मुख्य प्रशासनिक अधिकारी नियुक्त रहे। शायद 1977 से 1980 के बीच की बात होगी। इस पद से जुड़ी जिम्मेदारियां श्रीलाल जी को उबाऊ लगतीं। वे किसी तरह छः बजने का इंतजार करते। शासकीय परिसर में ही उनका घर था। कई बार वे हम दोनों को अपने यहां बुला लेते। रवि के साथ उनकी बैठकी जमती। श्रीलाल जी अपनी बैठी बैठी, भावप्रवण आवाज में कहते— “सुबह सवेरे उठकर मुझे शहर का नाली दर्शन करने जाना पड़ता है। सारा साहित्य उखड़ जाता है।” कभी किसी यूनिनयन के कर्मचारी उनके बंगले के बाहर शामियाना तानकर सभा करते तो कभी धरना प्रदर्शन चलता। हम उनकी बातों पर, मौलिकता पर निहाल रहते। उनकी संगीत ज्ञाता पत्नी गिरिजा जी बार बार उन्हें वक्त का ध्यान दिलातीं और समझातीं कि वे खाना खा लें। श्रीलाल जी एक तरन्नुम में जीते। बोलते तो लगता अगली किताब का कोई अध्याय लिखा जा रहा है।

एक बार *सारिका* से मेरे पास सम्पादक नंदन जी का फोन आया कि फौरन श्रीलाल जी का साक्षात्कार लेकर भेजो।

मैंने सोचा वे तो अक्सर मिलते हैं। उनसे बातचीत करनी कौन सी मुश्किल होगी।

फोन करके मैं एक दिन उनके घर पहुंची। श्रीलाल जी अच्छे मूड में थे।  
मैंने जो भी सवाल पूछे उन्होंने बड़े आदर्श उत्तर दिये। मैं हैरान। यह रागदरबारी वाले लेखक की भाषा शैली नहीं थी।

मैंने पूछा— “लिखते समय क्या आपको किसी चीज की तलब होती है?”

“बिल्कुल नहीं। मेरी जुवान पर अगर एक कतरा भी शराब हो तो मैं लिख क्या सोच भी नहीं पाता।”

इसी तरह के कुछ और पारम्परिक उत्तर उन्होंने दिये।

मैं चकराती हुई, उस चौपट इंटरव्यू के कागज लेकर घर पहुंची।

रवि ने पूछा— “कैसी रही बातचीत?”

मैंने बता दिया।

रवि बोले— “तुम फेल हो गई। श्रीलाल जी तुमसे खुले ही नहीं।”

रवि ने हैमिंग्वे की पुस्तक ‘ए मूवेबिल फीस्ट’ निकालकर मुझे पढ़ने को दी जिसमें स्कॉट फिट्ज़्जेरल्ड अर्नेस्ट हैमिंग्वे का इंटरव्यू लेने, कैफे में पहुंचता है और उसके सवालियों से उखड़कर हर बार हैमिंग्वे नाराज हो जाते हैं। एक दिन तो दोनों के बीच मारपीट की नौबत आ जाती है।

“एक बड़े लेखक से बातचीत करना खेल नहीं होता।”

रवींद्र कालिया ने नसीहत दी।

उधर नंदन जी फोन करे जा रहे थे। इंटरव्यू का क्या हुआ? जल्दी फैंक्स करो।

अगले दिन शायद इतवार था। शाम को श्रीलाल जी का फोन आया— “हलो, ममता कल का इंटरव्यू फाइवर फेंक दो। आज आओ।”

मैं फिर उनके घर गई।

उन्होंने छूटते ही कहा— “कल के मैं सारे जवाब वापस लेता हूं। दरअसल बातचीत का यह निहायत वाहियात तरीका है।”

“इसमें क्या खराबी है?”

“अगर मैं तुम्हें सामने बैठाकर पूछूं तुमने कौन सी तारीख को, कितने बजे, कौन सी जगह रवींद्र कालिया से प्रेम किया था तो तुम्हारा क्या जवाब होगा?”

मैंने कठिन होते हुए कहा— “श्रीलाल जी आपको मेरा नहीं, मुझे आपका इंटरव्यू लेना है।”

श्रीलाल जी ने खिन्न होकर कहा— “तुम मुझे उसी गली में खड़ा कर रही हो जहां मामूली प्रसाद वर्मा और तरक्कीराम अपना ढोल बजाते हैं, मैं यह हूं मैं वह हूं।”

गिरिजा जी चाय की ट्रे के साथ खुद चली आईं। श्रीलाल जी चाय पीकर थोड़ा सहज हुए।

मैंने फ्रंटियर मेल की तरह जल्दी जल्दी सवाल पूछे और जैसे तैसे इंटरव्यू पूरा किया। तीन साल बाद श्रीलाल जी की नियुक्ति वापस लखनऊ सचिवालय में हो गई।

एक दिलचस्प दोस्त के जाने की खबर से दिल उदास हुआ। उनके सामान का ट्रक रवाना हो गया। हाथ के चंद नग उनके और परिवार के साथ कार में जाने वाले थे। हम मिलने गये। श्रीलाल जी सुस्त बैठे थे। हमें देखकर कुछ खिले। रवि से बोले— “आज तुम्हारे साथ एक गुडबाइ गल्प (gulp) लेना चाहता हूं। जरा उस बैग में देखना।”

रवि ने कहा— “श्रीलाल जी आपको सफर करना है और यह कोई वक्त भी नहीं है।”

श्रीलाल जी भावुक हो रहे थे। उन्होंने कहा— “कालिया मुझे लगता है इलाहाबाद से मैं विफल होकर जा रहा हूं।”

आये दिन कर्मचारियों के धरना प्रदर्शन से श्रीलाल जी मन ही मन आहत थे। यह पहचान

कर रवि ने एक बार फिर उनकी टोकरी में हाथ डाला। वहां कपड़ों की परतों में कई बोतलें रखी हुई थीं। दूसरे हैंडबैगों का भी यही हाल था। उनका पूरा बार उनके साथ सफर करने वाला था।

रवि ने उन्हें खुश करने की कोशिश की— “श्रीलाल जी विफल नहीं यह तो हर झोले में सफल जा रहे हैं आप।” लखनऊ उतना दूर नहीं था जितने गमगीन श्रीलाल जी थे। हमें भी लग रहा था कि किसी भी दिन गंगा गोमती एक्सप्रेस पकड़कर लखनऊ चले जाएंगे लेकिन यह तो वक्त ने बताया कि ऐसा करने की फुर्सत दोनों तरफ दुश्वार थी। कई बार दूरदर्शन या आकाशवाणी के न्यौते पर हम लखनऊ गये। वहां कार्यक्रम रेकॉर्ड करवाने में ही इतनी देर हो गई कि हम लोग मिल न पाये। एक दिन श्रीलाल जी का पोस्टकार्ड मिला—

प्रिय कालिया

तुम लखनऊ आते हो, नहीं मिलते।

मैं भी इलाहाबाद आता हूँ, नहीं मिलता।

नुकसान तो हर हाल मेरा ही होता है।

किसी दिन लखनऊ आओ तो मिलो

सस्नेह

श्रीलाल शुक्ल

ऐसी रसिक दोस्तियां अब कहां नसीब होती हैं। इलाहाबाद में अपने वरिष्ठ रचनाकार मित्रों से हमने बहुत सीखा।

रवि अमरकांत जी को अपना गुरु मानते थे। 1980 के दिनों में जब वे ‘*खुदा सही सलामत है*’ लिख रहे थे, अमरकांत जी के साथ उनकी लगातार बातचीत होती। जब रवि उपन्यास पूरा करने जा रहे थे अमरकांत जी ने एक दिन पूछा— “कालिया जी आपने इतने पन्ने लिख दिये। एक वाक्य में अगर पूछूं तो बताइए आप क्या कहना चाह रहे हैं?”

रवि चकित, स्तंभित।

500 पन्नों के उपन्यास को एक वाक्य में कैसे समेटें।

अमरकांत जी ने कहा— “हर लेखक को अपनी रचना एक वाक्य में समेटना आना चाहिए अन्यथा वह महज कागज काले कर रहा है।”

अमरकांत जी ने पांडुलिपि पढ़ी और कहा— “*खुदा सही सलामत है* की थीम है ‘न दैन्यं न पलायनम्’ दूसरी समानांतर थीम है ‘कौमी एकता’।”

बाद के उपन्यासों में भी रवि की केंद्रीय थीम यही रही ‘न दैन्यं न पलायनम्’। जीवन भी इसी तर्ज पर जिया।

इसे हम इलाहाबाद का आधारस्वर भी मान सकते हैं। सामान्यता का स्वाभिमान, स्वाधीनता की पहचान और साहित्य का सम्मान। दिल्ली की तरह यहां कोई किसी का रास्ता नहीं काटता। अपना महल खड़ा करने के लिए किसी की झोंपड़ी नहीं ढहाता। हमारे इलाहाबाद में अतिक्रमण की दुर्घटना कम से कम होती है। वक्त की चोटों में इसका कुछ चमत्कार कम हुआ होगा फिर भी यह अभी खुशगवार है। तभी तो तुपार कह उठते हैं—

अदब के सिर पर

मुकुट सा है इलाहाबाद

विशेष आभार : संदीप तिवारी, उत्कर्ष मालवीय, यश मालवीय और जयकृष्ण तुपार

अगले अंक में जारी

## समलैंगिकता : 'मने माणस वधारे फावे छे'

सुधीर चंद्र

प्रसिद्ध इतिहासकार, समाज चिंतक सुधीर चंद्र ने अपने मित्र और दुनिया भर में जानेमाने चित्रकार भूपेन खखर पर भूपेन : एक अंतरंग संस्मरण शीर्षक से एक पुस्तक तैयार की है। उसका एक संपूर्ण अध्याय पहलेपहल तद्भव के पाठकों के लिए। पुस्तक रजा पुस्तकमाला के अंतर्गत राजकमल प्रकाशन से शीघ्र प्रकाश्य।

भूपेन नहीं जानता था उस वक्त। पर हम हिसाब लगा सकते हैं उसके जाने के बाद कि अपनी 69 बरस की जिंदगी में सिर्फ आखिरी दस बरस वह चैन, आनंद और आजादी से जी सका। बाकी सारी जिंदगी—सारा बचपन, सारी जवानी और प्रौढ़ावस्था का एक बड़ा हिस्सा—जीता रहा दहशत में। कहीं पकड़ा न जाऊं। क्या होगा अगर पता लग गया घरवालों को, दोस्तों को, या जानने वालों को? झूठ, बेईमानी और झमेबाजी के सहारे अपने को बचाए रखने की मुसलसल सफल असफल कोशिशें करता रहा। मौत से आठ बरस पहले, 1995 में, उसने लिखा : *धीरे धीरे अब साठ साल की उमर पे हिम्मत कर पाया हूं अपनी इच्छाओं और अपने दोस्तों के बारे में बोलने की।* अपनी समलैंगिक इच्छाओं और अपने समलैंगिक दोस्तों के बारे में।

1980 में शिवमहाल के आउटहाउस में भूपेन से हुई मुलाकात के वक्त वल्लवभाई उसके साथ थे। उसके बाद जब भी बड़ोदा जाता भूपेन के घर में ही रहना होता। तब वल्लवभाई से और मिलना जुलना होने लगा। जल्दी ही गीताजलि और मेरा भी वल्लवभाई के यहां आना जाना शुरू हो गया। भूपेन के और 'पुरुष मित्र' भी आते ही रहते थे। न ही ऐसा था कि हमें भूपेन की समलैंगिकता का पता नहीं था। न सिर्फ गीता कपूर की कंटेम्पेरी इंडियन आर्टिस्ट्स की 'कापी एडिटिंग' की थी मैंने, उससे मेरी दोस्ती भी हो गई थी। सो जो किताब में नहीं था भूपेन

के निजी जीवन के बारे में वह भी पता चल चुका था गीता से। लेकिन खुद भूपेन से कई सालों तक कोई सीधी बात नहीं हुई इस बाबत।

भूपेन अक्सर कहा करता था कि 1979 के लंदन प्रवास ने उसे समलैंगिक संबंधों का खुला आजाद रूप दिखा दिया। उसने देखा कि समलैंगिक जोड़े निश्चित सरेआम साथ साथ रहते हैं। इस अनुभव ने उसको अपने अपराधबोध से मुक्त कर दिया, और उसमें एक नया आत्मविश्वास पनपने लगा। पर यह असर अकेला काफी नहीं था उसे बेपरवाह समलैंगिक जिंदगी जी सकने देने के लिए। भूपेन की तर्ज पर कहें तो 'एक और बात' 'एनअदर थिंग'—यह थी कि इस तरह के असर एकबारगी अपना पूरा रंग नहीं दिखाते। धीरे धीरे हिम्मत देते और अमल में आते हैं।

खैर, मेरी दोस्ती तो शुरू ही हुई थी। पर महेंद्र देसाई और भूपेन के बीच तो खूब छनती थी। वैसे भी जब 1983 में महेंद्र की किताब छपी तब तक भूपेन 'यू कांट प्लीज ऑल' (1981) और 'टू मैन इन बनारस' (1982) जैसे घोषणाकारी समलैंगिक चित्र बना चुका था। मुमकिन नहीं था कि महेंद्र को असलियत का पता न हो। पर भूपेन की समलैंगिकता को लेकर मौन है महेंद्र की किताब। यहां तक कि उसमें जो दो लंबे प्रकरण हैं भूपेन के शादी न करने के बारे में उनमें भी उसकी समलैंगिकता की भनक तक नहीं है। पहले प्रकरण में रणछोड़भाई विस्तार से बताते हैं कि हर कोशिश कर ली उन्होंने भूपेन की शादी करवाने की, लेकिन उनकी हसरत पूरी न हो सकी। एक बार तो राजी भी कर लिया था भूपेन को एक लड़की से मिलने के लिए, किंतु नापास कर दिया भूपेन ने उसे। जब रणछोड़भाई फिर भी लड़की की अच्छाइयां गिनाने लगे भूपेन को मनाने के इरादे से तो उसने पलट के कह दिया : "इतनी अच्छी है तो खुद ही ब्याह कर लो उससे। तीन कर ही चुके हो पहले, एक और कर डालो।" दूसरे प्रकरण में महेंद्र सीधे भूपेन से शादी न करने का कारण पूछते हैं। तब भी समलैंगिकता का कोई जिक्र नहीं होता।

इतना ही नहीं, महेंद्र की किताब में भूपेन और शीला के प्रेमसंबंध का भी जिक्र आता है। भूपेन की 'कजिन' थी शीला। जैसाकि उस जमाने की परिवार व्यवस्था में ममेरे फुफेरे मौसरे चचेरे भाई बहनों में अक्सर हो जाया करता था, भूपेन और शीला में प्रेम हो गया। लेकिन, जैसीकि ऐसे संबंधों की सामान्य नियति होती थी, उनका विवाह न हो सका। शीला के अमीर पिता को नामंजूर था भूपेन जैसे के साथ अपनी बेटी का रिश्ता।

महेंद्र को यह जानकारी बचपन से ताउम्र भूपेन के मित्र रहे प्रसिद्ध नृत्य समालोचक सुनील कोठारी से बातचीत के दौरान मिली। शायद यह सोचकर कि सुनील से ज्यादा नजदीक से और लगातार किसी ने भूपेन को नहीं देखा था, महेंद्र ने सुनील का कहा जस का तस लिख दिया अपनी किताब में। लेकिन हम जानते हैं—जानना तो महेंद्र को भी चाहिए था—कि भूपेन समलैंगिकता को पैदाइशी मानता था, मानता था कि वह पैदा ही हुआ था समलैंगिक। उसका यह मानना सुनील के दिए प्रेमप्रसंग से मेल नहीं खाता। बस इतनी गुंजाइश फिर भी रहती है कि शीला से प्रेमप्रसंग के वक्त तक भूपेन अपना रुझान ठीक से समझ न पाया हो। साथ ही यह भी संभव है कि असलियत छिपाने के लिए भूपेन—शायद अपने आप से भी—ढोंगकर रहा था एक लड़की से प्रेम हो जाने का। 1995 के अपने उसी दस्तावेज में जिसमें उसने साठ साल की उमर पर जाकर हिम्मत जुटा पाने की बात की है, भूपेन यह भी बताता है कि, लोगों को झांसे में रखने के लिए कि वह भी उन्हीं की तरह 'नॉर्मल' है, वह बड़े बड़े फिल्मी पोस्टरों में हीरोइनों को देखकर या किसी लड़की के बगल से निकलने पर ऐसे दिखाता था जैसे बड़ा आनंद

ले रहा है जबकि अंदर ही अंदर उसे घिन आ रही होती थी इस सब से।

आंखों देखे और कानों सुने तथ्यों और प्रमाणों के भी बड़े अदृश्य छलावे होते हैं। जीवन में सोलह आने खरे साक्ष्य नहीं होते; हों भी तो अपने आंख कान की खोट तो रहती ही है। इतना जानने के बाद भी इच्छा हुई कि चलो सीधे सुनील से ही पूछ लें। भेज दिया एक ईमेल। शीला भूपेन के सगे मामा, चाचा, मौसी या बुआ की बेटी थी, या कोई दूर की 'कजिन' थी? दोनों कितने बड़े थे उस वक्त? मामला गंभीर था क्या? इस प्रेमप्रसंग के वक्त क्या भूपेन को अपनी समलैंगिकता का पूरा एहसास नहीं था? सुनील का जवाब संक्षिप्त था : भूपेन बन रहा था; अपनी 'सेक्सुएलिटी' वह अच्छी तरह समझता था; शीला किसकी बेटी थी मालूम नहीं। सुनील के जवाब के बावजूद धुंधलाहट बनी रहती है। सुनील मेरे सवालियों के जवाब में साफ साफ कहते हैं कि भूपेन सरासर नाटक कर रहा था शीला से प्रेम का। लेकिन रस ले लेकर जिस अंदाज में सुनील महेंद्र को यह प्रेमकथा सुनाते हैं उसमें किसी को संदेह तक नहीं हो सकता कि यह सब दिखावा था। महेंद्र ने सुनील के शब्दों में ही सारा किस्सा बयान किया है, अपनी तरफ से कुछ नहीं जोड़ा है। उसी को पढ़कर आखिर मुझे भी जरूरत पड़ी थी सुनील से पूछने की कि असल में माजरा था क्या?

महेंद्र बड़े पत्रकार थे, चीजें सूँघ लेने में दीक्षित। ज्योति लिमिटेड में भूपेन के साथ थे। भूपेन की समलैंगिकता की कुछ भनक तो मिली होगी उन्हें भी। (अपने लेख 'भेरू' में गुलाम का कहना है कि महेंद्र को 1980 तक कुछ नहीं मालूम था, और उन्होंने गुलाम से भी पूछा था भूपेन के शादी न करने का कारण। गुलाम यह नहीं बताते अपने लेख में कि उन्होंने कितना कुछ बताया महेंद्र को।) ज्यादा संभावना यह है कि महेंद्र को भी लगा हो कि शीला प्रसंग के समय तक भूपेन शायद अपनी 'सेक्सुएलिटी' को लेकर असमंजस में था, और उसी के साथ जुड़ गई हो वर्जित फल चखने—'इन्सेस्ट'—की लालसा, और वाकई आकर्षित हो गया हो वह अपनी 'कजिन' की तरफ। फिर भी अचरज है कि अपनी पूरी किताब में महेंद्र इशारा तक नहीं आने देते भूपेन की समलैंगिकता का। बल्कि शादी ब्याह का इतना विस्तृत ब्यौरा डालकर वह, शायद अनजाने ही, पाठक को पुरुष स्त्री संबंधों में ही घेरे रहते हैं। कोई और गुंजाइश आने ही नहीं देते। लगता है कि जानते हुए कि अपनी कला में समलैंगिकता का शंखनाद कर देने के बावजूद भूपेन अपनी निज की समलैंगिकता के मामले में एहतियात बरतना चाह रहा था, महेंद्र ने दोस्त के रहस्य को रहस्य ही बनाए रखना ठीक समझा। महेंद्र ने जितना लिखा उससे कहीं ज्यादा था उनके पास लिखने को।

हमारी जानकारी इतनी थोड़ी है, और जिस विषय की बात हो रही है वह इतना रहस्यमय है, और खुद संबंधित व्यक्ति के लिए भी काफी हद तक रहस्यमय बना रहता है, कि शीला प्रसंग की असलियत जानना असंभव है। कितने भी विश्वास के साथ आज सुनील दावा करें कि भूपेन ढोंगकर रहा था शीला से प्रेम का, इस संभावना को खारिज नहीं किया जा सकता कि जब हुआ वह प्रसंग तब उस तरह का कोरा नाटक भर नहीं था जैसाकि बाद में लगने—और कहा जाने—लगा कि था। इस संदर्भ को और पेचीदा बनाने वाला एक दिलचस्प तथ्य नौशिल बताते हैं। एक बार उन्होंने भूपेन से पूछा कि क्या कभी किसी स्त्री के नजदीक आए हैं आप? भूपेन ने जवाब दिया : "छोड़ यार।" बजाय छोड़ने के नौशिल ने कहा: "मेरे पहचान की एक लड़की है। आपको पसंद भी है। मैं बात कर सकता हूँ उससे, वह इंटरस्टेड हो सकती है।" "नहीं यार।" भूपेन बोला। नौशिल ने पैतरा बदला : "आप कैसे कह सकते हैं कि बात नहीं बनेगी अगर आपने कभी कोशिश ही नहीं की है? कोशिश तो करिए एक बार।



बाइसेक्सुअल हुए तो और मजे होंगे।” भूपेन के कहने पर कि ‘नहीं होता कुछ,’ नौशिल ने घेरा: “मतलब कि कोशिश की है आपने।” भूपेन का जवाब था : “हां।”

भूपेन के बचपन और नयी नयी जवानी के दौरान उसकी सैक्सुएलिटी को लेकर हमारी जानकारी इतनी कम है कि अनुमान ही हमारा मुख्य प्रमाण रह जाता है। भूपेन ने अपने समलैंगिक जीवन के बारे में मुझे जो कुछ भी अलग अलग वक्त बताया वह, कारण जो भी रहा हो, बड़ोदा आ जाने के बाद वाले जीवन से संबंधित था। मेरा यह था कि जितना सुनने को मिलता सुन लेता, लेकिन खुद कभी कोई खोदाखादी न करता। उसके प्रारंभिक समलैंगिक जीवन के बारे में, परिणामतः, मैं मुकम्मल कुछ भी नहीं कह सकता। जो भी भरोसेमंद जानकारी है सुनील कोठारी को है, और वह भी बहुत थोड़ी है। मसलन यह कि बंबई में जब वह चार्टर्ड अकाउंटेंट की हैसियत से एएफ फेर्गुसन में नौकरी कर रहा था तब उसके अपने कुछ सहकर्मियों के साथ चलताऊ से आधे अधूरे मन वाले संबंध हुए थे।

भूपेन से मिली जानकारी की बिना पर सुनील कोठारी बताते हैं कि लगभग बारह साल की उमर से लेकर पंद्रह साल की उमर तक घर का एक पुराना नौकर भूपेन के साथ दुष्कर्म करता रहा। आखिर में परेशान होकर भूपेन ने अपनी बड़ी बहन माणेकबेन से कहा कि उस नौकर को निकलवा दो, और वैसा ही किया गया। बाद में भूपेन ने सुनील को बताया कि वह बूढ़े लोगों की तरफ आकर्षित होता है। इस आकर्षण का कारण वह नहीं समझ पा रहा था, पर इसकी वजह से उसे अपराधबोध होता था। बंबई में सिडैनहैम कॉलेज में पढ़ते वक्त वह अपने प्रिंसिपल प्रोफेसर धोंगडे के प्रति आकर्षित हो गया। उसने उन्हें चिट्ठियां भी लिखीं; पर बगैर बताये कि वह उन पर फिदा हो गया है। कुछ और बूढ़े भी थे, सब गुमनाम, जिनकी ओर वह उस जमाने में खिंचा। हो सकता है कि इक्कादुक्का कुछ अपवाद हो गये हों, पर ताउम्र वह धवलकेशी वृद्धों की ओर ही खिंचता रहा। 1992 के एक साक्षात्कार में, जब वह सिर्फ 59 का था, उसने मजाक भी किया था कि बढ़ती उम्र के साथ अपने से बड़ों को खोज पाना मुश्किल होता जा रहा था उसके लिए।

इतनी थोड़ी जानकारी भी इस अनुमान के लिए काफी है कि नौकर के साथ हुए लंबे तकलीफदेह अनुभव के बाद कुछ ऐसा भी हुआ होगा कि उसे समलैंगिकता में आनंद आने लगा। जहां ढंग का अनुमान भी नहीं लग सकता वह है शीला प्रकरण से उठा सवाल कि भूपेन कभी विपरीत लिंग की तरफ झुका या नहीं। नौशिल से किये गए उसके इकबालिया बयान में भी विपरीत लिंग के प्रति झुकाव का कोई पक्का सबूत नहीं है। हो सकता है कि जो कुछ भी और जिसके साथ भी कोशिश की थी उसने वह मात्र इस उम्मीद में की हो कि अगर अंदर कोई दूसरी प्रवृत्ति भी है तो उसको भी आजमा लो।

जितना भी धीरे धीरे टुकड़ों में सीधे भूपेन से मालूम होना शुरू हुआ उससे काफी कुछ समझ में आने लगा। कई साल लगे इस सिलसिले को शुरू होने में। मुझे खूब याद है वह तीसरा पहर जब भूपेन मुझे पहली मंजिल के अपने बैड रूम में ले गया था (ये बैड रूम कम था गेस्ट रूम ज्यादा) नई नई बनी ‘टू मैन इन बनारस’ (1982) दिखाने। इससे पहले ‘यू कांट प्लीज ऑल’ पर लंबी लंबी बातें होती रही थीं हमारी। हम दोनों की सबसे ज्यादा बातें 1987 में बनी ‘ययाति’ पर हुई थीं। और बातों के अलावा, ‘ययाति’ के सिलसिले में मैंने भूपेन से काम पुरुषार्थ वाला काम की महत्ता स्थापित करने वाली कुछ कहानियों की चर्चा की थी। इनमें एक कहानी थी मंडन मिश्र की पत्नी उभय भारती के साथ हुए शंकराचार्य के शास्त्रार्थ की। किवंदती है कि काम से संबंधित प्रश्न पूछे जाने पर निरीह शंकराचार्य ने हाथ जोड़कर कहा कि देवी मैं

तो बाल संन्यासी हूं, मुझे इस विषय का कोई ज्ञान नहीं है। पर कामशास्त्र भी शास्त्र का ही अंग है, सो कुछ दिनों के लिए शास्त्रार्थ मुल्लवी करने की विनती करके शंकराचार्य ने एक मृत राजा के मृत शरीर में प्रवेश किया और उसकी रानी के साथ सहवास कर कामशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया। मैंने भूपेन को इस विषय पर दार्शनिक दया कृष्ण के एक लेख के बारे में बताया जिसमें ज्ञान के कुछ पक्षों में निजी अनुभव की अपरिहार्यता दिखायी गई है। देर तक भूपेन दयाजी के तर्क को लेकर बातें करता रहा। इसी संदर्भ में मैंने जयशंकर प्रसाद की एक बहुत पहले पढ़ी कहानी और डी एच लॉरेंस की एक कहानी, 'द मैन हू डाईड', की विस्तृत चर्चा की। प्रसाद की कहानी में एक राजा अंतिम सांसों गिन रहा है जब एक सुंदरी अपने शरीर का ताप देकर उसे जिला देती है। लॉरेंस की 'द मैन हू डाईड' में क्रुसिफिक्शन के बाद ईसा मसीह सशरीर जी उठते हैं। अबकी बार वह संसार को एक बिलकुल ही अलग नजर से देखते हैं और एक नितांत सुंदर युवती के साथ जीवन का आनंद लेते हैं। उनकी एक संतान भी होती है। काम का आल्हादक उत्सव है लॉरेंस की इस लंबी कहानी में। अपूर्ण है जीवन काम के बिना। भूपेन ने तुरंत लॉरेंस वाली कहानी मंगवा के पढ़ डाली। प्रसाद की कहानी का शीर्षक मुझे याद नहीं था सो उसकी बात वहीं रह गई। इस किताब की तैयारी के वक्त मित्रों से जानने की कोशिश की। उनका कहना है कि प्रसाद ग्रंथावली में ऐसी कोई कहानी नहीं है। हो सकता है यह कहानी प्रसादजी की न हो। पता नहीं जो कहानी मैंने पढ़ी थी और जो सालों तक दिमाग में घूमती रही थी उसके सही लेखक का नाम क्यों याद नहीं रहा और क्यों उसकी जगह प्रसादजी का नाम आ गया।

शुरू के सात आठ-शायद ज्यादा सालों में समलैंगिकता समेत काम विषयक ये बातें सैद्धांतिक स्तर तक ही सीमित रहीं। पढ़ने का शौक था ही उसे। सो खासे गंभीर स्तर पर चलती रहती थीं ये बातें। इन्हें कभी निजी मोड़ नहीं लेने दिया भूपेन ने। फिर याद नहीं कब धीरे धीरे इशारों से अपनी समलैंगिकता की बातें करने लगा, जैसेकि वह जानता है कि मैं जानता हूं और मुझे कहने की जरूरत नहीं है कि हां जानता हूं मैं। न ही यह याद कि कब ये इशारे साफ सीधी बातों में बदल गए, और वह जब तब बताने लगा अपने त्रासद समलैंगिक अतीत के बारे में।

1962 में महाराज सयाजीराव यूनिवर्सिटी की फैकल्टी ऑव फाइन आर्ट्स में दाखिला लेने के वक्त अट्हाईस वर्षीय भूपेन अपनी समलैंगिकता को अच्छी तरह पहचान चुका था। बड़ोदा आकर उसने बड़े नाजुक और मुश्किल मोड़ पर लाकर खड़ाकर दिया था अपने आप को। कितना भी आश्वस्त रहा हो अपने फैसले को लेकर, डर भी था कि जो संभावनाएं सोच रहा है उसके अंदर हैं, वे निकलती भी हैं या नहीं। पर इस तनाव के बीच एक बड़ी उम्मीद भी थी। उम्मीद थी कि संस्कार नगरी माने जाने वाले बड़ोदा में, और खास तौर से कलाकारों के बीच, उसे अपनी समलैंगिकता के प्रति संकीर्ण आक्रामकता के बजाय थोड़ी उदारता मिलेगी। कुछ भी न मिला वैसा। यह शहर भी बाकी शहरों जैसा ही निकला। पहले का पता नहीं, बड़ोदा में भूपेन के काफी समलैंगिक संबंध निम्नवर्गीय पुरुषों से होते थे। उसने उन अड्डों का भी पता लगा लिया था जहां शहर के समलैंगिक झुटपुटे के बाद साथियों की या शिकार की तलाश में पहुंच लिया करते थे। इन स्थानों में प्रमुख था फाइन आर्ट्स फैकल्टी के सामने विशाल कमाटी बाग और शहर के बीचोंबीच गांधीगृह के पीछे स्थित जुबलीबाग नाम का एक तिकोना पार्क। इसी संदर्भ में एक बड़ी दिलचस्प जानकारी भूपेन से मिली। इन सार्वजनिक स्थानों पर जमा होने वाले कुछ समलैंगिक काम आसान करने के लिए ऐसी पैटें बनवाते थे जिनकी जिप आगे

के बजाय पीछे होती थी। उनका खेल खुल न जाय इसलिए पैंट के ऊपर कमीज न पहनकर कुरता पहनकर निकलते थे। कई बार, भूपेन ने बताया, वह पकड़ा भी गया। बड़ी छीछालेदर की लोगों ने, पिटाई भी की। उन अपमानों को वह भूला नहीं था। भूलना नहीं चाहता था शायद। भूलना चाहता भी रहा हो तो भूल नहीं पा रहा था। सालते रहते थे पुराने घाव। अंदर ही दबे रहते तो और ज्यादा सालते। पिटाई का डर तो पहले ही दूर हो गया था, फिर जब प्रसिद्धि के कवच से लैस हो धीरे धीरे उसने जगहसाई से भी मुक्ति पा ली, भूपेन अपनी समलैंगिकता की बात करने लगा। बहुत बार उसने उन अनुभवों की बात की। हर बार उसके चश्मे के मोटे कांच के पीछे दूर चली गई उसकी आंखों में बड़ी कातर वेदना भर आती। उसका घायल स्वाभिमान उसे रोने से रोक लेता। रुलाई की जगह वह उलाहना देता, हर बार, कि तुम लोग जान ही नहीं सकते कि क्या बीतती है हम लोगों पर। क्या बीतती है 'हम लोगों' पर, कभी उसने 'मुझ पर' नहीं कहा, और न ही कभी भूतकाल सूचक 'थी' का इस्तेमाल किया। हमेशा कहता 'क्या बीतती है हम पर।' बात सिर्फ उन मुश्किल दिनों की और उसकी अपनी नहीं थी। उसके अपने समलैंगिक समुदाय—अपनी बिरादरी—की थी। यही बात उसकी बिलकुल निजी बन जाती जब, आम लोगों के रवैये को छोड़, वह उन मुश्किल दिनों में अपने साथी कलाकारों से मिली उदासीनता या उनके मौन उपहास को याद करता। इनमें से कुछ कलाकार उसके अच्छे मित्र थे और दो तीन के साथ तो वह किराए की साझा जगह लेकर रह भी रहा था। अजीब जिंदगी थी। जिनके साथ रहना सहना, खाना पीना, उठना बैठना, हंसना रोना, उन्हीं से हर पल सतर्क रहना, कि कहीं भनक न पड़ जाए उन्हें उसकी खुफिया जिंदगी की। हंस रो भी नहीं सकता था खुल के वह। घबराया रहता हर पल कि कहीं ज्यादा सुख में या ज्यादा दुःख में कुछ ऐसा न बोल दे कि राज खुल जाए। मन मचलता कि कह दे किसी से : 'मालूम है, दोस्त, अभी एक आदमी से मुलाकात हुई है। अपरीका से आया है। अब यहीं रहेगा, बड़ोदा में। शंकरभाई नाम है। कुछ हो रहा है मुझे, खिंचे जा रहा हूँ इस आदमी की ओर।'

दूसरे दोस्त अपने अपने सुख दुःख आपस में बांटते, राय मशविरा करते, एक दूसरे की प्रेम कहानियां सुनते सुनाते, सहानुभूति लेते देते, भूपेन को भी अपना राजदार बनाते। बेखबर उसके अकेलेपन से। बेखबर कि वह भी तड़प रहा है उनसे कहने को कि दोस्त, मेरा भी काम बन गया है, जा रहा हूँ शंकरभाई से मिलने। कि बताना चाह रहा है पर बता नहीं पा रहा।

अकेलेपन की मानसिक यंत्रणा थोड़ी सहनीय हो भी जाती अगर वह राज बना रहता जिसको बनाए रखने के लिए भूपेन प्रपंच पर प्रपंच किये जा रहा था। वैसा न हो सकता था, न हुआ। ऐसी बातें छिपती नहीं देर तक। जैसे भी हुआ हो, पता लग ही गया दोस्तों को। बस इतनी शराफत बरती उन्होंने कि भूपेन से न कुछ पूछा न कुछ कहा। पर उनकी खामोशी उससे छिपा न सकी कि वे जान चुके हैं। जानने के बाद कि वे जान चुके हैं, जिंदगी और दूभर हो गई। वह पहले सोचा करता था कि अगर राज खुल गया तो वह आत्महत्या कर लेगा। आत्महत्या तो नहीं हुई, पर और बुरे बुरे खयाल सताने लगे उसे। उसे यकीन हो गया कि मित्रों की खामोशी महज लिहाज है आंख के सामने का, पीठ पीछे तिरस्कार ही तिरस्कार है उनके मन में। वह और गहरे धंसता गया अकेलेपन में। उसके अपने ही दोस्त उसके मुंह मोड़ते ही खिल्ली उड़ते हैं उसकी, इस जिल्लत की किसी से बातकर के अपना जी तक हल्का नहीं कर सकता था वह। व्यापक समाज से कितनी भी शिकायत रही हो भूपेन को, वह सबसे ज्यादा निराश और दुःखी हुआ कलाकारों के रवैए से। कलाकारों में भी सबसे ज्यादा दर्द मिला उसे अपने सबसे नजदीकी कलाकार मित्रों के रवैए से। उम्मीद ही नहीं पूरा विश्वास था उसे कि ये लोग तो नहीं ही उसकी

सेक्सुएलिटी को गलत और 'ऐबनॉर्मल' मानेंगे। वह नाम लेकर इनकी बात करता। कहता कि आज भी ये मेरे वैसे ही मित्र हैं जैसे तब थे, काश उस वक्त ये मुझे उतनी अच्छी तरह समझ पाते जैसे आज समझ रहे हैं।

लिखित साक्ष्य चाहने वाले 1995 का वह दस्तावेज देख सकते हैं जिसका जिक्र ऊपर दो बार आ चुका है। भूपेन पर अपनी किताब लिखने की तैयारी के सिलसिले में टिमथी हाइमन ने करीब बीस लिखित सवाल उसे भेजे थे। उन सवालों के जवाब में भूपेन ने 15 अप्रैल के दिन तैयार किया था यह दस्तावेज। इस दस्तावेज में भी, बगैर कोई नाम दिए, मोटामोटी वही बात कही गई है जो अलग अलग मौकों पर मैंने मय नामों के उसकी जबानी सुनी। मुमकिन है कि इनमें से कुछ के मौन को भूपेन ने गलत समझ लिया हो और मान लिया हो कि ये लोग भी औरों की तरह पीठपीछे उसकी आलोचना करते हैं, जबकि उस नाजुक स्थिति में ये लोग खुद ही नहीं समझ पा रहे थे कि चुप रहना बेहतर है या भूपेन से सीधे सीधे बात करना। डरते रहे होंगे कि कुछ भी कह या पूछकर अपने दोस्त को झोंपा न दें। जो भी हो, भूपेन का अपना सच बदला नहीं और अंत तक सालता रहा उसे। इस स्थिति का बड़ा बेबाक चित्रण गुलाम शेख ने भूपेन पर लिखे अपने अप्रतिम लेख 'भेरू' (दोस्त) में किया है :

*भूपेन बराबर छल का पाठ भजता रहता था। बाहर से सबकी तरह 'सीधा' अंग्रेजी के शब्द 'स्ट्रेट' के विशेष अर्थ में, होने का स्वांग और अंदर एक गुप्त दुनिया। उन्नीस सौ साठ की शुरुआत में गहरी पुरुष प्रेम पसंदगी जाहिर करना मुश्किल ही नहीं, सारी दुनिया को दुश्मन बनाने जैसा था। दुहरी जिंदगी के सिवाय कोई दूसरा रास्ता नहीं था। शुरु के सालों में उस के 'डबल रोल' की बाबत मैं भी अनजान था। लेकिन 63 के दौरान विवान (विवान सुंदरम) ने मुझे उसके इस 'चलन' के बारे में बताकर झकझोर दिया। मैं उसके बाद तीन बरस इंग्लैंड रहा। उस वक्त भूपेन नागजी (पटेल) और (कृष्ण) छातपर के साथ रहने लगा, और तब उन दोनों को मालूम पड़ा। उन्होंने भूपेन को एक बार किसी अनजान आदमी की बाहों में देख लिया तो पकड़े जाने के डर से भूपेन ने 'चोर! चोर!' चिल्लाने का कमाल कर प्रेमी को भगा दिया।*

तीन साल बाद जब अक्टूबर 1966 में गुलाम की इंग्लैंड से वापसी हुई तब भूपेन, नागजी, छातपर, परंतप मजमुंदार, और तन्मय गंगोपाध्याय शिवमहाल के आउट हाउस में अलग अलग कमरों में रह रहे थे। वहीं छठा कमरा गुलाम ने ले लिया। यहां से भूपेन वाला किस्सा ऐसे बढ़ता है :

*उन दिनों उसके कमरे में हम अक्सर अनजाने व्यक्तियों का आना जाना देखते। कभी कभी साथ में हम शहर में निकलते तब 'ऐसा' कोई व्यक्ति टकरा जाता और इस तरह से हम उसकी पसंद के व्यक्तित्व से परिचित हुए। कई बार उसकी गैरहाजिरी में हम उसकी 'सौंदर्य' की अवधारणा को लेकर मजा भी लेते, पर इस बात पर ज्यादा ध्यान नहीं देते थे। वह टूट न जाये इसलिए हम यह बात छेड़ते ही नहीं और उसे संभाले रखने की खातिर बाहर से इस बात पर मौन रहते। भूपेन भी लंबे अरसे तक इस छल को बनाये रखने के लिए हमारी टोली की स्त्री मित्रों गीता कपूर और नसरीन मोहमदी से रोमांस का स्वांग करता।*

साथी कलाकारों का समवेत किस्सा पूरा हो जाता है यहां। पर गुलाम को अभी कुछ और भी कहना है। अपने बारे में। शुब्ध कि दूरी आने लगी है भूपेन और उनके बीच, गुलाम निर्मम आत्मचिंतन के बाद लिखते हैं :

*उसके समलिंगी व्यवहार को समय पर परखकर अपना आचरण बदलने में मैं असफल रहा था। एक बार विदेश से लिखे पत्रों में उसने अपने समलिंगी जीवन को मेरे पूरी तरह से*

स्वीकार न करने को लेकर मेरी खबर ले डाली थी। मैं जाग गया किंतु सब कुछ को आचरण में लाने में देर लग गई। समझ गया तो खाने पीने और दूसरे मौकों पर जैसे विवाहितों को एक साथ न्योता देते हैं उसके साथ वल्लवभाई को भी बुलाने लगे हम। दूरी और समीपता के इस आटापाटा के दौरान मैंने 'कला और निषेध' पर अपने एक व्याख्यान में उसके अनेक चित्रों को दिखाते हुए बताया कि निषेधों से कैसी टक्कर ली थी उसने। व्याख्यान पूरा होने पर खुश हो उसने मुझसे कहा, 'सारे गुनाह माफ!'

लगता नहीं कि भूपेन के ज्यादा कलाकार मित्र गुलाम की तरह अपने ये गुनाह माफ करवा पाए थे। कि उन्हें लगता भी था कि उन्हें जरूरत है भूपेन से माफी की। वैसे भी बहुत गहरे पैठ चुका था उस जमाने का दर्द। इतने गहरे कि सचेत माफी भी पूरी तरह न पहुंच पाए वहां।

समलैंगिक भूपेन के अकेलेपन का एक व्यापक सांस्कृतिक आयाम भी था। उसकी त्रासदी सिर्फ इतनी नहीं थी कि जब बाकी सारे दोस्त अपनी प्रेमिकाओं की बातें करते थे, उसे अपनी भावनाओं को अपने अंदर ही दबाए रखना पड़ता था। उसका एक बड़ा दुःख यह भी था कि, उदाहरणार्थ, जब दोस्त लोग सुरैया, मधुबाला, गीताबाली, मीना कुमारी, वैजयंतीमाला वगैरा पर फिदा हो उनका विशद नखशिख विवेचन करते या किसी फिल्म के रोमांटिक दृश्यों पर मुग्ध होते, तो पूछना चाहते हुए भी वह उनसे पूछ न पाता कि मेरे लिए क्या है इस सबमें? पर बाद के दिनों में, मौका मिलते ही, शिकायत करता : "माधुरी दीक्षित, माधुरी दीक्षित चिल्लाते हो तुम लोग, उसकी सुंदरता का बखान करते हो, वह नाचती है तो उसकी देह और उसके अंगों को देखकर फड़कते हो। कभी सोचा है कि क्या है उसमें हमारे लिए? क्यों नहीं बन सकतीं हमारे लिए फिल्में?" कहता कि तुम लोगों को तो एहसास तक नहीं होता कि हमारे लिए सामान्य मनोरंजन भी नहीं है तुम्हारे चहुँदिसि छाप इस सांस्कृतिक परिदृश्य में।

कैसी भयंकर आत्मतोषी अमानुषिकता हम बगैर जाने कि क्या कर रहे हैं—समलैंगिकों के साथ बरतते हैं, और नहीं जानते कि कैसा वंचित और त्रासद जीवन उन्हें जीना पड़ता है, यह भूपेन की बातें सुनकर समझ में आने लगा। समझ में आने लगा कि हम जानते तक नहीं कि हम नहीं जानते समलैंगिकों के प्रति अपनी संवेदनहीनता। इसकी एक मिसाल भूपेन के ही कलाकर्म से दी जा सकती है। जब एक बार कर ली उसने हिम्मत तो अपने लिए और अपने साथी समलैंगिक वंचितों के लिए—बाकियों के लिए भी, अगर वे चाहें—'टू मैंन इन बनारस' और 'ययाति' जैसे उत्तरोत्तर प्रदर्शनकारी और आनंददायक चित्र बनाने लगा। जिस समय वह लगातार समलैंगिक स्वतंत्रता और संकल्प के छोटे बड़े चित्र बनाये ही चले जा रहा था, तो आलोचना होने लगी कि चुक गया है वह; कि और कुछ अब बचा नहीं है उसके पास बनाने को। जैसाकि भुक्तभोगी भूपेन गुस्से और शिकायत में कहता था, लोग यह छोटी सी बात भी नहीं समझ पा रहे थे कि सदियों से आदमी औरत का संबंध तरह तरह से चित्रित होता रहा है कला और साहित्य में। कभी किसी को नहीं लगा कि ये क्या हो रहा है। मैंने तो अभी शुरू ही किया है आदमी आदमी का चित्रण, और लोगों को लग रहा है बहुत हो गया। भूपेन के कुछ अंतरंग मित्रों तक के मन में इस तरह के विचार आने लगे थे। नौशिल और अतुल ने तो उससे शिकायत भी की उसके बाद के काम में समलैंगिकता के अतिरेक की। उनको उसका जवाब था : "अगर मेरा काम उन चीजों पर ही नहीं टिक सकता जो मेरे लिए महत्वपूर्ण हैं तो फिर मतलब ही क्या है?"

समलिंगी विरोधी पूर्वाग्रहों से सचेतन मुक्ति के बाद भी उनके सूक्ष्म अवशेष हमारे

अचेतन के किसी अंधेरे कोने में बचे रह जाते हैं। सूक्ष्म और अचेतन, इसलिए ज्यादा ही प्रभावकारी और खतरनाक। खुद मेरा उदाहरण है, उस समय का जब भूपेन के साथ रहकर और उससे बातें करते रहने के कारण बहुत कुछ समझ में आने लगा था, और सचेत संवेदना पूरी तरह से समलैंगिकों के साथ थी। भूपेन पर लिखे अपने पहले कैटलॉग 'लुकिंग ऐट भूपेन खखर इन दीज ट्रबुलस टाइम्स' में मैंने उस समय किये गए एक वॉटर कलर का खास जिक्र किया। इस चित्र में भाति भाति की मैथुन मुद्राओं में रत पुरुषों की आनंदमयी क्रीड़ाओं में मुझे उनकी रति की अनिवार्य बंध्यता दिखाई दी। इस चित्र में इन पुरुषों के अगल बगल विचर रही मछलियों को लक्षित करते हुए मैंने कैटलॉग में लिखा : *केवल मछलियां ही प्रजनन करेंगीं यहां।* चूंकि इस प्रदर्शनी और कैटलॉग की पृष्ठभूमि हिंदुत्व का उत्पात थी—विशेष रूप से गुजरात में—मात्र मछलियों के प्रजनन योग्य होने का इशारा हिंदुत्व की विकरालता से उत्पन्न नपुंसकता की ओर था। फिर भी, समलैंगिकता के उत्सव को सहर्ष स्वीकारते हुए, इस वाक्य में उस उत्सव की अनिवार्य फलहीनता को लेकर कुछ परेशानी तो थी ही। कैसे मैं इस तरह 'देख' सका बगैर इसमें निहित अदेखे को देखे? मानव समाज में स्त्री पुरुष की कुल जमा कामक्रीड़ा का कौन सा दशमलवांश सचेतन प्रजनन के लिए होता है? बाकी तो उस समलैंगिक मैथुन जैसा ही होता है जिसको देखकर मुझे उसकी अंतिम फलहीनता ध्यान में आई थी। प्रधानतः पुरुष स्त्री रति का वांछित फल भी आनंद ही होता है, और इस फलप्राप्ति के दौरान पूरा प्रयास रहता है कि कहीं दूसरा 'फल' न आ जाये इसके कारण। आने लगे तो नष्ट करना चाहते हैं उस अवांछित फल को।

जहां तक समलैंगिकों के लिए चले आ रहे विशाल सांस्कृतिक अभाव का सवाल है, भूपेन ने अपनी कला और अपने साहित्य में भरसक कोशिश की उस अभाव को कम करने की। लेकिन इसके लिए उसने कोई अलग संकीर्ण समानांतर सांस्कृतिक चेतना नहीं विकसित की। इससे कहीं बड़ा काम किया उसने। उसने हम सबका सामना कराया एक अलग साझे सौंदर्यबोध से। हमारा सौंदर्यबोध कितना परिवर्तित—परिष्कृत—हुआ उसके काम से, यह सवाल भी हमें पूछना होगा; और इसका जवाब उसकी ख्याति के छलावे में फंसे बगैर ढूंढना होगा। एक दृष्टान्त से अपनी बात स्पष्ट करना चाहूंगा। अभी हाल में, इस किताब की तैयारी के दौरान, भूपेन से किया गया एक महिला का साक्षात्कार देखने को मिला। महिला भूपेन की प्रशंसक हैं और उसके कुछ नजदीकी मित्रों की मित्र भी। उनके किसी सवाल के जवाब में भूपेन कहता है कि काफी लोगों को उसका काम पसंद नहीं आता। महिला भूपेन के कहे का मतलब लगाती हैं कि काफी लोगों को उसके द्वारा चित्रित पुरुष अच्छे नहीं लगते। उन्हें खुद भी नहीं अच्छे लगते भूपेन के पुरुष। सो, जाहिर ही अपने कहे के अर्थ से नादान, वह कुछ मचलती सी कहती हैं : "लेकिन, भूपेन, अपने पुरुषों को थोड़ा तो सुंदर बना ही सकते हैं आप।" भौंचक, भूपेन महिला को देखता है पर, शिष्टाचारवश, चुप रह जाता है। वे फिर दुहराती हैं : "क्यों नहीं बनाते उन्हें थोड़ा सुंदर!" और चुप रहना अशिष्टता होती, सो वह निहायत शाइस्तगी से कहता है : "इट्स ए मैटर ऑव टेस्ट।" टेस्ट—सौंदर्यबोध—अपने प्रशंसकों और साथी कलाकारों का भी कितना बदल पाया भूपेन?

समलैंगिकता की दृष्टि से भूपेन के कलात्मक विकास में 1981 में बनी 'यू कांट प्लीज ऑल' का जो भी महत्व हो, निजी जीवन में वह इससे पहले ही समलैंगिकता को लेकर बरसों चले अपने डर, अपराधबोध और हीनभाव से खासा मुक्त हो चुका था; भले ही इस पर अभी खुलकर बोल नहीं रहा था। वल्लवभाई के साथ उसके संबंध इस मुक्ति के ठोस प्रमाण हैं। 'यू कांट प्लीज ऑल' इस मुक्ति का पहला प्रसाद भर है। वल्लवभाई शाह, जिनके दर्शन भूपेन के

अनगिनत चित्रों में हो सकते हैं, देखने सुनने में निहायत मामूली शख्स थे। मानो बने ही हों भूपेन की कला के लिए। वल्लवभाई होते तो एतराज करते कि भूपेन की कला के लिए नहीं बने हैं वह। कहते, जैसाकि उन्होंने महेंद्र देसाई से कहा था कि भूपेन और वह एक दूसरे के लिए बने हैं। कि उनका जन्म जन्मांतर का साथ है। आपके न मानने पर, जैसे कि महेंद्र भी नहीं माने थे, उनका जवाब होता : “भूपेन और मैं 1975 में मिले थे। कहते हैं कि मेरा चेहरा उसके 66, 70 और 72 के चित्रों में आता है?” महेंद्र के पास कोई जवाब नहीं था इसका। आपके पास भी न होता। जन्म जन्मांतर को लेकर एक बड़ा दिलचस्प किस्सा वल्लवभाई के बेटे अमरीश से हाल में सुनने को मिला, उनकी और भूपेन की पहली मुलाकात के बारे में। वल्लवभाई सूरत रेलवे स्टेशन पर जा रहे थे कि प्लेटफॉर्म की बेंच पर बैठे एक अजनबी ने पुकारा : “वल्लव! ए वल्लव!” वल्लवभाई ठिठककर देखने लगे आवाज देने वाले को तो वो बोला : “हूँ भूपेन छूँ, भूपेन! केम, ओलखतो नथी मने!” राशियोग में विश्वास रखने वालों के लिए यह तथ्य महत्वपूर्ण हो सकता है कि वल्लवभाई भी भूपेन की तरह मीन राशि के थे। भूपेन पैदा हुआ था 10 मार्च 1934 को और वल्लवभाई 20 मार्च 1920 को।

बहुत धार्मिक थे वल्लवभाई। आगरा के दयालबाग वाले राधा स्वामी संप्रदाय के अनुयायी थे। इसकी एक शाखा बड़ोदा में भी थी जहाँ हर इतवार को सत्संग होता था। वल्लवभाई नियमपूर्वक सत्संग में पहुंचते। भूपेन भी उनके साथ जाता। न जा पाए तो सत्संग की समाप्ति पर जरूर पहुंच जाता वल्लवभाई को अपने स्कूटर पर बिठाकर लाने के लिए। साल में दो बार दयालबाग में संप्रदाय का उत्सव होता। दोनों बार सारे उत्सव भर भूपेन वहां रहता वल्लवभाई के संग। उसके घर में घुसते ही बैठक में बायीं दीवाल पर सदा राधास्वामी संप्रदाय के एक गुरु महाराज का चित्र टंगा रहता था। इसी संदर्भ में अतुल डोडिया से एक दिलचस्प जानकारी मिली। एक बार अतुल ने भूपेन के किसी चित्र के पीछे अंग्रेजी में ‘आरएस 1990’ लिखा देखा। चित्रों के मामले में ‘आरएस’ का सीधा मतलब बनता है ‘रूपीज’। पर भूपेन के काम की कीमत 1990 रुपए तो हो नहीं सकती थी। कौतूहलवश अतुल ने भूपेन से पूछ ही लिया उसका मतलब तो पता लगा कि यह है ‘राधास्वामी 1990’। अतुल ने यह भी बताया—ताज्जुब है कि मैंने क्यों नहीं कभी ध्यान दिया—कि भूपेन सोने की एक अंगूठी पहनता था जिस पर कलात्मक शैली में खुदा हुआ था ‘आरएस’।

अतुल एक और बड़ी उल्लेखनीय बात बताता है। 1990 में अभिषेक पोद्दार ने कुन्नूर में कलाकारों का एक शिविर आयोजित किया। इसमें वल्लवभाई भी गए भूपेन के साथ। अतुल का कहना है कि कुन्नूर की नीरव रातों में भूपेन वल्लवभाई के लिए हालरडूँ—लोरी—गाता था।

हर तरह से साधारण दिखते वल्लवभाई तरह तरह के पेशे कर चुके थे और दुनिया देखे थे। अमरीका का ‘ग्रीन कार्ड’ भी था उनके पास। सहज विवेक के धनी थे वह। एक अविस्मरणीय घटना का जिक्र करूंगा। दिल का दौरा पड़ने की वजह से नर्सिंग होम में दाखिल वल्लवभाई की मिजाजपुरसी के लिए गया हुआ था मैं। वह बता रहे थे कि अब तबियत ठीक है और शायद शाम तक डॉक्टर घर भेज दे। इसी बीच उन्होंने बगल की मेज पर रखे जग से एक गिलास में पानी ले के पिया और बचा पानी—मेरे मना करते करते—कमरे के बाहर जाकर एक क्यारी में डाल दिया। जगत की कैसी पर्यावरणीय चिंता थी उस छोटे से कृत्य में।

1997 में गीतांजलि और मैं दो साल जापान रहकर लौटे। वल्लवभाई ने—चार्टर्ड अकाउंटेंट भूपेन ने नहीं—बैठ के कोई पेचीदा हिसाब लगाया, आयकर विभाग को एक दरखास्त भिजवाई, और हमें एक लाख रुपए का रीफंड दिलवा दिया। खुद भूपेन ज्योति लिमिटेड का जो भी हिसाब

किताब वह करता हो—अपना सारा हिसाब किताब वल्लवभाई के जिम्मे छोड़े रहता था। अक्सर वल्लवभाई की रोकटोक भी चलती कि फिजूलखर्ची हो रही है, अभी पिछले महीने ही तीस हजार निकाले थे, इतनी जल्दी अब और क्यों चाहिए, और इस पांडु को बहुत सर चढ़ा रखा है, पैसा बहाता है, मोटर में सब्जी लेने जाता है, और न जाने क्या क्या।

सिर्फ ऊपर से ही निरीह देखते थे वल्लवभाई। ठान लें तो अपनी करवा के ही छोड़ते थे। एक बार सूरत में बैठे बैठे अचानक गीतांजलि और मेरा मन हुआ भूपेन के पास जाने का। तुरंत बैकपैक में जरूरत की चीजें डालीं और अपने स्कूटर पर सवार हो निकल लिए हम बड़ोदा के लिए। शाम को वल्लवभाई आये तो भूपेन ने बताया हमारा करिश्मा। उसी में मैंने जोड़ दिया कि बड़ोदा क्या है, हम तो औरंगाबाद, अजंता और एलोरा की सैर भी कर आए हैं स्कूटर पर। हम सोच रहे थे कि वल्लवभाई भी शाबाशी देंगे, लेकिन वह डांट पिलाने लगे। सूरत बड़ोदा हाईवे पर नित दिन होने वाली दुर्घटनाओं का लंबा ब्योरा देने के बाद डपटकर बोले कि यह आखिरी बार है, अब कभी तुम लोग ऐसा नहीं करोगे। मैंने बड़ी ना नूं की, हंसी में बात टालने की कोशिश की, पर वल्लवभाई न माने। कसम दिला दी हम दोनों को सूरत के बाहर स्कूटर पर न निकलने की।

भूपेन और वल्लवभाई की जोड़ी एक खुला राज थी। 1984 में भूपेन को पद्मश्री मिला। सरकार की तरफ से आए औपचारिक पत्र में लिखा था कि वह चाहे तो अपने साथ अपने किसी परिजन को ला सकता है। वल्लवभाई गए भूपेन के साथ। साथ साथ रहे लोदी होटल में। एक शाम गीतांजलि को भी बुला लिया। खाने पीने में देर हो गई तो उसको रोक लिया अपने ही पास। डबलबेड पर भूपेन और ब्रदर वैल और सोफे पर गीतांजलि। सुबह ही सुबह जब बेड टी देने के लिए बैरे ने दस्तक दी तो भूपेन ने गीतांजलि को गुसलघर में छुपा दिया। 'ब्रदर वैल' प्यार से वल्लवभाई को दिया हुआ गीतांजलि का नाम था। भूपेन और वल्लवभाई दोनों को ही बड़ा प्रिय था यह संबोधन।

पद्मश्री से एक साल पहले जब भूपेन लंदन में हो रही अपनी पहली एकल प्रदर्शिनी के लिए गया तो वहां पहुंचने के हफ्ते भर के अंदर ही उसने वल्लवभाई को अपने पास बुला लिया। एक बार अमरीका में भी थे दोनों साथ। हिंदुस्तान में तो अक्सर साथ साथ ही 'बाहरगांव'—शहर के बाहर—जाना होता। बड़ोदा के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन में भी ऐसा ही था। भूपेन को निमंत्रण मिला है तो पक्का था कि वल्लवभाई होंगे उसके साथ। कोई फर्क नहीं पड़ता था कि बुलावे में अलग से वल्लवभाई का नाम है या नहीं। बुलाने वाले क्या सोचेंगे कहेंगे, भूपेन इसकी परवाह नहीं करता था। कहता कि मैं जानता हूं कि मेरे कुछ दोस्त वल्लवभाई को पसंद नहीं करते, मानते हैं कि उनके बीच उठने बैठने लायक नहीं है वल्लवभाई। उनको ये नहीं दिखायी देता कि कितने हैं जिनकी बीवियों के बारे में मैं वही सोचता हूं जो वे वल्लवभाई के बारे में सोचते हैं। फिर भी आ जाते हैं अपनी बीवियों के संग मेरे यहां। मैं तो कुछ नहीं कहता।

एक जोड़ी के रूप में बहुत ही सामान्य, स्वाभाविक तरीके से चलती थी भूपेन और वल्लवभाई की जिंदगी। वल्लवभाई तो आते ही थे रोज भूपेन के यहां, भूपेन भी उनके यहां आएदिन पहुंचा रहता। परिवार के अपने किसी बड़े की तरह आवभगत होती उसकी। वल्लवभाई के छोटे से ड्रॉइंग रूम में दीवार के सहारे लगे एक तखत पर अपनी ट्रेडमार्क पाल्थी मार के बैठ जाता भूपेन और लग जाता उनकी पत्नी, बेटे, बहू और पोते पोतियों से बातों में। घर की कोई समस्या हो तो उस पर भी सलाह मशविरा होने लगता। कुछ भी नहीं था परिवार का जो भूपेन से छिपाया जाता। दिन का जो भी समय हो उसके मुताबिक वल्लवभाई की पत्नी और



बहु स्नेहपूर्ण मुस्तैदी से इंतजाम करतीं भूपेन के नाश्ता पानी या भोजन का। वल्लवभाई का बेटा, गिरीश, जो पिता के साथ ही रहता था, आयेदिन अपने स्कूटर पर भूपेन से मिलने और अपने काम की बाबत मशविरा करने 'परमानंद' आता।

जब से मैंने देखा कभी ऐसा नहीं लगा कि परिवार वाले इस रिश्ते से चिंतित थे, या इसे स्वाभाविक से अलग कुछ मानते थे। फिर भी दावे से कहना मुश्किल है कि वल्लवभाई के परिवार में किसी के भी मन में गहरे अंदर किसी तरह की कोई बेचैनी नहीं थी भूपेन और उनके रिश्ते को लेकर। यह भी मुमकिन है कि कभी कोई परेशानी रही हो जो बाद में दबा या भुला दी गई हो। बस एक शहादत मिली है जिससे लगता है ऐसा हुआ जरूर था। शहादत भी ऐसी वैसी नहीं है, भूपेन की मुंहबोली बहन किन्नरी की है। किन्नरी का कहा बताने से पहले उसके और भूपेन के गहरे परस्पर स्नेह के बारे में दो शब्द। 1975 में जब पहली मर्तबा भूपेन किन्नरी से मिला तो छूटते ही बोला : "तुम बहुत सुंदर हो। आज से तुम मेरी बहन हो।" इसके बाद आये रक्षाबंधन पर जब उसे राखी नहीं मिली तो उसने फोन कर के किन्नरी को बहुत डांटा। किन्नरी ने फौरन गाड़ी निकलवाई और पहुंच गई अहमदाबाद से बड़ोदा। भूपेन पहले ही, अपनी पसंद के मुताबिक, 'पाँप आर्ट' वाली एक साड़ी बहन के लिये खरीद चुका था। (जो डिजाइनिंग में निष्णात बहन ने कभी पहनी नहीं!) इसके पाँच साल बाद जब भूपेन की माँ की मृत्यु हुई और उसके पास अंत्येष्टि के लिए पैसे नहीं थे तो उसने और किसी से नहीं किन्नरी से कहा कि उसे तुरंत ही दो हजार रुपये चाहिए। उसी समय बड़ोदा स्थित अपने ऑफिस को हिदायत देकर किन्नरी ने तीन हजार रुपये भिजवा दिए। इसके बाद भूपेन कुछ भी कर सकता था अपनी इस बहन के लिए। अब किन्नरी की बताई बात। 1985 में, अपने पति शीतल को छोड़ने का फैसला कर, किन्नरी मिशिगन में डिजाइनिंग में मास्टर्स की पढ़ाई कर रही थी। उसी समय वल्लवभाई के साथ भूपेन का भी अमरीका जाना हुआ। वह अकेला किन्नरी से मिलने गया और कुछ दिन उसी के साथ रहा। वहाँ उसने देखा कि अब किन्नरी आर्थिक कष्ट में है। सो जितना पैसा अमरीका में वह दे सकता था किन्नरी को दिया। इन दिनों दोनों पहले से भी अधिक एक दूसरे के निकट आ गए। देर रात तक दोनों ही अपने अपने दुखड़े सुनते सुनाते। किन्नरी का कहना है कि और तमाम बातों के साथ भूपेन ने यह भी बताया कि वल्लवभाई की पत्नी उसके घर आकर शोर करती हैं और गालीगलौज से भी बाज नहीं आतीं। किन्नरी की गवाही को खारिज नहीं किया जा सकता। न ही उसे शब्दशः लिया जा सकता है। यह तो निश्चित है कि किन्नरी कोरी कल्पना नहीं कर रहीं। भूपेन ने कुछ रोना तो रोया ही होगा उनके सामने। लेकिन, 33 साल पहले जो सुना वह मुझे बताने के लिए याद करने की प्रक्रिया में, काफी कुछ गड्ढमड्ढ भी हो गया लगता है। 1985 में भूपेन ने उनसे जो कहा उन्होंने ऐसे सुना मानो वह उस वक्त भी हो रहा था। तब तक मैं भूपेन वल्लवभाई संबंध को पाँच साल से खासे नजदीक से देखता रहा था। उस देखे के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि किन्नरी का विवरण 1980 से पहले के लिए कितना भी सही हो, बाद के लिए सही नहीं है।

बिलकुल ही शुरू में जो भी हुआ हो, कम से कम 1980 से तो भूपेन को पूरी तरह से कबूल कर लिया गया था वल्लवभाई के घर में। वल्लवभाई और भूपेन को गए 16 साल होने को हैं। आज भी वल्लवभाई के परिवार में भूपेन कितना अपना बना हुआ है इसका अंदाजा इससे होता है कि वल्लवभाई का सबसे छोटा बेटा, अमरीश, अपने भूपेन काका की एक जीवनी अपना पैसा लगाकर गुजराती में लिखवा रहा है। ऐसे ही रणछोड़भाई के बेटे कालिदास ने अपने घर में माला चढ़ाकर अपने दिवंगत पिता और भूपेन की एक तस्वीर रखी हुई है। (भूपेन के

‘टू मैन् इन बनारस’ में चित्रित युवक कालिदास है।) शंकरभाई की बेटी, भानुबेन, की चर्चा पहले हो ही चुकी है जो कीनिया से बड़ोदा आने पर बड़े प्यार से भूपेन से मिलने आई और जिन्होंने सिर्फ इसलिए कि हम भूपेन के दोस्त हैं, गीतांजलि और मुझे बड़ी फरागदिली से नैरोबी में बड़े ठाठ में रखा और खूब घुमाया।

शंकरभाई, वल्लवभाई वगैरा के घरों में भूपेन के बिलकुल अपनों की तरह मान लिये जाने को एक खास सांस्कृतिक संस्कार के परिप्रेक्ष्य में भी देखना होगा। समलैंगिक संबंध—स्त्रियों और पुरुषों दोनों में—पहले भी वैसे ही होते थे जैसे आज होते हैं। अंतर यह है कि आज की तरह उन संबंधों को लेकर कोई सैद्धांतिक अधिकार की और आंदोलन की बात नहीं होती थी। चलते रहते थे ये संबंध। पता भी रहता था तो चुप्पी की सर्वसम्मति उनके प्रति बनी रहती थी। साथ ही साथ, इसके बरक्स, अलग अलग कारणों से ऐसा भी होता रहता था कि किसी संबंध विशेष को लेकर गुस्सा उमड़ पड़े और संबंधित व्यक्तियों की छिछालेदर होने लगे। भूपेन सौभाग्यशाली रहा कि जिन लोगों से उसकी विशिष्ट मैत्रियां हुईं उनके परिवारों ने और आसपास के समाज ने मूलतः सहिष्णु अनदेखी वाला पारंपरिक रुख अपनाया। इस स्थिति के बनने में इस वजह से भी जरूर आसानी हुई होगी कि चार्टर्ड अकाउंटेंट और कलाकार की हैसियत से भूपेन का परिवारवालों और समाज के लिए अलग आकर्षण और प्रभाव रहा होगा।

आश्चर्य नहीं कि अमरीश के लिए भूपेन की जीवनी लिखवाना अपने पिता और काका की ‘जुगल जोड़ी’ का तर्पण करने की तरह है। यह भी विशेष उल्लेखनीय कि अमरीश समलैंगिकता की बात को विशुद्ध प्रवाद मानते हैं।

भूपेन वल्लवभाई की जुगल जोड़ी तब फलीफूली जब समलैंगिकता को दंडित करने वाला आर्टिकल 377 हमारे कानून का हिस्सा था, और समलैंगिक विवाह जैसे विचार अभी समलैंगिक विमर्श के हाशिए पर ही थे। वैसे भी भूपेन को—सिवाय अपनी कला में—जो भी करना होता था ‘तो की’ में रहकर ही कर लेता था। कला के क्षेत्र में भी जो कुछ उसने किया अपने चित्रों में किया, नाटकीय, भड़कीले, अखबारों पत्रिकाओं की सुर्खियों में पहुंचने वाले बयान देकर नहीं। दिखावा—सिवाय अपनी बहुरूपिया तस्वीरों में उसे अन्यत्र कहीं पसंद नहीं था। होता भी तो वल्लवभाई के साथ उसका जो आत्मिक लगाव था उसमें दिखावे की रतीभर भी गुंजाइश नहीं थी।

28 साल चले भूपेन वल्लवभाई संबंध के केवल शुरुआती पांच साल नहीं देखे मैंने। बाद के 23 सालों में खासी नजदीकी से जो देखा उसके आधार पर एक बड़ी बात इस संबंध की समझ में आती है। वह है इसकी स्वाभाविकता। न भूपेन ने और न वल्लवभाई ने किसी को समझाने की कोशिश की कि उनका संबंध है क्या। कोई कुछ भी समझे कहे, उन्हें जैसे रहना था रहते थे और जो करना था करते थे। कहना मुश्किल है कि उनमें आपस में क्या बातें और क्या फैसले होते थे अपने संबंध को लेकर। मसलन, बाहर कितना भी साथ जाएं, रहें दोनों, जब बड़ोदा में होते तो कितनी भी देर क्यों न हो जाये, वल्लवभाई अपने घर पर ही सोते थे, ‘परमानंद’ में नहीं। पता नहीं कि बस यूं ही चल निकला यह सिलसिला या दोनों ने सारी परिस्थितियों के मद्देनजर इस तरह रहने का फैसला किया था।

एक और उदाहरण। इस बात को इस तरह से कहते हुए कि सुनने वाले को समझ आ जाय वह अपनी भी बात कर रहा है, भूपेन कहा करता था कि समलैंगिक ‘प्रोमिस्कुअस’ होते हैं, स्वच्छंद संभोगी। स्वयं मुझसे उसने यह बात कई बार कही। टिमथी हाइमन के सवालों के जवाब में भी उसने यही बात कही, पर थोड़ी तरमीम के साथ। मुझसे वह समलैंगिकों की

जन्मगत प्रवृत्ति की बात करता था जबकि टिमथी को उसने लिखा : 'ज्यादातर समलैंगिक प्रकृति से या सामाजिक दबाव की वजह से प्रोमिस्कुअस होते हैं।' सामाजिक दबाव का अर्थविस्तार करते हुए उसने लिखा कि अब स्थायी समलैंगिक संबंध संभव हो गए हैं, लेकिन 60 और 70 के दशकों में इसे बुरा माना जाता था।

बहरहाल मुझसे अंत तक भूपेन अपनी बात पहले वाले अंदाज में ही कहता रहा। लगता है कि टिमथी को लिखते वक्त भूपेन अपनी बौद्धिक साख के बारे में अतिरिक्त सावधान था। जितना कुछ वह प्रचलित समलैंगिक सैद्धांतिकी से परिचित था, उसे बेहतर यही लगा होगा कि प्रोमिस्कुइटी का स्रोत अकेले प्रकृति में न मानकर सामाजिक परिस्थितियों में भी बता दे। पर मानना, शायद, वह यही चाहता था कि समलैंगिक प्रोमिस्कुइटी के लिए जिम्मेदार असल में प्रकृति ही है। हो सकता है कि इस विश्वास के सहारे वह अपनी प्रोमिस्कुइटी से होने-हो सकने-वाले अपराधबोध से अपने को मुक्त रख पाता हो, खास तौर से समाज के डर से मुक्त हो जाने के बाद।

जो भी हो, वल्लवभाई और उसके संबंध पर तो प्रभाव पड़ा ही-पड़ता ही रहा होगा उसके जब तब होते रहने वाले इतर समलैंगिक संबंधों का। उनको लेकर कभी वल्लवभाई उससे झगड़ते थे या नहीं; उन्हें इस कारण से कोई परेशानी, कोई दुःख होता था या नहीं; इन इतर संबंधों को चलाये रखने को लेकर दोनों ने मिलकर कोई रास्ता निकाल लिया था, या फिर भूपेन अधिकतर विवाहेतर संबंधों की प्रचलित रीति के अनुसार जब जैसा बन पड़े इंतजाम कर लेता था; इस तरह के सवाल स्वाभाविक हैं, पर उनके संतोषजनक उत्तर संभव नहीं।

भूपेन वल्लवभाई संबंध को लेकर हमारे मन में ऐसे सवालों का आना ही सबूत है उनके अपनापे की गहराई और अंतरंगता का।

चार दिन हो गए हैं लिखे कि 23 सालों के देखे के आधार पर इस संबंध की बात करना चाहूंगा। विषय के इर्दगिर्द घूम रहा हूँ, कह कुछ नहीं पाया हूँ। कुछ कह पाने की इस नाकाम कोशिश में जो हो रहा है उसकी चर्चा कर के आगे बढ़ने की कोशिश करता हूँ। शायद बात बन जाय। हर बार जब कुछ लिखने लगता हूँ तो पारंपरिक वैवाहिक संबंध से तुलना आने लगती है दिमाग में, या पार्टनर जैसे शब्द घुमड़ने लगते हैं। पर एक बार कोई जाना पहचाना प्रतिमान इस्तेमाल कर लिया तो उसी खांचे में फंसा रह जायेगा भूपेन वल्लवभाई का संबंध, जबकि असल चुनौती है उसे उसी के संदर्भ में समझने की। रघुबर छवि के समान रघुबर छवि बनियां। सो बजाय कोई नाम देकर परिभाषित-सीमित-कर देने के, उन दोनों के संग-शायद यह नाम हो सकता है-की प्रकृति का कुछ अनुमान कराने वाली दो स्मृतियों का उल्लेख भर करूंगा। भूपेन चाहे वल्लवभाई के बारे में बात कर रहा हो या सीधे उन्हीं को संबोधित कर रहा हो, पूरा नाम लेता था उनका। पर कभी कभी, काफी कम, वह अनायास पुकार बैठता : 'वल्लव।' बड़ी लाड़ भरी होती थी वह पुकार। उसको सुनकर लगता कि यह होता है प्यार।

दूसरी स्मृति। बिलकुल अंत की। बड़ोदा से फोन पर भूपेन की सपाट, संयत आवाज : 'वल्लवभाई चले गए।' सुदूर एडिनबरा में बैठा मैं कुछ बोल सकूँ सांत्वना में कि उसने बात बदल दी। हर बार की तरह देर तक बातें न कर, जल्दी ही फोन रख दिया उसने। हफ्ते भर बाद वह खुद चला गया। जबरदस्त कष्ट में था भूपेन जब वल्लवभाई गये। बेहद कमजोर हो गया था। हर समय कथिटर लगा रहता था उसके। खून अलग निकलता था। डाक्टरों और दोस्तों ने बहुत मना किया। वह न माना और शहर से दूर हो रहे वल्लवभाई के दाह संस्कार में पहुंच गया। उनके 'बेसने' पर भी गया, और जल्दी ही लौट आया। वल्लवभाई की बीमारी

के आखिरी दौर में सीढ़ियां चढ़ के उनके घर भी गया।

भूपेन की बीमारी लंबी चली थी। कई बार अस्पताल में दाखिल हुआ था। अपनी बीमारी से पहले वल्लवभाई नियम से भूपेन के पास पहुंचते थे। अस्पताल में चुपचाप देखते रहते उसे और लौट जाते। वल्लवभाई के फौरन बाद भूपेन के चले जाने को लेकर एक बड़ी मार्मिक बात धूमाल से सुनने को मिली। लिखने से पहले बता दूं कि इसकी वास्तविकता संदिग्ध है। हर्षा कहता है कि ऐसा नहीं हुआ। फिर भी हो सकता है कि हुआ हो लेकिन उस वक्त हर्षा वहां न रहा हो। जो भी हो, इस बात का महत्व इसके होने या न होने में नहीं है। इसका महत्व है इसकी अपनी आतंरिक विश्वसनीयता में, इसमें कि सुनने वाले को लगे कि हुआ ही होगा ऐसा।

धूमाल ने करन ग्रोवर से सुना है कि भूपेन ने जाते जाते पूछा था : “अरे भाई कोईए वल्लव ने कीधू छे के हुं आवानो छूं!” (अरे भाई किसी ने वल्लव को बता दिया है कि मैं आ रहा हूं!)

दोनों के संग को वक्त लगा था—किसी भी लंबे अंतरंग संबंध को लगता है—ऐसा हो जाने में। मैंने तो 1980 में देखा था उन्हें पहली बार। उस वक्त देखा जा सकता था कि दोनों अपने बीच किसी स्थिर समीकरण को बनाने की जद्दोजेहद में हैं। मसलन, शाम होती तो अक्सर वल्लवभाई भूपेन पर अपना अधिकार जताने की कोशिश करते। कहते कि बस बहुत ले चुके हो तुम, अब और नहीं लोगे। भूपेन उनकी आंख बचा के चुप्पे से और ले लेता। कभी मौका पा के खुद या किसी दोस्त की ओर अपना गिलास सरका के। वल्लवभाई की उन दिनों यह भी कोशिश रहती कि रात में दोस्त लोग जल्दी रुखसत हो जाएं। मजमा देर तक चले या रुखसती जल्दी हो जाये, दरअसल मसला यह नहीं था भूपेन के लिए। पाबंदी का खयाल ही उसे सताने लगता था। हर इतवार को शहर में होने वाले राधास्वामी सत्संग को लेकर भी बीच बीच में कहासुनी हो जाती। वल्लवभाई चाहते कि भूपेन नियम से हिस्सा ले सत्संग में। कुछ दिन कोशिश भी की उसने। पर उसके बूते का नहीं था इस तरह से बंध जाना। आखिर में समझौता हो गया कि भूपेन सत्संग में हिस्सा ले या न ले, समाप्ति पर वल्लवभाई को लेने जरूर पहुंचेगा। इसी तरह रात के प्रोग्राम के बारे में तय हो गया कि वल्लवभाई अमुक वक्त पर उठ जाएंगे और उनको स्कूटर पर स्टेशन तक भूपेन या कोई दोस्त पहुंचा देगा (वहां से वल्लवभाई लाडवा स्थित अपने घर जाने के लिए मांडवी जाने वाले साझे के श्री व्हीलर में बैठ लेते)। पांच सात साल में यह खटपट बंद हो गई। ठीकठाक ढर्रे पर चलने लगी उनकी गाड़ी।

जहां तक बात है दूसरे ‘पुरुषों’ को लेकर होने वाली कहीं अधिक मारक और दुखदायी खटपट की—जो हुई जरूर होगी कभी, अगर बाद में भी अंदर ही अंदर बीच बीच में नहीं होती रही—मुझे याद नहीं पड़ता कि मैंने कभी वैसा कुछ देखा। हां, कभी कभार इतना जरूर लगता था कि चुपचाप भूपेन ऐसी जुगाड़ कर लेता है कि वल्लवभाई और हीराभाई एक साथ घर में न हों।

गीतांजलि, जिसकी न केवल स्मरणशक्ति बल्कि चीजों की समझ भी मुझसे बहुत ज्यादा अच्छी है, का कहना है कि भूपेन ने हमसे कहा हुआ था कि हीराभाई के आने के बारे में वल्लवभाई को न बताएं। मजे की बात यह है कि हीराभाई भी वल्लवभाई की तरह सत्संगी थे, और उनकी भूपेन से मुलाकात वल्लवभाई की ही मार्फत हुई थी।

श्री खखर प्रसन्न में एक प्रसंग आता है। भूपेन के चारों ओर जो कुछ भी हो रहा है उसको समझने को सतत आतुर नौशिल परेशान हैं कि उन्हें हीराभाई के बारे में कुछ भी नहीं

पता। भूपेन भी कोई मदद नहीं करता। सो हारकर सुनील (कोठारी) से पूछते हैं नौशिल। छोटा सा जवाब मिलता है : 'मैं बस इतना जानता हूँ कि वल्लवभाई इन हीराभाई, को 'डिसअप्रूव' करते हैं।' नौशिल अपने स्वाभाविक मजाकिया अंदाज में लिखते हैं कि इस जवाब से कुछ पता नहीं चला, क्योंकि वल्लवभाई तो बहुतों को डिसअप्रूव करते थे, भूपेन को भी। मुझे सुनील के जवाब में कुछ और सुनाई पड़ता है। भले ही वल्लवभाई भूपेन समेत ढेर सारे लोगों को नापसंद करते रहे हों, उनके हीराभाई को नापसंद करने की नौइयत बिलकुल अलग थी।

भूपेन के अनगिनत रस्ता चलते संबंधों का मुझे कोई प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं। संभव है कि समय के साथ इनकी जरूरत कम होती गई हो। वल्लवभाई और हीराभाई जैसे स्थायी संबंधों के सामाजिक स्वीकार ने उसे थोड़ी बहुत मनोवैज्ञानिक शांति और स्थिरता दे दी हो, और चलताऊ संबंध पहले के मुकाबले में कम होने लगे हों। इन संबंधों का भरोसेमंद, कदाचित यथोचित नाटकीय, और अपूर्व वर्णन गुलाम शेख ने 'भेरू' में किया है। सो उसके कुछ लंबे उद्धरण प्रस्तुत हैं। बताते हुए कि 1966 में इंग्लैंड से वापसी के बाद उन्होंने सुना कि भूपेन रोज रोज किसी नए पुरुष की तलाश में निकल जाता था, गुलाम लिखते हैं :

उसके प्रेमियों के रूप अलग अलग थे। पकी उम्र के या अपना जीवन जी चुके बूढ़े, थकान और नीरसता से सराबोर, कोमलता के भूखे, बहुत ही वध्य, अधूरी इच्छाओं की आतिश को जगाने के लिए किसी अगम चमत्कार की बाट जोहते, यौन जीवन पारकर चुके विधुर या विवाहित, और कुछ तो बिलकुल मौत की कगार पर बैठे। आमतौर पर निचले या मध्यवर्ग के और संपन्न भी इसमें शामिल होते। इनमें विदेश से लौटे और बिस्तर से लगे पटेल हों या चाय की दुकान चलाने वाले, स्थानीय राजनीतिज्ञ, सेवानिवृत्त अफसर हों या सार्वजनिक बगीचे का माली। चेहरे मोहरे से बड़ी उम्र के लेकिन चौड़े मुंह, तीक्ष्ण ओठों, उछलती आंखों वाले वेंकटरमण या मल्लिकार्जुन मंसूर सरीखे। प्रेमियों की इस कतार में से कुछ रिश्ते गहरे पैठे, लंबे चले। सबसे पहले जिन्हें देखा वे थे शंकरभाई या शंकर काका, फिर रणछोड़भाई और चंद्रकांतभाई, और आखिर में वल्लवदास और हीराभाई। दूसरे सब तो छूकर निकल जाने वाले थे, जिनके नाम पते नहीं हैं, लेकिन खोजने चलें तो उन सबका सिरा उसके चित्रों में मिल जा सकता है। गैलरी ऑव रोगस नामक चित्र (1993) में उसने अपने पूरे आराध्य परिवार को अच्छी तरह से जमाया है। जो उसके संगी साथी हो जाते थे उनके प्रेम में वह आकंट डूबा रहता; सेवा भी ऐसी ही करता। जरूरत पड़ने पर रुपये पैसे से भी मदद पहुंचाता और बीमारी तिमारी होने पर देखभाल चाकरी भी करता। मेरे एक डाक्टर ने बताया था कि भूपेन किसी जेफ नाम के आदमी को बड़े जतन और करुणा भाव से अस्पताल लाया था...

ये अलिखित प्रेमी उसे चारों ओर मिल जाते थे : ऐसे व्यक्ति की भनक पाकर उससे रहा नहीं जाता था। यह रास्ता प्रेमलक्षण का, न्योछावरी का, समर्पण का था; प्रेमी तो उसके लिए आराध्य देव था, जिसके लिए जी जान और देह सब कुछ न्योछावर। अचानक ऐसे व्यक्ति से भेंट हो जाने पर किसी अदम्य चाहत के सवार हो जाने की तरह, आसपास का सब कुछ भुलाकर, किसी भी तरह उसका पीछा करता, और उसे लपेटे बिना उसे चैन न मिलता। एक बार मैं उसके साथ बस में सफर कर रहा था। बगल की सीट पर बैठे 'ऐसे' को देखकर वह बहक गया और देखते देखते उसने उसके बगल में जगह बना ली : लगभग पल भर में ही देह मुद्राओं और बातचीत के द्वारा उस अनजान आदमी को अपने प्रेमी में बदल दिया उसने। पारिवारिक जैफ भी उतना ही पागल हो गया। बीच में बस कहीं खड़ी हुई और हम चाय पीने नीचे उतरे, वहां उसने मेरी पहचान करायी। जैफ ने मुझसे कहा 'यह तो देवपुरुष हैं! हैं ना!'

यह सब देखकर ओशो और भक्ति की भनक सी मिलती थी।

‘गैलरी ऑव रोग्स’ में स्थापित जिस आराध्य परिवार का जिन्न गुलाम ने किया है उसको भूपेन ने अपनी मृत्यु से दो साल पहले अपने कहानी संग्रह मगनभाईनोगुंदरअनेअन्यवारताओ के अर्पण में भी एक साथ याद किया है : शांतीलाल, चंद्रकांतभाई, रामभाई, शंकरभाई, रणछोडभाई, मधुभाई, काशीनाथ, नारनभाई, मणिलाल, वलेचा, शिवलाल, सुंदरलाल, शाहू, जेठाभाईनी स्मृतिने।

पलक झपकाते इच्छित व्यक्ति को अपना बनाने की भूपेन की कला के एक और चश्मदीद गवाह अमित अंबालाल हैं। वह और अतुल डोडिया भूपेन के साथ नाथद्वारा गए हुए थे। एक दिन वे तीनों एक वृद्ध स्थानीय कलाकार की दुकान में उसका काम देखने गए। अपना निशाना साध भूपेन सीधे जाकर वृद्ध के बगल में बैठ गया। देखते ही देखते उसका हाथ वृद्ध की जांघ पर पहुंच गया, और कुछ ही देर में वह वृद्ध की जांघों को मंद मंद सहलाने लगा। नौशिल ने भी इससे मिलता जुलता अपना अनुभव बयान किया है, जिसमें एक छोटी सी रेलयात्रा के दौरान भूपेन ने एक आदमी से ऐसी दोस्ती कर ली कि वह ‘परमानंद’ आने जाने लगा। एक बार उसने शंकरानंद नाम के एक तत्कालीन केंद्रीय मंत्री को दूरदर्शन पर देख लिया। पसंद आ गए मंत्री महोदय उसे। पता नहीं कैसे, कर ली उसने उनसे दोस्ती।

सामलैंगिक स्पर्श की ऐसी ललक के बरक्स भूपेन अपने अच्छे से अच्छे सामान्य मित्रों के साथ शारीरिक दूरी बनाये रखता था। मैंने कभी उसको स्नेहातिरेक में या किसी से लंबे अरसे के बाद मिलते वक्त गले लगते नहीं देखा। (नौशिल का कहना है ऐसा नहीं था। अतुल का कहना है कि था) हां, कभी कभार अपनी स्त्री मित्रों को प्यार से आलिंगन में ले लेता था। और तो और, बदन को ‘ढंग’ से ढके रखने के मामले में भी वह ‘प्यूरिटन’ होने की हद तक सचेत रहता था। जिन दिनों मैं उसके यहां रहकर अपनी ऑप्रेसिव प्रजेंट लिख रहा था तो दिन में वह अपने ईजल पर काम करता और मैं अपने पोर्टेबल औलिवेटी टाइपराइटर पर बैठकर लिखाई करता। गर्मी के दिन थे। पंखे कितने भी तेज चलाओ दोपहर की बढ़ती गरमी से बचाव ही नहीं था। मेरे पास लाल रंग के ‘हॉट पैट्स’ थे। मैं सिर्फ उन्हें पहन काम में जुट गया। दूसरे दिन जैसे ही मैं ऊपर से नीचे आया काम करने, भूपेन ने बगैर अपनी झुंझलाहट को दबाने की कोशिश किये कहा : “ये क्या नंगे बदन बैठ जाते हो। कुछ तो पहन लो।”

गीतांजलि एक बार भूपेन के साथ उसके स्कूटर पर पीछे बैठकर जा रही थी। रास्ते में उसे लगा कि भूपेन बार बार थोड़ा आगे खिसकने की कोशिश कर रहा है। तब उसकी समझ में आया कि वह ध्यान नहीं रख रही कि भूपेन के बदन से पूरी तरह दूर रहे। घर लौटने पर भूपेन ने कहा कि सुधीर पीछे बैठता है तो मेरे लिए काफी जगह रहती है लेकिन आज गीतांजलि बैठी तो कुछ कम पड़ गई। और है कैसी दुबली पतली यह। बेचारी गीतांजलि समझाने लगी कि सुधीर पैर इधर उधर कर के बैठता है इसलिए जगह बनी रहती है, जबकि मैं अपने लंहगे की वजह से दोनों पैर एक तरफ करके बैठी हुई थी।

वापस भूपेन के प्रेमियों पर। माना जाता है कि जिन लोगों से उसके संबंध लंबे चले वे सब लगभग एक जैसे थे, विविधता नहीं थी उनमें। सभी कमोबेश पकी उमर के, कमजोर, वध्य, और (एक बार कह दूँ हर बार के लिए) आम नजर के मुताबिक—बदसूरत या बदसूरती के आसपास। यह भी कि वे सब निम्न या निम्न मध्यवर्गीय थे। बन कैसे गई यह मान्यता कहना कठिन है। पर इसका कोई ठोस आधार है नहीं। कुलीगरी कर रहे रणछोडभाई बेशक निम्नवर्गीय, निरक्षर और बदसूरत थे। बाद में जब उनके पास थोड़ा बहुत पैसा आ गया और

ठीकठाक घर बन गया तब भी उनके हुलिये और तौर तरीके में कोई फर्क नहीं आया। पर एन. आर.आई. शंकरभाई पूरी तरह से मध्यवर्गीय थे। एक तस्वीर है जिसमें बाएं से नागजी पटेल, सुभाष शाह (सामने अधलेटी उनकी छोटी सी बिटिया), कृष्ण छातपर, भूपेन, और अंत में सदा की भांति काला चश्मा चढ़ाए पालथी की मुद्रा में शंकरभाई हैं। कितनी भी दोषदृष्टि डालो, शंकरभाई खासे आकर्षक लगते हैं। हीराभाई के सुंदर नाक नक्श और शुभ्रवेश का जिक्र पहले ही कर चुका हूं। चंद्रकांत भाई सूरत शक्ल में भी अच्छे खासे थे और प्रमुख स्थानीय नेताओं में गिने जाते थे। बस अकेले एक वल्लवभाई हैं जो भूपेन के प्रेमियों के बारे में प्रचलित धारणा से काफी हद तक मेल खाते हैं। लेकिन उन्हें भी मध्यवर्ग से नीचे नहीं बिठाया जा सकता। बहुत मुमकिन है कि इससे भी अधिक विविधता भूपेन के उन 'प्रेमियों' में रही हो जो थोड़ी देर का साथ देकर विलीन हो गए और जिनकी कोई मुकम्मल गिनती नहीं है। फिर भी भूपेन का सौंदर्यबोध और वास्तविक जीवन में उसकी पसंद सामान्य संवेदना के लिए हैरतअंगेज हो सकते थे। रणछोड़भाई के रूप का वर्णन हो ही चुका है। अमित अंबलाला बताते हैं कि भूपेन के साथ एक बार वह चीनी मिट्टी के प्याले, रकाबी वगैरा बनाने वाले किसी कारीगर के यहां गए। वहां कारीगर के बूढ़े पिता भी विराजमान थे। खूब मोटे, कल्पनातीत काले चेहरे पर चेचक के दाग ही दाग, तेल से चुपड़ी खोपड़ी, और भूपेन की आंखें हटें न वृद्ध से। वहां से निकलते ही रट लगा दी भूपेन ने 'सरस माणस', 'केटलो सरस माणस' (कितना सुंदर आदमी)। जितना अमित असहमत हों उतनी ही भूपेन की रट बढ़े।

आगे हम इस विषय की और चर्चा करेंगे भूपेन के जुगुप्सा के अर्थ विस्तार के संदर्भ में। यहां केवल सुंदर असुंदर से जुड़े उस प्रश्न को याद कर लेना जरूरी है जिसके महत्त्व को सिद्धांत के स्तर पर अमूमन सभी मानते हैं पर व्यवहार में भुलाए रहते हैं। सुंदर है क्या?

उम्रदराज, थुलथुल, कामातुर लोग हमेशा ही भूपेन को भाये रहते हों ऐसा भी नहीं था। उसकी कहानी 'डायरी के तीन पन्ने' के सूत्र बताते हैं कि वह फंसता भी रहता था अनचाहे आदमियों के चक्कर में। सामने वाले आदमी के लिहाज में जबरदस्ती करके न निकल पाने की वजह से खुद ही शिकार हो जाता था जबरदस्ती का। एक बार लंदन में तो वह बड़ी डरावनी स्थिति में फंस गया था चलते चलते हो गए एक संबंध की वजह से। किसी निम्नवर्गीय गोरे अजनबी के साथ वह एक अंधेरी खतरनाक जगह में फंस गया था, और किसी तरह आधी रात के बाद जान बचाकर भागा था वहां से। दुहरी जिंदगी की उस आवारगी में ऐसे अप्रिय अनुभवों का जोखिम तो बना ही रहता होगा, पर लगता है कि वे अपवाद ही रहे और उनकी कोई बुरी छाया भूपेन के समलिंगी सहचार पर नहीं पड़ी। तभी गुलाम शेख अपने संवेदनशील विश्लेषण में आगे कह पाते हैं : *भूपेन को इससे क्या साध्य था इसका पता नहीं, लेकिन उसकी प्रेम परिधि में आने वाले बीमार, मरते व्यक्ति के जीवन में नया संचार होता नजर आता था। चित्रों में इन सभी को जीवनदान मिला और उसके जीवन ने ययातिपर्व का रूप धारण किया।* यहां आकर गुलाम भूपेन के इन समलैंगिक संबंधों के एक गहन मनोवैज्ञानिक पक्ष की ओर इशारा करते हैं : *बचपन में चले गए पिता को पुनः प्रसवित करते पिता और प्रेमी एक हुए।* महेंद्र देसाई की किताब में रणछोड़भाई भूपेन की बात करते करते बार बार उसे अपना बेटा बताते हैं। भूपेन अपने साहित्य को आत्मकथात्मक बताता था। न बताता तो भी उसका साहित्य खुद इस रहस्य का उद्घाटन कर देता। उसकी एक कहानी है : *वालेचा।* छोटी सी इस कहानी में चार्टर्ड अकाउंटेंट बनने की तैयारी कर रहे एक युवक की मुलाकात अनायास एक बूढ़े अजनबी से होती है। कुछ दिन बाद जब युवक उस बूढ़े—चेलाराम वालेचा—से मिलने उसके ऑफिस जाता

है तो वृद्ध वालेचा बड़े प्यार से युवक की पीठ सहलाने लगता है और अति भावुक हो बताता है कि वह उसे अपने बेटे की याद दिलाता है। युवक के पूछने पर वृद्ध बताता है कि बंटवारे के वक्त बलवाइयों ने उसकी आंखों के सामने उसके बेटे को काट डाला था। वृद्ध खदर के रुमाल से अपने आंसू पोंछता है, युवक को देखकर मुस्कराता है, और उसकी जांघें सहलाने लगता है। युवक वृद्ध को गालों पर चूमता है। वृद्ध उसे चिपटा लेता है। वृद्ध पेशे से वकील है, गांधी से प्रभावित है, रोज सुबह एक घंटा चरखा कातता है, और युवक से कहता है कि प्यारेलाल की *गांधी : द लास्ट फेज* पढ़े। दोनों का मिलना जुलना होने लगता है। वृद्ध अब युवक को 'बेटा' कहकर बुलाता है, और उसके बदन को मलने का मजा भी लेता रहता है। युवक खिंचता भी है वृद्ध की ओर और उससे भागना भी चाहता है। कहानी में एक जगह वह कहता है : 'मैं इस रिश्ते को लेकर परेशानी में था। विचित्र मेल था यह वासना और पिता सदृश स्नेह का।' खट खट साफबयानी, कोई लगालेस नहीं, न हीं गंभीर मनोविश्लेषण का मुलम्मा। समझो तो ठीक, नहीं तो समझते रहो जो समझना है। पर आदमी होता ऐसा ही है : मासूम भी, पाजी भी। हर व्यक्ति विरोधों का नित नए रूप लेता एक पुंज। भूपेन पहचान चुका था इस असलियत को। देख सकता था पिता और प्रेमी दोनों को एक ही व्यक्ति में पा जाने से मिलने वाला सुख भी और उस व्यक्ति से दूर भागने की व्यग्रता भी। आनंद भी जुगुप्सा भी।

हम देख चुके हैं कि भूपेन असामान्य माने जाने वाले रिश्तों में जबरदस्त रुचि लेता था। भनक भर लग जाए उसे ऐसे किसी संबंध की, और लग जाता था वह उसके बारे में ज्यादा से ज्यादा जानकारी हासिल करने में। पिता पुत्र के 'अवेध' संबंध का एक वाकया उसे अपने एक मनोविश्लेषक मित्र से पता लगा। बंबई निवासी इस मित्र का अक्सर बड़ोदा आना होता था और वह भूपेन के साथ ही ठहरता था। पता नहीं कितनी अंतरंग बातें भूपेन इस मनोविश्लेषक मित्र से करता था, पर इस मित्र का मानना था कि भूपेन के काम ने उसे पागल होने से बचा लिया है। एक शाम, जब मैं भी भूपेन के यहां था, इस मित्र ने बताया कि उसके पिता के साथ उसके बाबा के शारीरिक संबंध थे। यहां तक कि बेटे की सुहागरात वाले दिन भी पिता ने बेटे को अपने पास बुला भेजा। बड़ी मुश्किल से इस मित्र के पिता को अपने पिता के चंगुल से आजादी मिली।

वापस भूपेन की कहानी *वालेचा* पर। ऊपर, इसके संदर्भ में, मैंने अलग अलग आनंद और जुगुप्सा कहा। भूपेन के लिए जुगुप्सा में आनंद समाहित था। लोगों की इस शब्द की सामान्य समझ और इसके स्थापित शाब्दिक अर्थ से अलग, उसके लिए जुगुप्सा का अर्थ था घृणा और आनंद का मेल। एक ऐसी स्थिति जिसमें हमें किसी के प्रति—कोई व्यक्ति, विचार, स्थिति या भाव—घिन भी होती है और उसकी ओर हम खिंचते भी हैं। इस संश्लिष्ट और गहरे अर्थ में जुगुप्सा उसके प्रिय शब्दों में एक था। यह समझ जीवन में गहरे डूबे एक कलाकार की समझ है, और इसमें रसोत्पत्ति की वह पूरी प्रक्रिया समाई हुई है जो जुगुप्सा की परिणति वीभत्स की निष्पत्ति से मिले आनंद में कराती है।

उल्लेखनीय अवांतर प्रसंग आ जाने से ऊपर चल रही भूपेन वल्लवभाई के रिश्ते की कहानी उस जगह छूट गई थी जहां दोनों व्यक्ति कहे अनकहे लेनदेन और समझौते करते हुए एक ऐसे धरातल पर पहुंचने में लगे हुए थे जहां से उनका साथ यथासंभव शांति और प्यार से चल सके। मुझे ऐसा याद पड़ता है कि जल्दी ही भूपेन और वल्लवभाई के बीच चल रही अघोषित रस्साकशी खतम हो गई। मुझे यह भी याद है कि वल्लवभाई के लिए एक दुःख सा उभरा था मेरे अंदर जब मुझे लगा था कि उन्होंने भूपेन के साथ भाव खाना और उठते बैठते



उस पर जोर जमाना बंद कर दिया है। बंद इसलिए नहीं किया कि भूपेन अब उनके मन की करने लगा था, बल्कि इसलिए कि उसको बदल पाने की उम्मीद छोड़ बैठे थे वह। समझ गए थे कि वस्तुस्थिति को मान लेना ही बेहतर है।

बड़ी नाजुक है ऊपर कही बात। बहुत कोशिश की है कि इसका बयान करने में संतुलन न गड़बड़ाए। इसको पढ़ने सुनने में भी संतुलन रहे तो अच्छा है। गलतफहमी की गुंजाइश न रहे इसलिए इतना जोड़ देना चाहता हूं कि इस पूरे बयान में भाव यह नहीं है कि कोई मजबूरी रही होगी जिसकी वजह से वल्लवभाई भूपेन के साथ रिश्ता निभाए रहते थे, या यह कि भूपेन उन पर धौंस जमाये रहता था। चाहतें बराबरी के पैमाने पर तुल तुल के नहीं चलतीं। गैर बराबरी रहती ही है हमेशा। कहीं कम कहीं ज्यादा।

भूपेन की सेवावृत्ति असाधारण थी। दूसरों के लिए जितना बन सके करता था, अपनों के लिए तो सामर्थ्य से भी ज्यादा करता रहता था। पर इसी के साथ साथ एक ऐसी शदीद स्वार्थवृत्ति भी कभी कभी उसे ऐसे जकड़ लेती थी कि उसके चंगुल से वह निकल ही नहीं पाता था। बच्चों की तरह बेबस हो जाता था उस वक्त। दो नगण्य से लगते पर अर्थपूर्ण उदाहरण देना चाहूंगा। सूरत के सेंटर फॉर सोशल स्टडीज में काम करने के दौरान मैंने 'साहित्य और सामाजिक चेतना' पर एक संगोष्ठी आयोजित की थी। इसमें अन्य साहित्यकारों, आलोचकों और विद्वानों के साथ भूपेन भी आमंत्रित था। भोजन की व्यवस्था सेंटर से ही लगे विश्वविद्यालय के अतिथिगृह में थी। सुबह ही भूपेन ने वहां खबर कर दी थी कि उसके लिए बगैर मिर्च का खाना बनवा दिया जाय। जब भोजन परोसा गया तो बगैर मिर्च का खाना था ही नहीं। पर जो खाना बना था उसमें मिर्च बिलकुल भी ज्यादा नहीं थी। लेकिन थी तो। बस बिफर गया भूपेन। एक ही रट, कि मेरे मुंह में छाले हैं, मैं अब क्या करूं?

दूसरा उदाहरण भी सूरत का ही है। एक बार आ गया भूपेन बगैर बताये बड़ोदा से। आते ही बोला कि बड़ा मन था मिलने का, सोचा बस चल दो। मिलने के उत्साह में उसने ध्यान नहीं दिया कि मैं लेटा हुआ हूं। मैंने उसे बताया कि मेरी तबियत गड़बड़ाई हुई है। फिर तो बस वह मेरी ही पूछने लगा। शाम होते ही बोला कि एक जरूरी काम से महेंद्र (देसाई) से मिलने जाना है। जल्दी लौट आऊंगा। लौटा देर रात गए। ये नहीं कि मेरी चिंता नहीं थी उसे, बस ये कि एक बीमार के बगल में सारी शाम बैठ अकेले लेते रहने में क्या मजा आना था।

जब तब भले ही किसी को थोड़ी बहुत चिड़चिड़ाहट हो जाय, दोस्तों को उसके इस स्वभाव से कोई खास फर्क नहीं पड़ता था। हर कोई अपने हिसाब से तय कर सकता था कि कितनी भूपेन के मन की करनी है बगैर अपने लिए कोई तनाव मोल लिए। वल्लवभाई को तो वैसी आजादी नहीं रही होगी। जितना दबने के लिए खुशी खुशी तैयार रहे होंगे, उससे ज्यादा दबना हो जाता होगा। भूपेन भी दबता था, किंतु अपने मन के मुताबिक।

भूपेन और वल्लवभाई के संबंध को जिस तरह से खुद मैंने देखा और उसके बारे में दोस्तों से जो सुना उसकी दास्तां के आखीर में नौशिल और किन्नरी से सुनी दो बहुत अहम बातें। नौशिल का पक्का विश्वास है कि भूपेन और वल्लवभाई के बीच शारीरिक संबंध नहीं थे। किन्नरी बताती हैं कि एक बार भूपेन ने उनसे कहा था कि उसने वल्लवभाई के साथ आध्यात्मिक प्रेम की अनुभूति की है। दोनों बातें एक नहीं हैं। शारीरिक संबंध की अनुपस्थिति आवश्यक नहीं कि आध्यात्मिक प्रेम पैदा करे, और शारीरिक संबंध भी निमित्त हो सकता है आध्यात्मिक प्रेम का। स्थूल और सूक्ष्म के दो ध्रुव छोरों के बीच अनगिनत ऊर्ध्व बिंदु हो सकते हैं सहवास के। इसीलिए मैंने कहा है कि भूपेन वल्लवभाई के संबंध को वर्णित करने के लिए

शायद सब से उपयुक्त शब्द 'संग' है।

वल्लवभाई के साथ आध्यात्मिक प्रेम के संबंध में एक निहायत गौरतलब बात का जिक्र जरूरी है। इसलिए भी कि जहां तक मैं जानता हूं इस पर गौर नहीं हुआ है। भूपेन की कला और उसकी निजी जिंदगी, दोनों की ही दृष्टि से जितनी चर्चा उसकी 'यू कांट प्लीज ऑल' की हुई है उतनी उसके किसी और चित्र की नहीं। इस चित्र को लेकर आम सहमति है कि ऊपर अपनी बाल्कनी से नंगा खड़ा हो जो आदमी नीचे संसार में हो रहे खेल को देख रहा है वह खुद भूपेन है। कुछ ही दिन पहले अतुल डोडिया ने फोन पर बात करते वक्त कहा कि यह आदमी वल्लवभाई है, भूपेन नहीं। मेरा कहना था कि इस व्यक्ति में वल्लवभाई भी झलकते हैं और भूपेन भी। यह कहते कहते मुझे कुछ और ही सूझ गया और मैंने जोड़ दिया कि ठीक ही तो है कि ऐसा है। इस पर हम दोनों ही उस जुगल जोड़ी को प्रेम से याद करके हंसने लगे। अब जब कि भूपेन वल्लव प्रसंग पूरा होने को है तो लग रहा है—कहना चाह रहा हूं कि विश्वास हो गया है—कि 'यू कांट प्लीज ऑल' का यह नायक दरअसल उस आध्यात्मिक प्रेम का मूर्त रूप है जिसका स्वीकार भूपेन ने किन्नरी से किया था। प्रेम में दो शरीरों के एकमेक हो जाने वाले अलौकिक क्षण का मूर्त रूप।

भूपेन के जीवन और उसकी कला दोनों के ही परम महत्वपूर्ण पक्ष, समलैंगिकता, की इस चर्चा का समापन 1991 में या उसके आसपास नौशिल से हुए उसके एक वार्तालाप से करना चाहूंगा। किसी टेलीविजन चैनल ने भूपेन समेत कुछ समलैंगिकों को समलैंगिकता पर बातचीत के लिए बुलाया था। बंबई पहुंचकर सदा की तरह भूपेन नौशिल के घर चला गया। बड़े उत्साह से उसने नौशिल को अपने आने का सबब बताया। सुनते ही नौशिल ने कहा कि आपको इस कार्यक्रम में हिस्सा नहीं लेना चाहिए। बड़ी देर तक बहस चलती रही, पर भूपेन नौशिल का कोई भी तर्क मानने को तैयार नहीं था। बड़ी मुश्किल से वह अपने सारे डरों से उबरकर इस स्थिति में आ पाया था कि न सिर्फ अपने काम बल्कि अपनी जिंदगी में भी अपने होने के इतने बड़े सच को खुल के स्वीकार कर सके। खुद निडर हो अब वह दूसरों को भी निडर होने के लिए प्रेरित कर सकता था। इस कार्यक्रम में हिस्सा लेकर वैसा ही कुछ कर सकता था वह। उधर नौशिल ने ठानी हुई थी कि भूपेन को जाने नहीं देना है। जब सब तर्क चुक गए तो नौशिल ने पुरानी दोस्ती को ही दांव पर लगा दिया और कहा कि इसके बाद भी जाना है तो जाओ। भूपेन पस्त हो गया नौशिल के ब्रह्मास्त्र के आगे।

असल बात अभी बाकी है। जिस समय दोनों के बीच तर्क वितर्क चल रहा था, नौशिल ने अपनी समझ से भूपेन को जाल में फंसाने के इरादे से उससे पूछा : "क्या आप एक समलैंगिक के रूप में याद किया जाना चाहेंगे जो कलाकार भी था, या एक कलाकार के रूप में जो समलैंगिक था?" इस किस्से के अपने विवरण को यहां रोककर नौशिल ने मुझसे पूछा : "तुम क्या सोचते हो भूपेन ने क्या जवाब दिया?" मैं तो जब नौशिल बोल रहा था उसी वक्त समझ रहा था कि भूपेन का क्या जवाब रहा होगा, सो उसके पूछते ही मैंने बेसाख्ता कह दिया : "कलाकार जो समलैंगिक था।" जबकि भूपेन का जवाब था : "मैं नहीं जानता।"

शुरू से मैं इस किताब में लिख रहा हूं कि समलैंगिकता अकेला एक विषय था जिसको लेकर भूपेन बड़ी आसानी से उत्तेजित हो जाता था। फिर भी मैं समझता रहा था कि उसका सर्वोच्च समर्पण कला के लिए था। भूपेन के 'मैं नहीं जानता' ने मुझे झकझोर दिया। अब समझ रहा हूं कि समलैंगिकता और कला समकक्ष थे उसके जीवन और चिंतन में। दोनों ही उसके सांस ले सकने के लिए समान रूप से अनिवार्य। शायद इसीलिए अपने काम की बात करते

वक्त भी वह अक्सर कहा करता था कि हम लोगों को—समलैंगिकों को—तुम लोगों से कहीं ज्यादा जरूरत है सिद्ध करने की कि हम किसी से कम नहीं हैं। अगर ऐसे गहरे विश्वास के बाद भी भूपेन समलैंगिकता का आंदोलनकारी नहीं बना तो उसके लिए नौशिल जैसे मित्रों के दबाव से कहीं ज्यादा उसका अपना स्वभाव, उसका व्यक्तित्व, जिम्मेदार था। वह बना ही नहीं था सड़क पर उतरने या मीडिया में बड़े बड़े बयान देने के लिए। और कहीं उसे विश्वास था कि वह अपनी जिम्मेदारी से मुंह नहीं मोड़ रहा। कि अपने स्वभाव और अपनी सामर्थ्य को पहचानते हुए बखूबी निभा रहा है उस जिम्मेदारी को अपने काम की मार्फत। भूपेन के इस पहलू को बड़ी संवेदना से टी. रिचर्ड ब्लर्टन ने समझा है। स्वयं समलैंगिक ब्लर्टनबड़ी आसानी से आंदोलन में न उतरने के लिए भूपेन की भर्त्सना कर सकते थे। उन्होंने कहा : *बावजूद अपने आप के वह आंदोलनकारी था।*

## तिलोका वायकान

---

नवल शुक्ल

नवें दशक के प्रमुख कवि नवल शुक्ल अनदिखे रह जाने वाले जीवन और अनसुनी कर दी जाने वाली आवाजों की भागीदारी से अपनी कविता का चेहरा तैयार करते रहे हैं। अब वह तद्भव में प्रकाशित अपने इस पहले उपन्यास के जरिए कथाक्षेत्र में।

बहुत छोटा था। वह बचपन से थोड़ा सा आगे का समय था। उस समय एक सपना देखा। यूं तो सपने आमतौर पर इतने आश्चर्यजनक होते हैं, इतने विचित्र और कभी कभी यह भी कहा जा सकता है कि कल्पना से इतना परे होते हैं कि सपनों को कल्पना की कल्पना कहा जा सकता है। सपना देखने के बाद ऐसी अपूर्व खुशी होती है, ऐसा आत्मिक आनंद होता है कि गुजरते समय के अहसास के बावजूद सपना जब तक याद रहता है, मन शरीर बहुत हल्का रहता है। दुनिया इतनी खाली और आमंत्रित करती हुई लगती है कि हम किसी भी तरफ, कहीं भी जा सकते हैं। कोई अवरोध नहीं दिखता, बंधन महसूस नहीं होता। हम इस समय बिल्कुल अपने बचपन की तरह होते हैं। किसी भी व्यक्ति या वस्तु के प्रति कोई धारणा नहीं होती। कोई पूर्व सोच नहीं होती। हम कुछ भी कर गुजरते हैं। बिना इस अहसास के कि कुछ कर रहे हैं। जैसे जैसे हम सचेत होते जाते हैं, 'मैं कर रहा हूँ' का भाव हममें आता जाता है; तब हममें ठहराव आने लगता है। हमारा कुछ भी कर पाना कमजोर होने लगता है। हम मूर्त होने लगते हैं। अपने बचपन से दूर होने लगते हैं। जीवन से दूर और मृत्यु की तरफ बढ़ने लगते हैं।

रात में कब, किस पहर सपना देखा, सुबह यह बिल्कुल याद न रहा। सपना जितना धुंधला और अस्पष्ट था, उतना अभी भी पूरी तरह याद था। सुबह से बार बार वही सपना याद

आ रहा था। बड़े बूढ़ों से यह कहते सुना था कि सुबह के सपने अक्सर याद रहते हैं। लेकिन मैं यह तय नहीं कर पा रहा था कि वह सुबह का ही सपना था या किसी और समय का। क्योंकि मुझे यह लग रहा था कि सपने में जिस तरह मैं भटक रहा था, वह भटकन बहुत पुरानी थी। मैं वर्षों से भटक रहा था और शाम हो रही थी। मैं वर्षों से सपने की शाम में सोच रहा था कि मैं तो भटक गया हूँ। भटककर कहां जा रहा हूँ? यह मेरे आसपास कैसी जगह है, जिसे कभी आज तक देख नहीं पाया हूँ। आसपास में बस्ती कहां है? यहां तो बस्ती भी नहीं है। मैं बिना बस्ती के भटक रहा हूँ। वर्षों से भटक रहा हूँ लेकिन अभी तक कोई एक घर, एक परिवार या एक आदमी दिखायी नहीं दिया है। मैं कहां जा रहा हूँ? किस ओर? यहां कैसे आ गया? इस घने जंगल में मैं कब आया! ऐसा जंगल जो मेरा पहचाना हुआ नहीं है। आज तक इसे कभी देखा नहीं था, पर यह जंगल मुझे परिचित क्यों लग रहा है? क्या मेरे बाबा ने कभी इस जंगल के बारे में बताया था? क्या उनके साथ कभी यहां आया था? यदि वे मेरे साथ आये होते तो बाबा भी साथ में ही होते। पर बाबा कहां हैं? वे वर्षों से नहीं दिख रहे हैं। पर ऐसा क्यों लग रहा है कि वे हैं। यहीं कहीं। एक दो कदम उधर उधर। यह जंगल मुझे अपने बाबा का जंगल क्यों लग रहा है? ये पेड़ इतने आत्मीय क्यों हैं? क्यों हैं इतने अपने, जैसे मेरे बाबा हों। क्या बाबा ने इन्हें यह बताया है कि मैं इनके पास आऊंगा? ये पेड़ मुझे अपनी गोद की सुरक्षा में अपनी उष्णता के साथ घेरे हुए हैं। जिधर मैं देखता हूँ उधर सिर्फ पांच कदम आगे की जगह दिखती है। और जिधर मुझे जाना है, उधर से ये पेड़ आप ही आप क्यों हटते जा रहे हैं। आगे से जितनी जगह मेरे लिए ये पेड़ खाली करते हैं, उतनी ही जगह वे मेरे बाकी ओर से आकर भर देते हैं। मुझे अभी तक कोई जानवर क्यों नहीं मिला? मैं ऐसा निश्चित बढता जा रहा हूँ जैसे डरने की कोई बात ही नहीं है। और हां मुझे भूख भी तो नहीं लग रही है। मुझे प्यास भी अब तक नहीं लगी है। किसी के लिए मुझे रास्ता नहीं देना पड़ रहा है। शायद जंगल में भूख प्यास नहीं लगती होगी। बिना थके हुए और बिना कुछ सोचे मैं चलता जा रहा हूँ।

अचानक मुझे ध्यान आया कि यहां हमने जो देखा है, उसे उस लड़की को बताऊंगा जो मेरे साथ पढ़ती है। क्या नाम है उसका? उसका नाम तो बिल्कुल याद नहीं आ रहा है। धूल में खेलने वाली लड़की? नहीं, यह तो अच्छा नाम नहीं है। धूल में वह खेलती जरूर है लेकिन धूल में खेलने वाली लड़की उसका नाम नहीं हो सकता। तो क्या हम इतने दिनों तक एक साथ स्कूल में पढ़ते रहे और हमने एक दूसरे का नाम नहीं जाना। यह कैसे हो सकता है। नाम की जरूरत तो हमेशा पड़ती है। कारण कि आदमी की जरूरत हर वक्त होती है। हमेशा आदमी को पुकारना होता है।

इसका मतलब यह है कि मैं वर्षों से स्कूल नहीं गया हूँ। या वर्षों से उस लड़की को पुकारा नहीं हूँ। शायद इसी कारण उसका नाम याद नहीं आ रहा है। फिर तो बहुत पढ़ाई हो गई होगी। मैं रोज अपनी कक्षा में अनुपस्थित होता होऊंगा। लड़के हमारे बारे में क्या सोचते होंगे। यह कि मैं स्कूल से भाग गया हूँ? मैं पढ़ना नहीं चाहता? पढ़ाई में मेरी बिल्कुल रुचि नहीं है? गुरुजी क्या सोचते होंगे। यही सब सोचते हुए देख रहा हूँ कि मैं कक्षा में अपनी टाटपट्टी के बगल में बैठा हूँ और टाटपट्टी पर मेरी बैठने वाली जगह खाली है। मैं उस खाली टाटपट्टी को देख रहा हूँ और सोच रहा हूँ कि कितने दिन हो गये मुझे स्कूल नहीं आये हुए। गुरुजी की ओर देखता हूँ। गुरुजी हाजिरी रजिस्टर में मेरा नाम पुकारते हैं और मेरे नाम की आवाज को बीच में ही रोक देते हैं। यह सोचकर कि बाकी लड़के मेरी खाली टाटपट्टी की तरफ न देखने लगे और कहें कि गुरुजी लगभग साल भर हो गया है, वह नहीं आ रहा है।

मालूम नहीं कहाँ चला गया है। गुरुजी यह सोचते हुए मेरी ओर देखते हैं। मैं टाटपट्टी के बगल में खड़ा गुरुजी से कहता हूँ कि नहीं गुरुजी मैं कहीं नहीं गया हूँ। मैं स्कूल न आऊँ यह मुझसे हो ही नहीं सकता। हाँ मैं यह देख रहा हूँ कि मेरी टाटपट्टी खाली है। मैंने हाजिरी भी नहीं दी है। पर मैं कहीं नहीं गया हूँ। मैं जंगल में हूँ और अभी आया नहीं हूँ। मुझे इतना बता दीजिये कि उस लड़की का नाम क्या है? मैं उस लड़की का नाम भूल गया हूँ।

गुरुजी बहुत दुःखी स्वर में कहते हैं कि किसका नाम भूल गये हो? धूल में खेलने वाली लड़की का? तुम जरूर उसी का नाम भूल गये होगे। पर तुम्हें उस लड़की के नाम की क्या जरूरत है। तुमने उसे नाम से बुलाया ही कब है?

स्कूल के बरामदे में चारखाने की हाफ पैंट पहने लड़की खड़ी थी। वह वहाँ कब से खड़ी थी हम लोगों ने देखा ही नहीं। मैं उससे उसका नाम पूछने ही वाला था कि वह गुरुजी की ओर देखती हुई एक कदम आगे बढ़कर ठिठक गई। उसने डरते और लजाते हुए कहा कि गुरुजी मैं तो हमेशा उसके पास रहती हूँ। मैंने उसे कभी बुलाया ही नहीं और उसे मुझे बुलाने की कभी जरूरत ही नहीं पड़ी। वह तो जब भी मुझे पुकारना चाहता है मैं उसी के बगल में रहती हूँ। मैं वर्षों से यह जान रही थी कि यह मेरा नाम लेना चाहता है। मुझे नाम से बुलाना चाहता है लेकिन मैंने इसे मौका ही नहीं दिया। यह जब भी मुझे बुलाना चाहता है मैं उसके पास होती हूँ। इधर उधर देखकर बुलाने को सोचता है तो मैं इसकी आंखों के साथ ही घूम जाती हूँ। यह मुझे कभी नहीं बुला पाया। मुझे इससे बड़ी खुशी होती है कि देखो यह मुझे बुलाना चाहता है और बुला नहीं पा रहा है। बेचारा, बिल्कुल छोटा लड़का है। हुआ यह कि जब मैं इससे मिली तो इसे मेरा नाम मालूम नहीं था। स्कूल आते समय हमारी किताबें गिर गईं। यह मेरी किताबें उठाता इसके पहले ही मैंने इसकी किताबें उठाकर इसे दे दीं। मैं छोटी हूँ न और पतली दुबली भी। इस कारण इससे पहले मैंने किताब उठा ली और यह सोचता ही रह गया। लेकिन गुरुजी इसकी किताब उठाते समय मेरी बनियान से बेर भी गिर गये। ओह कितने अच्छे बेर थे। लाल, पीले और हरे बेर। यह जल्दी जल्दी स्कूल जा रहा था। स्कूल की घंटी बज गई थी। और आप तो जानते हैं कि यह घंटी बजने तक स्कूल में आते समय देर कर सकता है, पर प्रार्थना की लाइन लगने के पहले ही भागते हुए पहुंच जाता है। लेकिन उस दिन यह रुक गया गुरुजी। इसने मेरे बेर उठाकर मुझे दिये और कहा कि आज देर हो गई। मेरी किताब नहीं गिरी होती और तुमसे बेर नहीं गिरे होते तो प्रार्थना में पहुंच जाता। उस दिन यह दिन भर डरा रहा और आपसे घबड़ाता रहा कि आप इससे यह न पूछ लें कि तुम्हें देर कैसे हो गई?

मैं अपनी जगह खड़ा उसकी ओर बेचैनी से देख रहा था। वह मेरी ओर क्यों नहीं देख रही है? जब उसे मालूम है कि मैं अभी स्कूल में नहीं हूँ, बावजूद इसके अभी यहाँ खड़ा हूँ फिर भी वह मेरी ओर क्यों नहीं देख रही है? क्या मैं अदृश्य होकर यहाँ उपस्थित हूँ? यदि अदृश्य होकर उपस्थित हूँ तो भी उसने तो हमारी बातचीत सुनी ही थी। फिर वह मेरे पास क्यों नहीं है? क्या उसे नहीं मालूम है कि मैं जंगल में रात बिताने की कोई जगह ढूँढ़ रहा हूँ? अभी तक मुझे ऐसी कोई जगह नहीं मिली है और वहाँ मैं उसका नाम जानने के लिए परेशान हूँ। वहाँ से यहाँ तक सिर्फ उसका नाम जानने आया हूँ। अरे सुनो तुम अपना नाम बताओ ऐ धूल में खेलने वाली लड़की! तुम मुझे दिखायी क्यों नहीं दे रही हो? अरे ये गुरुजी कहाँ गये? कहाँ गया स्कूल? मैं तो जंगल में हूँ। क्या मुझे तुम्हारी सिर्फ याद आई थी? सिर्फ याद में मैं स्कूल पहुंच गया था? अब आगे कोई रास्ता भी तो नहीं दिखायी दे रहा है। कितना अंधेरा हो गया है। अब मैं किधर जाऊंगा? घर से निकले हुए और यहाँ आये हुए तो बहुत दिन हो गये हैं।

मुझे घर की याद क्यों नहीं आ रही है? मैं किसे खोज रहा हूँ? क्या सिर्फ रात बिताने की जगह खोज रहा हूँ? मैं कब से रात बिताने की जगह खोज रहा हूँ? बिल्कुल अपने जैसे लेकिन अनजान आदमियों के बीच मैं कब से जाना चाह रहा हूँ? वे कहाँ हैं?

**सामने** बरगद का एक पेड़ है। मैं धीरे धीरे उसके करीब होता जा रहा हूँ। उसकी झुकी हुई शाखाएँ मेरे चारों ओर और झुकी जा रही हैं। गांव में भी बरगद का एक पेड़ था। उसके नीचे गर्मियों में हम जिस तरह खेलते थे या वहाँ लेटे रहते थे, उस समय जो उन्मुक्तता, शांति और खुशी मिलती थी, वैसा ही भाव मुझमें भरता जा रहा है। गांव के उस पेड़ के नीचे खेलने का मतलब था, ऐसा बच्चा जो बड़ा हो गया है, थोड़ी देर के लिए बाहर अकेला रह सकता है। वहाँ अपने साथियों के साथ खेल सकता है। पर थोड़ी ही देर में हमारी खोज शुरू होती थी और हमें पकड़कर घर ले जाया जाता था। वापस, बरगद से दूर। ऐसे समय खूब रोना आता था। हम पैर पटकते हुए, बरगद की ओर खिंचे हुए घर की ओर जाते थे। बरगद की जड़ों पर उछलते कूदते जो लड़के उस समय खेलते रहते थे, हमारा मन उन्हीं में अटका रहता था।

बरगद के पेड़ के नीचे हम जितनी देर रहते थे, उतनी देर तक हम यह भूल जाते थे कि हम बच्चे हैं। हम अपनी उम्र भूल जाते थे। उम्र की याद आना, उम्र के बारे में सोचना हमेशा पीड़ा का कारण बनता है। क्योंकि या तो आप छोटे होते हैं या आप बड़े होते हैं। या तो हमारे पास बहुत जीवन बचा होता है और लोग हमें कहते हैं कि अभी तुमने दुनिया देखी कहाँ है या हम बहुत जीवन देख चुके होते हैं और सुनने को मिलता है कि आप बच्चे नहीं हैं। दोनों ही स्थितियों में पछतावा होता है। हम एक साथ बड़े और छोटे नहीं होते। जब हम बरगद के नीचे खेलते थे, अपने घरों से बाहर रहते थे तो छोटे और बड़े एक साथ होते थे। हमें पछतावा नहीं होता था। हम कुछ भी कर सकते थे और कुछ नहीं भी कर सकते थे। इस समय में कोई बंधन नहीं था। सिर्फ एक बंधन था, वह घर का बंधन था। घर हमेशा हमारी आंखों में टंगा रहता था। हम घर से आते थे और फिर से वापस घर जाते थे।

हम खेलने वाले बच्चों के जीवन में एक ओर हमारे घर थे और दूसरी ओर बरगद का पेड़। दूसरी ओर हमारा आकर्षण अधिक था। यह घर के बाहर दूसरी ओर का आकर्षण था। इसमें बाहर की दुनिया, लोग, पेड़ पौधे, फल फूल, लड़ाई झगड़े, गीत, संगीत और खेल थे। इस आकर्षण के कारण हम रोज अपने घरों से बाहर भागते थे और बरगद के नीचे पाये जाते थे। हमें लगता था आकर्षण के और भी ढेरों कारण हैं। हमें रोज कोई नयी चीज दिखती थी। हम रोज कुछ नयी बातें सुनते थे। महिलाओं और पुरुषों को खेतों से आते जाते देखते थे। यहीं से शाम को ढलते हुए सूरज को डूबते देखते थे और उस दुनिया के बारे में सोचते थे, जहाँ सूरज डूबने के बाद जाता है। ऐसी चीजों के बारे में रोज सोचते थे और जितना हो सकता था कुछ अधिक जानने की कोशिश करते थे। कई बार क्या बल्कि रोज ही हम खेलते हुए आपस में इसी तरह की बातें करते थे। हम किन्हीं ऐसी जगहों की ओर चले जाते थे, जिधर पहले कभी नहीं गये थे। उधर जाते हुए हम हवाओं की गंध सूंघते थे और लौटते समय अपने पैरों के निशान पहचानते थे।

इन्हीं निशानों को देखते हुए हम गांव भर के अलग अलग लोगों के पांवों के निशान खोजते थे। अभी कौन इधर से गुजरा होगा, किसके कितने बड़े पैर हैं, किसके पैर में जूते हैं? इस तरह के जूते का निशान किसका हो सकता है? इतने छोटे पांव किसके होंगे? फिर उन लोगों के बारे में बातें शुरू हो जाती थीं। इस तरह हमें रोज किसी आदमी के बारे में कोई नयी

बात जानने को मिलती थी। रोज किसी आदमी के नये रहस्य के बारे में पता चलता था। इस तरह हम जाने पहचाने आदमियों के जीवन के कई अनजान पहलुओं तक पहुंच रहे थे। इस तरह हम अलग अलग तरह के जीवन संसार को जान रहे थे। हमें लोग हर दिन अपने किसी कारण से नये लगते थे। उनका जीवन हमें आकर्षित करता था। हम अजीब खोये खोये ढंग से घर वापस आते थे। हमें घरों में आना बिल्कुल अच्छा नहीं लगता था। सूरज का डूबना तो बिल्कुल नहीं। सूरज के डूबने से हमें वापस घर आना पड़ता था। हम कुछ और जानने से रह जाते थे। इस कारण बहुत उदास रहते थे और सुबह होते ही घर से फिर भाग जाते थे।

जंगल में भटकने के बाद बरगद के पेड़ के नीचे पहुंचने पर लग रहा है किसी निश्चित जगह पहुंच गया हूं। सोच रहा हूं, अब यहां से कहीं नहीं जाऊंगा। रात हो चुकी है और अब तक कोई मिला नहीं है। कोई नहीं मिलेगा तो भी अब हर्ज नहीं है। बरगद तो है ही। इसके नीचे जगह भी है। बरगद के नीचे की जगह साफ सुथरी दिख रही है। बरगद के नीचे की जगह क्यों हमेशा साफ रहती है? क्या उसके नीचे लोग हमेशा बैठते हैं इसलिए। हां, शायद बैठने के कारण ये जगहें साफ सी लगती हैं। उन पेड़ों के नीचे जहां लोग अक्सर आते हैं और बैठते हैं, उन जगहों को साफ रखने वाला आदमी कभी नहीं दिखायी देता। बैठते रहने से जगहें बैठने लायक साफ सुथरी दिखायी देती हैं। पेड़ों के नीचे ऐसी जगहों को देखकर आदमियों के बैठे होने का अहसास होता है। लगता है कोई अभी यहां से गया होगा। कोई यहां आ रहा होगा। ये जगहें ऐसी बैठक की तरह लगती हैं, जहां कोई नहीं होता, इसके बावजूद वह भरापूरा लगता है। वहां लोगों के हमेशा होने का अहसास होता है। बैठक की शांति, उसका खालीपन इतना जीवंत होता है कि ऐसी जगहें हमेशा आत्मीय और अपनी सी लगती हैं। ऐसे स्थान के पेड़ बुलाते से लगते हैं। लगता है, उनकी शाखाएं, उनकी पत्तियां हमारे आने के पहले किसी गृहिणी की तरह अपनी बैठक को खोलकर हमारे आने की प्रतीक्षा कर रही हों। उस जगह पर हमारे आने से पहले जो बातचीत और आवाजें आ रही थीं, वे हमारे आने से और आकर जोर से सांस लेने या उसांस भरने से चुप हो गई हों। शायद यह सोचकर कि आने वाला अपने बैठने की जगह चुन ले और आराम से बैठ जाए तो हमारी बातचीत शुरू हो। चलकर आने वाला आदमी पेड़ के नीचे जैसे ही बैठता है, उसके पैरों की नसों आराम की चाहत में फड़कने लगती हैं, हवा बहने लगती है, पत्तियां बजने लगती हैं और पेड़ इत्मीनान की सांस लेता है।

मैं पेड़ के नीचे आता हूं तो थोड़ा आश्वस्त हूं। चारों ओर धीरे धीरे देखता हूं। पेड़ की थाह लेना चाहता हूं। उसे कैसा लग रहा है। पेड़ को, पेड़ के नीचे की उस जगह को, जहां मैं खड़ा हूं, उसे बुरा नहीं लगता है। हां मेरे आने से यह वातावरण आश्चर्यचकित सा है। शायद उस वातावरण से मेरा मेल नहीं बन रहा होगा। यहां अमूमन जो लोग आते हैं, वे क्या मुझसे थोड़ा अलग होंगे? क्या मेरा रंगढंग उनसे मेल नहीं खा रहा है? थोड़ा अलग अलग सा क्यों लग रहा है। क्या यह जगह मुझे अपना नहीं पा रही है। या मैं उनके लायक नहीं हूं। क्या मैं प्रश्नकर्ता पर्यटक की तरह हूं जो हर जगह थोड़ा थोड़ा समय बिताता हुआ, सिर्फ शब्दों से सूचना प्राप्त करता हुआ गुजर जाता है? क्या मैं वातावरण में घुलामिला सा, बिना कुछ पूछे महसूस करता हुआ नई जगहों की जानकारी लेने वाला आदमी नहीं हूं? क्या यहां हमेशा नये लोग आते हैं, भटकते हुए यहां पहुंचते हैं और यहां अपना ठौर पाते हैं। शायद इसी कारण वातावरण में न स्वागत है, न उत्साह है। न अनिच्छा है, न ही दूरी का भाव है। इसका मतलब मैं खुद अपनी जगह बनाऊं। मुझे स्वयं पहल करनी होगी और यह सही भी है कि जगहें मुझे



अपने बारे में क्यों बताएं? मैं स्वयं अपने बारे में इन जगहों को क्यों बताऊँ, और बताने की भी क्या जरूरत है? मैं जो हूँ, जैसा हूँ, वैसा ही यहां रहना शुरू कर देता हूँ। फिर सब कुछ सामान्य हो जायेगा, जो मुझे जानता जायेगा वह करीब होता जायेगा। मैं भी उतना ही इस वातावरण में मिलता जाऊंगा। उसका एक हिस्सा हो जाऊंगा और फिर भी मिलने से जो बचा रहेगा उसके लिए प्रयत्न करूंगा। पता नहीं कि मैं यहां कब तक रहूंगा। मालूम नहीं कि यह कितनी लम्बी रात है। कब तक मैं इस सपने में रहूंगा। सपने में सभी लोग तो अस्थायी हैं। स्थायी है सिर्फ सपना और सपना देखने की इच्छा।

सपने में बरगद के नीचे यह सोचता हुआ खड़ा था। धीरे धीरे वह जगह मेरी अपनी हो रही थी। अनजानापन समाप्त हो रहा था। मेरी निश्चितता बढ़ती जा रही थी। उसकी जड़ के पास से बरगद के तीन चार मोटे, चिकने और पीले पत्ते एक ओर सरकाकर जड़ पर बैठ गया। जड़ों के पास बैठना किसी आदमी को छूने, उसके पास बैठने जैसा लग रहा था। जड़ों के भीतर की सफेद हल्की पीली सतह की गर्मी मुझ तक पहुंच रही थी। मैं सपने में भटकते हुए बेतहाशा थक गया था और अब सोने की सोच रहा था।

न जाने कब तक मैं बैठा रहा। इतना ठीक से याद है कि सोया नहीं था। उनींदा सा था। काफी देर से इसी हालत में रहा होऊंगा। ढोल और मांदर थोड़ी दूरी पर बज रहे थे। उनकी आवाज सुनकर मैं उठा तो बिल्कुल थकान नहीं थी। मन उत्फुल्ल था। मांदर की आवाज से मेरे भीतर उल्लास पैदा हो रहा था। मैं वहीं जाने को सोच रहा था जहां लोग मांदर बजा रहे हैं। धीरे धीरे उठा और चलता हुआ मैं उनके पास तक पहुंच गया।

मेरे पास आने से उनके नाचने और बजाने में कोई अंतर नहीं आया। ऐसा लग रहा था जैसे उन्हें पता ही नहीं चल पाया है कि मैं आया हूँ। शायद मैं सपने में ही इन लोगों के बीच आया हूँ। वे अपने में डूबे हुए और रात के इस हिस्से की तरह मगन, धीरे धीरे नाच रहे थे। वे नहीं चाह रहे थे कि जिस तरह मैं अपने सपने में उनके नाच को देख रहा हूँ, उसी तरह वे मेरे सपने में आयें और मेरे द्वारा देखते हुए नाच को देखें। वे मेरे सपने में आना और मेरे देखते हुए को देखना नहीं चाहते थे।

**कौन** हैं ये लोग? ये यहां कहां से आ गये? रात का वह वक्त जब सब कुछ गहन शांत अंधेरे और उजाले में चुपचाप है, तब ये कहां से आकर यहां इकट्ठे हुए हैं? ये हमें देख क्यों नहीं रहे हैं? हमें क्यों इतने प्यारे, इतने आत्मीय लग रहे हैं? मेरा भी मन कर रहा है कि इनके साथ, इनके घेरे में शामिल होकर नाचने लगूँ। लेकिन मुझे नाचना तो आता नहीं है। ये कोई विशेष प्रकार का नाच नहीं नाच रहे हैं, जो बहुत ही अलग और विचित्र हो। ये तो इस तरह आपस में मिले हुए, एक दूसरे को पकड़े हुए हिलडुल रहे हैं, जैसे झूला झूल रहे हों या लहरें पैदा कर रहे हों। इन्हीं लहरों के साथ ये लहर की तरह हिलोरें ले रहे हैं, खिलखिला रहे हैं और आपस में बात कर रहे हैं।

ये नाचते समय जो बोल रहे हैं, वह क्या गाना है? जरूर गाना ही होगा। लेकिन यह गाना, गाने की तरह क्यों नहीं लग रहा है; जैसा रेडियो और टेलीविजन पर लोग गाते हैं। वे गायक तो बहुत सधे हुए और सतर्क दिखायी देते हैं। वे गायक अमूमन अकेले होते हैं। यदि वे समूह में गाते हैं तो भी उनके साथ दो चार लोग ही होते हैं। सब सजे- धजे और चाक चौबंद लोग ही गायन करते हुए दिखायी देते हैं। पर ये तो सैकड़ों लोग एक साथ एक दूसरे को ठेलते, छेड़ते, धकियाते और धौल जमाते हुए भी गा रहे हैं। ऐसा लग रहा है जैसे बात कर रहे हों।

इनके मन के भीतर कोई उमंग है, कोई जिज्ञासा, कोई उच्छ्वास जिसे वह यूं ही लय के साथ आपस में बतिया रहे हैं। वे परस्पर बातचीत की तरह गाते हुए लगातार उल्लसित हो रहे हैं।

कितना अच्छा लग रहा है यह जीवित मानवीय दृश्य। एक ऐसा वातावरण जो अपने ही उल्लास के नृत्यनुमा रिदम में खोया हुआ है। बिना इस अहसास के कि यह कोई विशेष गतिविधि है, वे नाच गा रहे हैं। हमें जैसे ही नाचने या गाने का अहसास होता है, वैसे ही वह गतिविधि विशेष होने लगती है। उसमें एक सोच, क्रमबद्धता और पूर्णता आने लगती है। एक स्पष्ट सोच आते ही गीत या नृत्य में समुद्र में ऊपर हिलती नाव की तरह स्थिरता नहीं होती बल्कि वह ऐसी नाव में तबदील हो जाता है, जिसे कोई भी आदमी अपनी पतवार से खेते हुए किसी भी ओर ले जाए और कहीं नहीं पहुंच पाये। यहां जो गीत गाये जा रहे हैं वे ऐसे हैं मानो उन्हें कहीं जाना नहीं है। समुद्र पर हिलती नाव की तरह यहीं रहना है। ऐसी नाव जिस पर कभी केकड़ा या मछली भी चढ़ आती हो। जिसे देखकर लोग सहज ही गीत की तरह बोलते हों—

अरे मछली आई रे  
वह देखो मछली आई  
बहुत बड़ी मछली है यह  
बहुत बड़ी है इसकी पूंछ  
बहुत छोटी आंखें हैं इसकी  
बहुत चमकती चांदी सी  
चांदनी सी चमचम

वह देखो मछली गई रे  
मछली गई  
पानी में कैसे अंदर अंदर मछली जाती है भाई  
कैसे ऊपर आती है मछली

देखो भाई देखो  
मछली देखो भाई  
मछली की तरह पानी में चलो भाई  
पानी के साथ चलो भाई  
पानी कितना अच्छा है भाई

मछली इस पानी में चलती है  
हम भी इसमें चलते हैं  
हमारे बच्चे भी इसमें खेलते हैं  
पानी कितना ठंडा है भाई  
कितना ठंडा है पानी

मछली को पानी कैसा लगता है भाई  
पानी उसे अच्छा लगता है भाई  
मछली को पानी में रहने दो

वह पानी में चलेगी  
 वह लहराती बलखाती चलेगी  
 हम उसे देखेंगे भाई  
 कितना अच्छा लगेगा भाई  
 देखो मछली आई मछली  
 मछली आई भाई

कोई ऐसा ही गीत होगा जिसे ये लोग गा रहे हैं। उसे गाते हुए लहरा रहे हैं। मैं उन्हें देख रहा हूँ। मैं भी अपने मन में गाने की उसी धुन पर कुछ गा रहा हूँ। मेरा शरीर भी उन जैसा ही लहरदार हो रहा है। मैं भी बल खा रहा हूँ। मेरे हृदय में संगीत की वैसी ही लहरें उठ रही हैं। मैं भी उन जैसा होता जा रहा हूँ। मैं अपनी ही काया में उनके जैसा हो गया हूँ। अपने को छूता हूँ तो खुद को उनके जैसा पाता हूँ। रात के अंधेरे में उनके बीच की जो उजली जगहें हैं, वहां वे मछली की तरह झिलमिला रहे हैं। ऐसा लग रहा है मानो उनके इस समय में मछली से अधिक महत्वपूर्ण कुछ नहीं है और पानी की तरह कोई और चीज नहीं है, जिसके बारे में गाया जाए, बोला जाए। मैं भी पानी की तरह उतना ही पतला हो गया हूँ। उसी तरह छलछला रहा हूँ और लोग मुझे इस भाव में देख रहे हैं। अब पहले जैसी स्थिति नहीं है। अब मैं उनके साथ मिल गया हूँ। उन जैसा ही हो गया हूँ। उनमें से ही कोई एक। अब न तो मेरे बारे में उनमें से किसी के पास कोई जिज्ञासा है, न ही मैं किसी के प्रति जिज्ञासु हूँ।

अब लोग मेरी ओर देख रहे हैं तो ऐसा नहीं लगता कि वे मुझे जानने के लिए देख रहे हैं। बिना किसी कारण वे किसी ओर नहीं देखते। मैं भी किसी ओर इस तरह नहीं देख रहा हूँ जैसे मैं किसी के बारे में जानना चाहता हूँ। जो भी मेरी ओर देख रहा है, वह या तो मुस्करा रहा है या खिलखिला रहा है। मुझे देखकर, मेरी कोई चीज देखकर उन्हें हंसी आ रही है या मजा आ रहा है। वे उस मजे को दूसरों के साथ बांटते खिलखिलाते हुए बात कर रहे हैं।

सभी लड़के लड़कियां एक दूसरे को देख रहे हैं। मैं भी उन्हीं की तरह सबको देख रहा हूँ। सब लोग इधर से उधर जा रहे हैं। गीत बंद हो गया है। कोई नाच नहीं रहा है, पर नाचने का वही भाव चारों ओर फैला हुआ है। वही उमंग, वही लहरें। इसी लहरदार भाव में सब कुछ हो रहा है। बीड़ी पीना, तम्बाकू खाना, सब कुछ। सब लोग बहुत छोटी उमर के हैं। सब किशोर हैं या युवा। ऐसे किशोर और युवा जिनका मन और शरीर बिल्कुल बच्चों सा है। हमारे गांव के बच्चों सा। उनमें कोई लज्जा, संकोच और झिझक नहीं है। कोई बंधन नहीं है। सबकी आंखें बहुत साफ हैं। उजली और हंसती हुई आंखें। तरल आंखें, जिसमें सिर्फ स्नेह है, लगाव है। एक दूसरे के प्रति प्यार है। स्वागत है, सत्कार है।

इस समूह के साथ मैं भी चला जा रहा हूँ। वे कहां जा रहे हैं मुझे नहीं मालूम है। मैं जानने की कोशिश भी नहीं करना चाहता हूँ। बस इनके साथ चला जा रहा हूँ। इनके साथ रहना खुशगवार जीवन के साथ रहना है। खिले हुए मौसम की तरह हम एक साथ और एक ओर चले जा रहे हैं। बसंत के हल्के और खुशगवार मौसम की तरह।

बचपन में मेला जाते समय जो ललक होती है और रात में लौटते समय कदम जितने हल्के होते हैं, मन में जैसा उत्साह होता है, वैसे ही हम एक ओर चले जा रहे हैं। ये रास्ते मेरे परिचित नहीं हैं, पर हर कदम की जमीन, नयी जमीन हमारी राह देख रही है। हमारे चलने से वह खिली हुई है। पैरों के नीचे मिट्टी के ढेले आते हैं। ऊंची नीची पथरीली जमीन है। छोटे

मोटे पत्थर और चट्टानें हैं। हमारे पांव इन पर वैसे ही पड़ रहे हैं, जैसे हमारे पांव इस रास्ते के अभ्यस्त हों। एक भी ठोकर नहीं लग रही है। किसी के भी पांव ऊंची नीची जमीन के कारण इधर उधर नहीं पड़े रहे हैं। न ही वे ठिठक रहे हैं, न उनके पांव लड़खड़ा रहे हैं। जबकि रात है। खत्म होती चांदनी की हल्की उजास है। पैरों के नीचे पत्तियां दब रही हैं। चरर चरर की आवाजें आ रही हैं। जहांतहां की घास पैरों से दब रही हैं। पेड़ों से पत्तियां झरती हुई नीचे गिर रही हैं। उनके टूटने और गिरते समय पत्तियां, पत्तियों से टकरा रही हैं। पत्तियों के आपस में टकराने से अनोखी सांगीतिक ध्वनि पैदा हो रही है। हम हवा की तरह चले जा रहे हैं। एक लड़की मेरे पास आती है। मुझे छूते हुए दूर जाती है। दूर जाकर ठिठकती है। अपनी एक सहेली को हल्के से पकड़ती है और मेरी ओर देखते हुए धीरे धीरे चलती है।

कौन है यह लड़की? इस लड़की का क्या नाम है? कहां देखा है इसे? सपने में तो नहीं? यह तो बिल्कुल पहचानी हुई सी लग रही है। इसकी आंखें, अरे... इसकी आंखें तो उस लड़की के समान हैं। धूल में खेलने वाली लड़की की तरह। पर यह इतनी बड़ी कैसे हो गई। इसकी आंखें इतनी चंचल और मांसल कैसे हो गई। यह वही लड़की है या दूसरी है? यह मेरे पास क्यों नहीं आ रही है? मुझसे बोलेगी नहीं क्या? क्या मैं इसके करीब जाऊं? इससे पूछूं कि कौन हो तुम? क्या तुम धूल में खेलने वाली लड़की हो? तुम इतनी बड़ी कब हो गई? अभी तुम कुछ दिन पहले तक तो बहुत छोटी थी और तुमने तो बनियान भी नहीं पहनी थी। तुमने साड़ी पहनना कब से शुरू किया? और यह तो तुमने बिल्कुल अलग ढंग से साड़ी पहनी है। जिस साड़ी को तुमने पहना है, उसी ये बाकी हिस्से के अपने बदन को भी थोड़ा सा ढंक लिया है। इस तरह तुम्हें कपड़े पहनना किसने सिखाया?

मैं जल्दी जल्दी उसकी ओर बढ़ता हूं। वह मेरा आना न देखते हुए भी जान गई है कि मैं उसके पास आ रहा हूं। उसका शरीर थोड़ी देर के लिए कांपता सा है। फिर वह बिल्कुल सामान्य हो जाती है। वह अपने पास मेरा आना स्वीकार कर रही है। इस स्वीकार के कारण उसकी चाल में आये फर्क को उसकी सहेली ने भी पहचान लिया है। सहेली उसके साथ ऐसे चलने लगी मानो वह उसकी धड़कन हो। जैसे उसे बहुत पहले से मालूम हो कि मैं ठीक इस समय, इस जगह पर इनके पास आऊंगा, तब वह भी साथ होगी। वह अपनी सहेली के साथ चलते हुए मेरे आने का इंतजार कर रही है।

मैं साथ के लड़के और लड़कियों को जगह देता हुआ उनके पास जा रहा हूं। जो लोग पीछे रहना चाहते हैं, वे मुझे आगे निकलने के लिए जगह दे रहे हैं। सब जान रहे हैं कि मैं उन दो लड़कियों के पास जा रहा हूं। यह जानकर सब खिलखिला रहे हैं। या हो सकता है कि ये हमेशा ही इतने प्रसन्न रहते हों। मैं लोगों को बारी बारी से, ध्यान से देखता हूं। सब एक जैसे हैं। लड़के धोती को लंगोट की तरह पहने, पगड़ी लगाये और उघाड़े बदन हैं। लड़कियां सिर्फ एक साड़ी घुटनों घुटनों तक पहनी हुई हैं। ये लड़के इन्हीं कपड़ों में अच्छे लग रहे हैं। पर धूल में खेलने वाली लड़की इनके साथ कब आ गई? क्या वह यहां पहले से ही थी, या मैं इन लोगों के बीच उसे ठीक से देख नहीं पाया था। वह लड़कों की बनियान पहने हुए पहले कितनी अटपटी लगती थी। जब वह छोटी थी और मेरे साथ पढ़ने जाती थी। पर वह बड़ी कब हो गई? क्या इसी रात के सपने में?

क्या मुझे यहां आये हुए बहुत बरस हो चुके हैं? क्या सपने के बाहर के सभी लोग भी बड़े हो गये होंगे? तब तो उन सबके चेहरे भी बदल गये होंगे। उनकी आंखें पहले जैसी होंगी या नहीं? क्योंकि चेहरे तो सबके बदल गये होंगे। सबके शरीर भी पहले जैसे नहीं होंगे। उन्हें

देखकर तो शायद उनकी मुस्कान से ही पहचान पाऊंगा। लेकिन क्या मैं भी बड़ा हो गया हूँ? मैंने अपने को तो बहुत दिनों से देखा नहीं है। इस जंगल में इतना कभी वक्त ही नहीं मिला कि सपने में मैं अपना चेहरा देखूँ। अपना शरीर देखूँ। मुझे ऐसा क्यों नहीं लग रहा है कि मैं भी बड़ा हो गया हूँ? क्या मेरा मन पहले ही जैसा है? बच्चों जैसा? लेकिन इनके साथ चलते हुए मैं तो छोटा नहीं लग रहा हूँ। ऐसा लग रहा है मैं भी इन्हीं के बराबर का हूँ।

लड़की जो पहले थम थम कर चल रही थी वह अचानक रुक गई। उसकी साड़ी का एक छोर रास्ते की झरबेरी में फंस गया था। वह कपड़े को सुलझाने के लिए कुछ इस ढंग से ठिठकी और झुकी कि रास्ता बंद हो गया और इस कारण मैं भी रुक गया। चूंकि मैं ठीक उसके पीछे था और उसके पास पहुंचने ही वाला था कि उसके ठिठकने और साड़ी के छोर सुलझाने के लिए रुकने के कारण मुझे भी रुकना पड़ा। वह इस अंदाज से अपने को झुकाए हुए साड़ी सुलझा रही थी कि मेरे लिए आगे बढ़ने का रास्ता बंद हो गया था। मेरे रुकने पर उसकी सहेली हल्के हल्के मुस्कुरा रही थी। उसने मेरे ठीक से खड़े होने के लिए खिसककर रुके रहने लायक जगह बनायी। मैं अपने लिए अभी अभी बनायी उस जगह पर आ गया। मन ही मन सोचा कितनी सुखद है यह जगह। मैं उन्हें देखकर मिलने की तरह मुस्कराना चाहता था। उनसे उनका नाम पूछना चाहता था। पर कुछ बोल ही नहीं पाया। मैंने झुककर झरबेरी की एक पतली टहनी पकड़ी और उस लड़की के हाथों के लिए इतनी जगह बनाई कि वह अपने उलझे हुए कपड़ों को बिना खोंस लगे छुड़ा सके। वह अपने कपड़ों को कांटों से अलग कर रही थी। उसके हाथ कांप से रहे थे। उसकी साड़ी खिसक गई थी। उसकी कमर और पीठ के ऊपर साड़ी का कोई हिस्सा नहीं था। उसकी पीठ पर चांदनी चमक रही थी। एक चमकदार लकीर उसकी पीठ पर हिल रही थी। लकीर की चमक उसकी त्वचा की नरमी के कारण अधिक उजली और साफ थी। झरबेरी से फंसी साड़ी निकालते हुए उसका शरीर जैसे जैसे हिलता था, उसके साथ साथ वह लकीर भी हिलती थी। उसे एकदम इतने नजदीक पाकर, उसकी पीठ पर चमकदार लकीर को इतना करीब से देखते हुए, मैं बहुत डूबा डूबा हुआ सा महसूस कर रहा था।

मैं झरबेरी की टहनी को पकड़े हुए न मालूम कब से, शायद अनंत काल से झुका हुआ था। वह समय मुश्किल से चंद्रमिनटों का ही होगा लेकिन ऐसा लग रहा था कि बरसों से वह लड़की अपनी फंसी हुई साड़ी को छुड़ा रही हो और मैं झुका हुआ उसकी कांपती सी उंगलियों को देख रहा हूँ। उस लड़की के पास से उसकी खुद की सुगंध आ रही थी जो अब तक की सभी सुगंधों से अलग थी। मैं उस सुगंध को ठीक से सूंघ लेना चाहता था ताकि फिर कभी इस सुगंध को भूल न सकूँ। यह सुगंध शायद सिर्फ मेरी ही अनुभूति के लिए थी। सिर्फ मैं ही इसे महसूस कर सकता था। उसकी कनपटियों पर पसीने की हल्की नमी थी। मैंने उसकी ओर देखा। उसकी आंखों की ओर। जिस समय उसकी आंखों की ओर मैंने इस तरह देखा जैसे मैं उससे कुछ कहना चाहता हूँ, ठीक उसी समय उसने अपनी निगाहें मेरी ओर उठायीं जैसे वह कह रही हो कि—

हां, कहो।

मैंने उससे उसका नाम पूछा—

क्या नाम है तुम्हारा?

वह कुछ कहती ठीक उसी समय झरबेरी के आखिरी कांटे से उसकी साड़ी छूट गई। वह खड़ी हो गई। उसके साथ साथ मैं भी खड़ा हुआ। अपने प्रश्न का जवाब पाने की मुद्रा में उसे देखता रहा। उसने कमर के ऊपर अपने शरीर को साड़ी से ठीक से लपेटा। फिर अपने कंधे,

माथे, वक्ष और अपने बाजू के पसीने को साड़ी के छोर से पोंछा और खिलखिला पड़ी। उसकी सहेली ने कहा चलो। हम साथ साथ चलने लगे। मैंने आग्रह करते हुए, बहुत दुखी और रुआंसे होते हुए कहा कि तुम अपना नाम तो बताओ। तुम अपना नाम क्यों नहीं बता रही हो। पर उसने कुछ नहीं कहा। वे आपस में बात करती हुई खिलखिलाती रहीं। उनके साथ साथ मैं बराबर नहीं चल पा रहा था। थोड़ी देर में ऐसा हुआ जैसे उनके पीछे पीछे भाग रहा हूँ। जबकि वे तो बहुत आराम से चल रही थीं। उन्होंने जब यह देखा कि मैं उनके साथ नहीं चल पा रहा हूँ तो वे ठहर गईं। कहा—

चलो

मैं धीरे धीरे चलती हूँ

पर तुम थोड़ा तेज चलो और साथ चलो

अब बहुत दूर नहीं जाना है

वह सामने ही घर है

देखो सभी लोग पहुंच गये हैं

सब सोने भी लगे होंगे

हमें कहीं देर न हो जाए।

मैंने देखा कि वास्तव में हम सिर्फ तीन ही यहां हैं।

उसके बोलने के बाद मुझमें थोड़ी स्फूर्ति आई। मैंने कहा तुम अपना नाम क्यों नहीं बता रही हो? क्या तुम नहीं जानती हो कि मैं तुम्हारे बिना कितना परेशान हूँ! तुम्हें न जाने कब से खोज रहा हूँ।

हां, हां मैं जानती हूँ, पर चलो तो सही उसने मेरा हाथ पकड़ लिया और मेरे साथ चलने लगी।

उसने जब हाथ पकड़ा तब पहली बार मेरा ध्यान उसकी ओर गया। मैंने देखा कि जब यह अपनी उंगलियों से कांटों में फंसे कपड़े छुड़ा रही थी तब इसके हाथ ऐसे नहीं थे। बच्चों जैसे ही छोटे छोटे और चपल हाथ थे। पर अब इसके हाथ तो बहुत मजबूत लग रहे हैं। बेहद कामकाजी और परिश्रमी आदमी जैसे हाथ। इन हाथों में आने के बाद तो मैं किसी बच्चे की तरह खिंचा जा रहा हूँ और यह तो बड़ी उम्र की भी लड़की लग रही है। धूल में खेलने वाली लड़की तो बहुत छोटी थी। वह तो इतनी छोटी थी कि ऐसी रात में चलने पर वह रोने लगती। तो क्या सपने में वह इतनी बड़ी हो गई है?

मेरे ऐसा सोचते ही वह लगभग रुआंसी सी हो गई। उसके मजबूत हाथों में थोड़ी नरमी आ गई। शायद हाथों में पसीने आ गये होंगे। उसी की नरमी होगी। पर इस नरमी के बाद भी हाथ पहले ही जैसे मजबूत हैं। पकड़ में गजब की ताजगी है और अपनापन। मैं थोड़ा रूठ सा गया था। मैंने कहा मुझे जाने दो, छोड़ दो मुझे, तुम जाओ, तुम अपना नाम भी तो बता नहीं रही। फिर क्यों अपने साथ मुझे लिये जा रही हो?

उसने मेरी बातों पर जैसे कोई ध्यान नहीं दिया। उसने मेरे हाथ को छोड़ने का उपक्रम भी नहीं किया। कहा छोड़ दूंगी तो तुम कहां जाओगे, कहीं भटक जाओगे तुम। तुम रात में ठहरोगे कहां? चलो रात हम लोग एक साथ ही रहेंगे। तुम जितना जान सकते हो जान जाओगे, पर मेरे नाम बताने से क्या है, तुम्हें तो नींद आ रही है। तुम थके हुए हो। सोना चाहते हो तुम। तुम अकेले इस जंगल में कहां सोओगे। तुम मुझे शायद पहचान रहे हो। हो सकता है मेरा तुमसे कोई सम्बंध हो या न हो, पर अभी तुम्हारे साथ तो मैं ही हूँ न। आज तो तुम मेरे ही साथ रहोगे। चलो।

मैं इंकार नहीं कर सका। मुझसे फिर कुछ पूछते भी नहीं बना। बस इतना कह पाया कि मुझे अकेला मत छोड़ देना। मैं यहां जंगल में किसी को जानता नहीं हूं। मुझे ठीक से सोने की जगह दे देना और सुनो तुम फिर मुझसे दूर तो नहीं चली जाओगी न। इस बात पर उसने मुस्करा दिया, बल्कि खिलखिलाने लगी। अपने हाथों को झकझोरते हुए और हिलाते हुए कहा, अच्छा चलो।

उसकी सहेली अब नहीं दिख रही थी। मैं बिल्कुल चुप था। वह भी कुछ नहीं कह रही थी। रात थी, चारों ओर पेड़ थे। हल्का धुंधलका था। सिर्फ तारों की चमक थी। हवा चलने और पत्तियों के रगड़ खाने की आवाजें आ रही थीं। हमारे चलते हुए कदमों के कारण बहुत धीमी और बारीक धुन सुनायी दे रही थी। हमारी धड़कनें हमें साफ सुनायी दे रही थीं। हम चुपचाप चले जा रहे थे। मुझे रास्ता बहुत लम्बा लग रहा था लेकिन वह घर बहुत नजदीक, जहां हमें जाना था। वातावरण में ऐसी नीरवता थी जैसे धुंधलके में दूर जो घर दिख रहा है, पूरी सृष्टि में अकेला वही घर है। पूरी सृष्टि में सिर्फ एक रास्ता है जिस पर चलने वाले हम सिर्फ दो लोग हैं। हमें सिर्फ चलते जाना है। उस घर तक पहुंचना है।

घर एक लम्बे खोह की तरह था। इसकी दीवालें बहुत दूर दूर थीं। हम जिस ओर भी बढ़ते थे, उस ओर काफी जगह थी। घर के भीतर अंधेरा था। अंधेरे में लोग लेते हुए थे। सभी लड़के लड़कियां अलग अलग समूह में फैले थे। चारों ओर लोग लेते हुए थे फिर भी इस घर में जगह बहुत थी। यहां सभी युवा थे। कुछ बच्चे भी थे। अंधेरे में भी लोगों के चेहरे हल्के हल्के दिखायी दे रहे थे। उनकी आंखें अधिक साफ दिख रही थीं। कई कोंनों पर कुछ बच्चे और युवा या लड़के लड़कियां सोने के पहले सी बातें कर रहे थे और खिलखिला रहे थे। कभी कभी कोई किसी की चादर खींचता था। कोई किसी को लेते हुए धकियाकर अपने लिए सोने की जगह बना रहा था। कोई किसी की चादर में अपना शरीर छिपाते हुए उसके साथ सोने की कोशिश कर रहा था। सभी लोग नींद में भी एक दूसरे के लिए जगह बना रहे थे। कुछ लड़के, किसी को जगा रहे थे। कोई लड़की कुनमुना रही थी। दीवाल के दोनों कोंनों से गीत की आवाजें आ रही थीं। एक तरफ से कुछ लड़के गा रहे थे, दूसरी ओर से उर्नीदा लड़कियों का एक समूह गीत में ही जवाब दे रहा था।

इनके बीच से वह लड़की मुझे लेती चली जा रही थी। वह एक खाली जगह पर ठहर गई। यहीं पर रास्ते में इसके साथ चलने वाली सहेली पहले से लेटी हुई हमारे आने का इंतजार कर रही थी। एक छोटा कम्बल बिछा हुआ था। हम उसी कम्बल पर बैठ गये। थोड़ी देर में मैं लेट गया। मुझे नींद आ रही थी। कुछ देर बाद शायद उसकी सहेली ने कोई मटमैली सी मोटी चादर मुझे ओढ़ा दी थी। उस चादर की गर्मी में मैं सोने लगा था। गाने की आवाजों, फुसफुसाहटों और अचानक कहीं से आती खिलखिलाहटों के बीच मैं न जाने कब सो गया।

सुबह उठा तो मैं पहले की तरह ही छोटा था। बचपन से थोड़ा आगे का समय था। रात में देखे सपने की एक एक बात हू ब हू याद आ रही थी। सोकर उठने पर लग रहा था मैं पूरी रात सपने में आये उन्हीं लोगों के साथ सचमुच में रहा हूं। उनका गीत सुनता हुआ, उनके साथ चलता हुआ और उनके बीच सोया हुआ। बहुत गहरी नींद में सोने के सुख का अहसास अब भी मुझे पूरे शरीर में महसूस हो रहा था। पूरा शरीर हल्का लग रहा था। पर एक अजीब सी अनुभूति थी। सुबह के वक्त मैं खोया खोया रहा। बार बार सपने की याद आती रही। उस लड़की की भी जो सपने में मिली थी। उस जंगल की भी जिसके बीच वर्षों तक चलता रहा। जिसने बरसों बरस तक मेरे अकेलेपन में मेरा साथ निभाया। बरगद के नीचे का वह समय भी

जहां मैं आश्वस्त था। उस झरबेरी की जिससे उस लड़की की साड़ी फंस गई थी। उसके शरीर से आती सुगंध अभी भी मेरे नथुनों में समाई थी। उसकी पीठ पर चांदनी की चमकदार लकीर बहुत साफ दिखायी दे रही थी। उसकी कनपटियों पर पसीना साफ दिखायी दे रहा था। उसके हाथों की मजबूत पकड़ की गरमाहट अभी तक मेरे हाथों में समाई थी। उसकी मजबूती रह रहकर मुझे उसकी याद दिला रही थी। मैं सपने की उस जगह पर जाने के लिए बेचैन था। मैं उस जगह को सचमुच देखना चाहता था। उन लोगों से और उस लड़की से भी मिलना चाहता था।

(2)

मैं धीरे धीरे बड़ा हो रहा था। प्राइमरी स्कूल की मेरी पढ़ाई पूरी हो गई थी। मैं एक दूसरे शहर में पढ़ने चला गया। यहां मेरे पिताजी शासकीय नौकरी में थे। अब मेरे जीवन में कई चीजें नये ढंग से शामिल हो रही थीं। यह जगह एक आदिवासी बहुल पिछड़ा जिला था। मुझे बार बार वैसे ही लोग यहां दिखायी देते थे। मेरे सपने जैसे लोग। मैं इनके साथ कभी भी, कहीं भी चला जाता था। जंगलों के भीतर, पहाड़ों के ऊपर सभी जगह। स्कूल से समय मिलते ही मैं इनके साथ भाग जाता था। इनके साथ घूमता और भटकता हुआ अपने सपने को खोजता था।

मैं जहां भी जाता था, बेचैनी मेरे साथ जाती थी। जब भी कोई पेड़ देखता, जब भी कोई जगह सूनी, उदास, अंधेरे और अधउजाले में डूबी दिखायी देती, कोई पहाड़ धुंधला दिखायी देता तो मेरी बेचैनी और बढ़ जाती थी। मैं छोटी छोटी जगहों को भी गौर से देखता हुआ आगे बढ़ता। हर तरफ सपने वाली जगह को ढूंढता फिरता। मेरे मन में हमेशा उस जगह के मिलने की उम्मीद बनी रहती। पर कभी वह जगह नहीं मिलती थी। मैं लगातार बड़ा होता जा रहा था। जगह जगह और दूर दूर तक अपने बड़े होने के साथ साथ अकेला जाता रहता था। हमेशा बसों ट्रेनों में, रात के धुंधलके में, रास्ते के निचट एकांत में मैं सपने में मिले लोगों की तलाश करता घूम रहा था। वे लोग मुझे मिल नहीं रहे थे। जिसे धूल में खेलने वाली लड़की की तरह मैं अपने सपने में पहचान पाया था, वह लड़की भी मुझे कहीं नहीं दिखायी दी थी। वह लड़की सपने में ही बड़ी हो गई थी। पता नहीं सपने में जो लड़की बड़ी हो गई थी, वह बचपन वाली लड़की थी या नहीं। पर मैं मानने लगा था कि वे दोनों लड़कियां एक ही हैं। शायद धूल में खेलने वाली छोटी लड़की ही जंगल के सपने में बड़ी हो गई है और सपने में आने के बाद वह मिल नहीं रही है।

धीरे धीरे दिन आगे खिसकते गये। अब मैं बड़ा हो गया था। मेरी पढ़ाई खत्म हो चुकी थी। बेरोजगारी के मेरे कुछ वर्ष भी बीत चुके थे। एक छोटी सी नौकरी मिल गई थी। इसमें घूमते रहने का मौका था। घूमते रहने के कारण मुझे अपनी छोटी नौकरी से कोई शिकायत नहीं थी। हमेशा गांवों देहातों में मेरा जाना पहले से अधिक हो गया था। इस कारण मैं खुश था।

एक दिन मैं बस में बैठा सफर कर रहा था। अंधेरी रात थी। एक ऐसी जगह के लिए चला जा रहा था, जहां के बारे में सिर्फ सुना ही सुना था। वहां के लोगों के बारे में कोई जानकारी नहीं थी। उस क्षेत्र के भूगोल की छोटी मोटी जानकारी भी मुझे नहीं थी। वह घने जंगल में बसा हजारों किलोमीटर लम्बा चौड़ा एक भूभाग था। जिसके अधिकांश हिस्सों के बारे में लोगों को बेहद कम जानकारियां थी। बस में बैठकर वहां जाते समय मन बहुत उद्वेलित था।



सुबह के चार बजे जिस बस स्टैंड पर मैं उतरा, वैसा बस स्टैंड पहले कभी नहीं देखा था। लकड़ी और फूस का एक टूटा हुआ कमरा टिकटघर था। कमरे के सामने लकड़ी फूस से ही मंडप जैसी बनी हुई जगह थी। कमरे से अच्छी जगह, कमरे के सामने थी। थोड़ी दूरी पर लकड़ी से ही बनी हुई पान की एक दूकान थी। लकड़ी की ही एक और छोटी दूकान थी, जहां बहुत मोटी मोटी लकड़ियां जल रही थीं। दरअसल जिसे मैं लकड़ी कह रहा हूँ वह लकड़ी नहीं थीं, बल्कि तीन चार पूरे पेड़ जैसे लट्ठे थे। लट्ठे जल रहे थे। उसके पास घेरे में तीन चार लोग बैठे थे। वे सिर्फ लंगोट पहने थे। शीशम की तरह लम्बा और मजबूत उनके जिस्म थे। सिर पर पगड़ी थी। एक की पगड़ी में किसी चिड़िया का एक पंख था। वे ऐसे बैठे थे जैसे मुद्दत से वहां बैठे हों। मैं रुक गया। धीरे धीरे उनके पास आकर बैठ गया। आग की गर्मी पाकर कड़ाके की ठंड से मुझे राहत मिली। आग और आदमी देखकर मेरी आशंकाएं कुछ कम हुईं। पास बैठे लोगों को आग तापते हुए देखकर पहले से थोड़ा और सामान्य हुआ। ये मेरे ही जैसे लोग हैं। बिलकुल मेरे ही जैसे। ये भी लकड़ियां जलाते हैं और आग तापते हैं।

इतने में एक लड़का न जाने कहां से आया। उसने टूटी फूटी हिंदी में पूछा चाय पिओगे साहब मैंने हां कहा। उसने चाय बनाई। मैं पीने लगा। चाय की गरम गरम भाप मेरे चेहरे से टकरा रही थी। मेरे चेहरे की त्वचा को नमी मिल रही थी। मेरा चेहरा सामान्य हो रहा था।

शरीर में थोड़ी गर्मी आई तो मैं उठा। बस में बैठे बैठे पूरा शरीर अकड़ गया था। उठकर अपने चारों ओर देखा तो सिर्फ पेड़ दिखायी दे रहे थे। मानो किसी जंगल के बीच में यह छोटी सी चौकोर जगह ही बस स्टैंड है। मुझे इसी चौकोर घेरे में सुबह होने तक रहना है। मैं यहां किसी को जानता नहीं हूँ। ठहरने के लिए होटल या धर्मशाला भी नहीं है। सम्भव है ऐसी विकट जगह पर रेस्ट हाउस हो। पर रेस्ट हाउस तक पहुंचूंगा कैसे? न जाने किधर हो रेस्ट हाउस। वहां तक कोई पहुंचाने वाला भी नहीं है। आग के घेरे के पास बैठे इन चार लोगों के सिवाय कोई नहीं है। जैसे इस जगह पर सिर्फ ये ही चार लोग रहते हों और कोई नहीं।

शरीर को ढीला छोड़कर लेटने की इच्छा हो रही थी। सोचा टिकटघर के मंडपनुमा बरामदे में देखूँ वहां शायद लेटने लायक कोई जगह हो। वहां पहुंचा तो अंधेरे में कुछ लोग लेते थे। वे नींद में नहीं थे। जगे हुए चुपचाप लेते थे। किसी का भी शरीर साफ साफ दिखायी नहीं दे रहा था। वहां लेते हुए लोग कैसे हैं, उनका चेहरा मोहरा कैसा है, इसका भी पता नहीं चल रहा था। वहां सीमेंट की एक टूटी फूटी बेंच थी। उसके नीचे एक कुत्ता अपने अगले पैरों के बीच, अपना सिर दबाये हुए बैठा था। उसने आहट सुनकर अपनी एक आंख की पलकें धीरे से उठाई। उसने मुझे देखा। फिर अपनी उसी आंख को ठीक से खोला। मुझे ठीक से पूरा देखा। थोड़ा हड़बड़ाया और कंपकंपाकर अपने कानों को फटकारते हुए फिर से अपनी पलकें बंद कर लीं।

मैंने टूटी हुई बेंच के सिरे पर अपना सामान रखा। अभी तक जो कम्बल ओढ़े हुए था, उसी को ओढ़े हुए, सामान पर सिर टिकाकर लेट गया। थोड़ी देर बाद अपनी टांगें मोड़ लीं, जूते समेत अपने पांव कम्बल के अंदर रखकर करवट बदली और लेट गया। सामने के पेड़ से किसी चिड़िया की आवाज आई। फिर किसी दूर के दूसरे पेड़ से आवाज आई। थोड़ी थोड़ी देर में दोनों ओर से चिड़ियों की आवाजें आती रहीं। फिर एक पेड़ से ढेरों चिड़ियों के पंखों को खोलने और समेटने की आवाजों के साथ पत्तियों के हिलने की आवाजें आने लगीं। सुबह होने वाली होगी। घड़ी देखी तो अंधेरे में कुछ नहीं दिखा। शायद पांच बज गये होंगे। इतने में एक पेड़ से ढेरों चिड़ियां आवाज करती हुई उड़ीं। बेंच के नीचे से कुत्ता निकलकर खड़ा हुआ। उसने अपने दोनों पैरों को आगे कर पृथ्वी को दंडवत करने की मुद्रा में अपने शरीर को ताना और

उठते समय मेरी ओर देखा। फिर खड़े होकर अपने बालों को जोर से झटकारा और मेरी ओर बिना देखे लुढ़की चाल से टिकट खिड़की के बाहर निकल गया।

आसमान की ओर हल्का उजाला हो रहा था। थोड़ी देर में पूरा आसमान साफ होने वाला था। यह पूरी जगह उजाले में आने वाली थी। आसपास का सब कुछ जो अब तक अबूझ और अनजाना था, वह दिखायी देने लगा था। मुझे चुपचाप लेटे हुए ठंड लगने लगी थी। मैं बहुत देर से उठने के लिए सोच रहा था और आग तापते लोगों के पास जाकर बैठना चाहता था।

बेंच के नीचे मेरे आसपास लेटे लोग जो अंधेरे में दिखायी नहीं दे रहे थे, अब वे सफेद मटमैली गठरी की तरह एक दूसरे से सटे हुए दिखायी दे रहे थे। उनके बीच में से एक प्रौढ़ आदमी उठ बैठा और कान में खुंसी हुई हरे पत्तों की काफी बड़ी और मोटी बीड़ी निकालकर मुंह में दबाये इधर उधर देखते हुए शायद माचिस तलाश रहा था। वह मेरी उपस्थिति से बिल्कुल बेफिक्र था। उसके बड़े बड़े बाल उसकी पगड़ी के नीचे से झांक रहे थे। पगड़ी खिसक जाने के कारण कुछ बाल बाहर निकल आये थे। उन बालों के पीछे उसका चेहरा बहुत ही अनजाना था। ऐसे शक्तो सूरत के आदमी को अभी तक फिल्मों में भी नहीं देखा था। उसके माचिस खोजने के कारण लोग धीरे धीरे उठ रहे थे और उठते हुए आपस में न जाने किस भाषा बोली में बात कर रहे थे। वह मेरी समझ से बिल्कुल बाहर था।

उस आदमी को अंततः माचिस मिल गई थी। उसने हरे पत्ते वाली बड़ी बीड़ी जो ऊपर से चौड़ी और नीचे से पतले भाग की ओर से मुड़ी थी सुलगायी। यह बीड़ी लगभग सिगार जैसी आकृति की थी। उसने बीड़ी सुलगाकर ढेर सारा धुआं बाहर फेंका। तीन चार बार ऐसा करने के बाद वह धीरे धीरे कश लेने लगा। उस बूढ़े आदमी का पूरा परिवार धीरे धीरे उठ रहा था। एक के बाद एक। कोई एक उठता, बैठे बैठे पूरी सांस अंदर लेता, अपने शरीर को खींचकर, हाथों को सीधे ऊपर तानकर या कोहनियां मोड़कर, गरदन की ओर हाथ किये हुए शरीर चटकाता। इसके बाद वह सोते समय के अपने अस्त व्यस्त कपड़ों को ठीक करता। युवक अपनी पगड़ियां ठीक कर रहे थे। महिलाएं और युवतियां अपनी कमर में लिपटी या बिस्तर से उलझी हुई साड़ी को उठाकर अपने कंधों पर डाल रही थीं। साड़ी का एक सिरा पीठ की ओर से घुमाकर सामने की ओर लातीं और अपनी कमर में खोंस लेतीं। इसके बाद वे अपने जूड़े को ठीक करने लगतीं और अचानक उठकर बाहर चल देतीं। पुरुष बैठे बैठे बीड़ी सुलगाने और पीने लगते। बूढ़ा लगातार बीड़ी पीता रहा।

थोड़ा थोड़ा उजाला हो गया था। आसपास की चीजें सब स्पष्ट हो गई थीं। अब दूर दूर तक देखना सम्भव था। रास्तों पर इक्केदुक्के लोगों का चलना शुरू हो गया था। कभी कभी कोई स्टैंड की ओर भी आता दिखायी दे जाता था। कुत्ते ढेर सारे दिखने लगे थे। वे पूरे स्टैंड को सूंघते हुए चक्कर लगाते, बंद दूकानों की चौखटों, चूल्हों, बेंचों को कहीं कहीं से चाटते और आदमियों के झुंड के पास थोड़ी देर के लिए आते और फिर चले जाते।

मैं रात वाली चाय की दूकान पर गया। सामान उसी के पास रखा। उसने मेरे सामान को अंदर इस ढंग से रखा जैसे बाहर से आने वालों के लिए होटल, लाज, धर्मशाला सब यही हो। सभी लोग अपने सामान इन्हीं लोगों के पास छोड़ जाते हैं और दिन भर अपने अपने काम को करते हुए लौट आते हैं। शाम होती है तो अपने सामान को इनके पास से ले जाते हैं। इन्हें जहां जाना होता है, वहां के लिए या उस दिशा के लिए यदि किसी प्रकार का वाहन मिल जाता है चले जाते हैं; नहीं तो रात में फिर से वे इन्हीं दुकानों की खाली बेंचों या टिकटघर में फिर से सो जाते हैं।

मुझे जहां जाना था, वहां के लिए कोई गाड़ी नहीं थी। वह सौ डेढ़ सौ किलोमीटर दूर एक जगह थी। यहां के रहने वाले अधिकांश लोगों ने उस जगह का सिर्फ नाम सुना था। ये वहां कभी नहीं गये थे। यहां के अधिसंख्य लोग अपने पूरे जीवन में दस बीस मील की परिधि में ही अपना काम कर लेते हैं। अमूमन ये लोग उन गांवों या जंगलों तक ही जाते हैं, जिन गांवों में इनके रिश्तेदार होते हैं। जहां बाजार लगता है या जिधर शिकार खेलने जाते हैं। इनके अलावा बाकी जगहों के बारे में उनके पास सिर्फ सुनी सुनायी जानकारियां होती हैं। लेकिन सौ डेढ़ सौ किलोमीटर दूर की जगह और लोगों के बारे में इन्हें मात्र किंवदंतियों की तरह जानकारियां थीं। जैसे वह तो बिल्कुल जंगल है। दस दस मील दूर तक कहीं कोई गांव नहीं है। एक गांव के बाद दूसरा गांव कहां होगा, किधर होगा, कोई जान नहीं पाता है। वहां के लोग तो बिल्कुल जंगली हैं। वे लोग कभी कभी इधर आते हैं। वे लोग एक साथ झुंड में चलते हैं और झुंड की तरह पास पास ही पहरो तक चुपचाप बैठे रहते हैं। उधर खाने के लिए कुछ नहीं मिलेगा। वे लोग तो जंगल के लोग हैं। उधर जाते समय रास्ते के बीच में कहीं रुकना नहीं चाहिए। बीच में यदि प्यास भी लगे तो किसी गांव का पानी पीना नहीं चाहिए। वे पानी में फलों का जहर डाल देते हैं। लोग उस पानी को पीने के बाद थोड़ी दूर तक जाते जाते बेहोश हो जाते हैं। फिर उन्हें ये लोग लूट लेते हैं।

मैं दिन भर उस जगह और उन लोगों के बारे में यही सुनता रहा और वहां जाने के लिए किसी साधन की तलाश करता रहा। अंततः दोपहर बाद एक जीप मिल गई। ड्राइवर जाने आने के लिए तैयार हो गया। उसे जीप के किराये से अधिक उस सुनी सुनायी जगह तक जाने और उसे देखने की इच्छा थी। वह कभी वहां नहीं गया था। जबकि वर्षों से वह युवक भाड़े की जीप का ड्राइवर था। उसे निकलते निकलते शाम हो गई। वह साहसी था। हम उसके साहस और जीप से प्राप्त सुरक्षा के भरोसे वहां के लिए शाम को चल पड़े।

सड़क के दोनों ओर घने जंगलों के बीच से हम गुजर रहे थे। जहां पेड़ कुछ कम थे या सड़क ऊंचाई पर थी, वहां से डूबता हुआ लाल सूरज दिखायी दे जाता था। उसकी लाल मद्दम किरणें पेड़ों की शाखाओं और पत्तियों के बीच से गुजरती हुई कभी कभी हम तक आ जाती थीं। दो तीन किलोमीटर बाद खेत का कोई टुकड़ा दिखायी देता था लेकिन घर दिखायी नहीं देते थे। सड़क से अंदर जंगल में जाती हुई कभी कभी पगडंडी दिखायी देती थी। पगडंडी सड़क से नीचे जाकर तीन चार कदम बाद ही जंगल में गुम हो जाती थी।

वातावरण में हल्की ठंडक फैली हुई थी। सनसनाती हुई हवा जीप के कपड़ों से टकरा रही थी और लगातार कपड़ों की फड़फड़ाती आवाजें आ रही थीं। सड़क के बीचोंबीच कोई चिड़िया बैठी दिखायी देती थी जो ठीक उस समय अचानक उड़ जाती थी, जब हमें लगता था कि अब वह जीप से टकराने वाली है। सड़क के किसी मोड़ पर, पेड़ के मोटे तने पर बैठी किसी चिड़िया की तेज आवाज चलती जीप के ऊपर सुनाई पड़ती थी। सड़क के मोड़ के बाद बनी पुलिया को हमने जब पार किया तो ऐसा लगा जैसे हम ठंडी हवा की नदी से गुजर रहे हों। फिर तुरंत थोड़ी देर बाद ही ठंडी हवा खत्म होती थी और सड़क के अगले हिस्से पर गर्म हवा का अहसास होता था।

दूर सड़क के एक ओर खाली जमीन दिखायी दे रही थी। यहां पेड़ कम थे। चारों ओर खेत थे। छोटे छोटे घर दिखायी दे रहे थे। ये घर बाजार में विकने वाले अत्यधिक प्राचीन और सस्ते चित्रों की तरह या बच्चों की किताबों के रेखांकनों की तरह दिखायी दे रहे थे। यहां की ऊंची नीची जमीन पर कहीं भी एक छोटी सी झोपड़ी बनी हुई थी, जो इस जंगल में घर का आभास दे रही थी। आसपास पशु पक्षी थे, एक झरना था। थोड़ी दूर पर बहुत पतली छोटी नदी

बह रही थी। जिसके बारे में पता ही नहीं चल रहा था कि इसका उद्गम कहां होगा और कहां अंत। ऐसा लग रहा था जैसे जरूरत के मुताबिक यहां जलस्रोत हैं जो बह रहा है। हम इसमें नहा भी सकते हैं। हाथ पैर धो सकते हैं। कपड़े साफ कर सकते हैं। वहां खेल सकते हैं। बिना किसी कारण के घंटों बैठे रह सकते हैं। इसमें गाय, बैल, बकरी या स्वयं हम भी पानी पी सकते हैं।

जंगल के बीच जमीन के ऐसे टुकड़ों को और सहज सरल चित्रात्मक गांवों को देखते हुए हम चले जा रहे थे। गांवों के ऊपर शाम की ठंडी परत छा रही थी। ओस और कोहरे में डूबे हुए ये गांव स्वप्न की तरह अस्पष्ट और धुंधले दिखायी दे रहे थे। ऐसे गांव एक दिन खो जाएंगे। ये जंगल किसी दिन खत्म हो जाएंगे। चारों ओर नंगी बुची जमीन दिखायी देगी। टूटी बिखरी जमीन और उस पर भागते हुए लोग होंगे। तनाव में जीते, उदास और बेचैन लोग। क्या जमीन के ऐसे हिस्से, ऐसे गांव जो हमें आदिम सभ्यता और कृषि युग की याद दिलाते हैं वे सचमुच खो जाएंगे? क्या एक दिन ये जगहें भी भौतिक किस्म के उत्पादनों से ढक जाएंगी? इनका प्राकृतिक स्वरूप लुप्त हो जायेगा। ये जगहें रंगीन और व्यवस्थित हो जाएंगी। ऐसा होने पर हम कितने बदल जाएंगे। पता नहीं किस तरह रहेंगे और कैसे दिखेंगे? हमारे व्यवहार में कितना परिवर्तन आ जायेगा। क्या हमारे गीत, हमारे बच्चों के चित्र और उन चित्रों के रंग भी अप्राकृतिक हो जाएंगे? हो सकता है चित्रों के रंग संयोजन भी अलग हो जाएं। हमारे और रंगों की सहजता के बीच दूरी हो जाए। बच्चों की कल्पनाएं भी अलग हो जाएं। हो सकता है हम इन जगहों से एक दूरी महसूस करने लगें। जब ये जगहें हमसे दूर हो जाएंगी या विलुप्त हो जाएंगी तो हम फिर से उन्हें समझने की कोशिश करने लगेंगे।

अंधेरा पूरी तरह घिर आया है। रात हो गई है। पीछे के देखे गांव और जंगल की याद इस तरह आ रही है, जैसे उन्हें वर्षों पहले देखा हो। अब वे हमारे अवचेतन की तरह हैं। अब स्मृति से ही फिर से उनकी उपस्थिति सम्भव हो सकती है। सब कुछ तेजी से घट रहा है।

इतने कम समय में ऐसा क्यों लगने लगा, जैसे हम किसी दूसरे जीवन के आदमी हैं और अभी के इस जीवन में अभी अभी आये हैं। क्या जीवन में एक साथ, एक ही समय में कई तरह के जीवन और कई तरह के समय उपस्थित रहते हैं! क्या हम अपने जीवन काल में, अपने जीवन के अलग अलग हिस्सों को, अलग अलग समय में जीते लोगों के बीच गुजारते हैं!

क्या हमारी स्मृतियां सभी समयों में जीते लोगों और उन जगहों के सम्पर्क से बनती हैं! क्या हम एक साथ उन सभी समयों में हो सकते हैं और आवागमन कर सकते हैं! हमारी चिंता, हमारा दुख, हमारी खुशी, हमारा भाईचारा और हमारा सुख इन सभी स्तरों पर होता है या नहीं! शायद हमारी चेतना जीवन और जगत के सभी स्तरों पर जीना, सबके साथ रहना और सबके बारे में जानना चाहती है। इस कारण हम हमेशा कुछ और लोगों से मिलना चाहते हैं। एक ही जगह रहने की हमारी इच्छा नहीं होती। हम सभी जगह जाना और सबके साथ रहना चाहते हैं। हम एक ही जीवन में कई कई प्रकार के जीवन जीते लोगों के सुख दुःख उनके संघर्ष और उनकी लड़ाइयों में साथ रहना चाहते हैं।

काली अंधेरी सड़क पर जीप चली जा रही थी। हम सब जीप में एक साथ थे। हमारे हाथ में जीप का सिर्फ हैंडल था। सड़क जिधर मुड़ती थी हिचकोले से हम भी उधर मुड़ जाते थे। जीप की हेडलाइट की रोशनी में फर्लांग भर की जगह साफ दिखायी देती थी। सड़क के दोनों ओर घना जंगल था। सड़क के दोनों ओर के पेड़ों की शाखाएं फैलकर आपस में मिल गई थीं। हमारे ऊपर सिर्फ पत्तियां दिखायी दे रही थीं। हमें ऐसा लग रहा था जैसे हम पेड़ों से बनी अंधेरी सुरंग में चले जा रहे हों। मजबूत पेड़ों से बनी सुरंग के बीच हम चले जा रहे

थे। इसके अलावा हमें कुछ भी नहीं दिखायी दे रहा था।

रास्ते में हर किलोमीटर पर खरगोश सड़क के किनारों से इधर उधर भागते हुए जंगलों में खो जाते थे। दो बार हिरणों का भौचक झुंड दिखायी दिया। उनकी आंखें जीप की रोशनी के कारण ठहर गई थीं। वे पकड़े जाने और दौड़ते हुए भाग जाने की मुद्रा में ठिठके खड़े थे। रोशनी जैसे ही थोड़ी तिरछी होती थी, उनकी ठहरी हुई आंखों से दिखायी देने लगता था। वे सड़क के विपरीत जंगल की ओर छलांग लगा देते थे।

जंगल के जानवरों को देखकर मुझे अपनी किशोरावस्था की शिकारयात्रा की रात याद आ रही थी। हम ऐसी ही रात में सैकड़ों मील दूर जंगल में कार से चले जा रहे थे। खिड़कियों से दोनों तरफ बैटरी से जलने वाली बड़ी टार्च की तेज रोशनी हम सड़क के दोनों किनारों पर फेंक रहे थे। रोशनी में हमें जहां भी चमकती हुई आंखें दिखायी देती थीं, हम वहीं गाड़ी रोक लेते थे। रोशनी फेंकने वाली टार्च लगातार शिकार की आंखों की सीध में रखते थे। जिस कारण जानवर रोशनी की जकड़ से अपनी निगाहें हटा नहीं पाते थे। वे भौचक, डरे और हड़बड़ाए हुए किसी भी तरफ भागने को तत्पर खड़े रहते थे। हम गाड़ी से उतरकर लगातार उनकी सीध में बढ़ते जाते थे। धीरे धीरे उनका चेहरा और पूरा शरीर साफ दिखायी देने लगता था। हमारे पीछे चलने वाला शिकारी, जो हमारा साथी था, यह देखकर बहुत खुश होता था कि वह शिकार के बहुत नजदीक आ गया है। अब वह चाहता तो शिकार पर आसानी से निशाना लगा सकता था। बारहसिंघे, हिरण, नीलगाय के झुंड में से वह एक को आसानी से मार सकता था। पर शिकारी वही होता है जो एक ही बार में एक से अधिक शिकार करता है। वह एक ही बार में बहुत कुछ समेट लेना चाहता है। वह और करीब चलने के लिए हमें प्रेरित करता रहा। वह सोचता था कि अधिक करीब जाने से एक से अधिक जानवर पर उनके भागते समय भी निशाना लगाया जा सकता है।

जैसे ही मुझे जानवर के मारे जाने का अहसास होता मैं अपराधी महसूस करने लगता। मेरे हाथ पांव कांपने लगते थे और दिल धड़कने लगता था। मुझे किसी की मृत्यु में भागीदार होने का खौफ सताने लगता था। मुझे लगता था कि ये जानवर अब बस मरने वाले हैं। कितना सुंदर और पुष्ट शरीर है इनका। कुछ देर पहले तक ये कितने बेखौफ थे और अब मेरे कारण मारे जाने वाले हैं।

उनके शरीर के कोमल, पतले और उनकी खाल पर करीने से सधे हुए व्यवस्थित बाल उनके भयभीत शरीर पर खड़े थे। उनके रोम राम में जीवन का अथाह दिखने लगता था। उनका लम्बा मुंह ऐसा दिखायी देता था जैसे वे अनुनय विनय की मुद्रा में हों। उनकी बड़ी बड़ी अचम्भित आंखों की पुतलियां बिल्कुल काली दिखायी देती थीं।

मेरे हाथ कांपने कांपने को हो जाते थे। मेरा हृदय पसीजने लगता था। मेरी हथेलियों से पसीना निकलने लगता था। हाथ में पकड़ी टार्च का हैंडल हिलने को हो जाता था। दूसरे हाथ से पकड़े टार्च के वायर, जिसका एक सिरा कार की बैटरी से जुड़ा होता था, मेरे पांव से उलझने लगते थे। मैं पसीने से चुहचुहाती अपनी हथेली को रगड़कर कपड़े से पोंछना चाहता था।

इसी समय टार्च का हैंडल थोड़ा तिरछा कर देता था। रात की अंधेरी परत के बीच टार्च की तेज रोशनी की लकीर थोड़ी सी एक ओर मुड़ जाती थी। या जानबूझकर मैं किसी झाड़ी के पतले डंठल या किसी पत्ती पर टार्च की रोशनी फेंकता था ताकि शिकार की आंखों में लगातार जाती हुई टार्च की रोशनी पल भर के लिए रुक जाए। उनकी आंखों को जगह मिले

और उन्हें भागने का मौका मिल जाए। मेरे ऐसा करने से उन्हें हमारी उपस्थिति की दिशा का स्पष्ट ज्ञान हो जाता था। उनकी आंखें रोशनी की जकड़ से पल भर के लिए हटती थीं और वे एक साथ ही कई दिशाओं में छलांग लगाते हुए हमसे दूर हो जाते थे।

मेरे चेहरे पर संतोष और अपराध का मिलाजुला भाव छा जाता था। मैंने धोखा किया है धोखा। अपने मित्र के साथ धोखा। मैंने जानबूझकर उससे उसके शिकार को दूर किया है। मैं बहुत देर तक पछताता रहता। वापस लौटकर कार में फिर सवार होता और यही सिलसिला फिर से शुरू हो जाता। अंत में हम भोर पहर खाली हाथ लौट आते थे। मैं मन ही मन शिकार न कर पाने से बहुत खुश होता था और यह सोचकर कांप जाता था कि यदि शिकार कर लेते तो अभी मेरे पास इसी सीट पर एक मृत देह होती।

जीप को अचानक झटका लगा। जीप वाले ने पहले तो पूरा ब्रेक दबाकर गाड़ी रोकने की कोशिश की थी। फिर उसने गाड़ी रोकने का विचार त्याग दिया था। हुआ यह था कि सूअर का एक झुंड जो तेजी से सड़क पार करने वाला था, वह सड़क के बीचोंबीच ठिठक गया था। यह झुंड ब्रेक लगाने और फिर छोड़ देने के बीच जमीन की ओर थूथन लटकाए सड़क से उतर जंगल में चला गया था, पर एक सूअर एक पेड़ के पास हांफता हुआ खड़ा था और हमारी ओर देख रहा था। उसकी यह दृष्टि देर तक हमारा पीछा करती रही। हम थोड़े सतर्क हो गये थे कि सड़क पर हिंसक जानवर बैठे मिल सकते हैं और इस स्थिति में हमें सावधानी बरतनी चाहिए। हड़बड़ी में कोई कदम नहीं उठाना चाहिए।

हमें इसके बाद पूरे रास्ते में कहीं कुछ नहीं मिला। एक खरगोश भी नहीं। पेड़ों के बीच पगडंडियों से सड़क पर आता हुआ आदमियों का एक झुंड जरूर मिला। वे सम्भवतः चलते चलते जीप की रोशनी देखकर पहले ही सड़क से उतर गये थे। उन्हें जीप नजदीक आने पर लगा होगा कि यह छोटी गाड़ी है। इसे रोका जा सकता है।

जीप को हाथ देकर रोकने वालों में दो तीन पुरुष, तीन चार महिलाएं और दो तीन बच्चे हैं, जो सड़क के किनारे एक कतार में खड़े हैं। सबसे आगे का वृद्ध आदमी एक हाथ उठाये सड़क से लगकर खड़ा है। वह सिर्फ लंगोट पहने हुए है। उसके कंधे पर एक बांस जैसा है जिसके दोनों सिरों से रस्सियों के सहारे सामान लटक रहे हैं। बूढ़े, बच्चे, महिलाएं सब सिर्फ एक कपड़ा पहने हैं। सबके रूखे बाल हैं। मटमैले से कपड़े हैं। किसी के कंधे पर धनुष है और दो तीन लोगों के कंधों पर काली चमकती तेज कुल्हाड़ियां हैं। उनके शरीर का रंग जंगल के पेड़ों के रंग से मिलता हुआ है। उनकी आंखें रोशनी में चमक रही हैं और वे हमें रुकने के लिए हाथ दे रहे हैं। उन्हें देखकर हमारे दिल की धड़कनें बढ़ गईं। झाइवर ने कहा संभलकर बैठना भाई साहब। अपना सिर जीप से बाहर नहीं निकालना।

झाइवर अचानक बहुत सतर्क हो गया। उसके माथे पर पसीने की बूंदें छलछला आईं। जीप की गति के साथ रात के अंधेरे में सौ गज दूर दिखायी देते हुए आदमी के पास तक जाने में कितना समय लगता है! शायद कुछ सेकंड। पर यह दूरी घंटों की तरह लग रही थी। झाइवर ने गाड़ी की गति पहले से कुछ कम कर दी थी। मुझे लगा कि वह जीप रोक रहा है। क्या यह जीप रोककर उन्हें बिठायेगा। यह तो कह रहा था कि रास्ते में कहीं गाड़ी नहीं रोकूंगा। पानी पीने के लिए भी नहीं। फिर? हो सकता है इसका मन बदल गया हो। आखिर यह भी तो देख रहा है कि रात के अंधेरे में पूरा परिवार खड़ा है। उन्हें न मालूम कितनी दूर जाना होगा। रात का समय है और उनके साथ छोटे छोटे बच्चे हैं। उसने तो गाड़ी रोकने के पहले की तरह गति कम की है। हो सकता है उनसे थोड़ा आगे जाकर गाड़ी रोके। जीप पर तो ऐसे भी लोग

पीछे की ओर से ही बैठेंगे। पर मैं देखता क्या हूँ कि उनके पास गाड़ी आते ही, लगभग पांच कदम पहले से ही, उसने जीप का पूरा एक्सीलेटर दबाया और जीप सनसनाती हुई आगे बढ़ गई। कुछ किलोमीटर तक वह उसी तेज गति से जीप चलाता रहा। काफी देर बाद वह पहले की तरह सामान्य गति में आया।

वह जोर जोर से सांस ले रहा था। उसकी सांस की आवाज मुझे बिल्कुल साफ सुनाई दे रही थी। सांस मेरी भी तेज चल रही थी। एक छोटा सा बेहद उत्तेजना भरा समय गुजर गया था। तनाव भरे इस समय में हम सिर्फ दो लोग थे और इस जगह के बारे में लोगों से सुनी हुई अनेक भयावह कहानियां थीं। इसी कारण हमारी ऐसी दशा हुई थी। जब तक उसने जीप को सामान्य गति में नहीं लाया तब तक हम दोनों ने एक दूसरे से कोई बात नहीं की। एक दूसरे की ओर देखा तक नहीं। हमारी निगाहें सिर्फ सामने थीं। हमारा पूरा अस्तित्व हमारी आंखों के जरिए बाहर कांच के पार सड़क को देख रहा था।

थोड़ी देर बाद हम दोनों ने फिर से गहरी गहरी सांसें लीं। बिल्कुल एक साथ जैसे हम एक शरीर हों। जीप की आवाज भी हमारी सांस से मेल खाती लग रही थी।

उसने कहा, यह तो अच्छा था कि उन्होंने गाड़ी रोकने के लिए जहां हाथ दिया था, वह सीधी सड़क वाली जगह थी। वे बहुत दूर से दिखायी दे गये थे। मैं संभल गया था, नहीं तो गड़बड़ हो सकती थी।

क्या गड़बड़ हो सकती थी?

कुछ भी, लेकिन गड़बड़ होती जरूर। वे सब बेतहाशा मंद पिये हुए थे। उन सबके कंधों पर आपने तुम्बा नहीं देखा। उसमें भी मंद थी। मोड़ पर या चढ़ाई पर हम होते तो वे गाड़ी रोक लेते। वे सब के सब सड़क के बीच में खड़े हो जाते। फिर हमें गाड़ी रोकनी पड़ती। वे इस गाड़ी में पीछे बैठते और उनके पास हमेशा कुल्हाड़ी होती है।

कुल्हाड़ी! हां कुल्हाड़ी तो थी। लेकिन क्या वे अपनी मर्जी से बैठ जाएंगे। हमारे मना करने पर भी वे नहीं मानेंगे।

हां, वे बैठ जाएंगे। यदि हम उनके घेरे में हों तो गाड़ी चुपचाप रोकने के अलावा और कोई रास्ता नहीं होगा। फिर तो वे जो कहेंगे, हमें वह मानना होगा। हां के अलावा कुछ नहीं कहना होगा। और अपनी ओर से बोलने की तो कोई कोशिश ही मत कीजिएगा।

पर, मैं बोलूंगा कैसे। मैं तो उनकी बातें समझता ही नहीं। तुम समझते हो?

नहीं मैं भी नहीं जानता। पर कहां हां कहना है और कब नहीं कहना है इतना जानता हूँ। घूमने फिरने से और गाड़ी चलाने से यह सब आ जाता है। मैं उनकी इतनी बातें जानता हूँ। पर फिर भी घबड़ाने की कोई बात नहीं है, जो होगा देखा जायेगा।

पर, क्या हो सकता है?

इनके मिलने और गाड़ी पर बैठने के बाद तो कुछ भी नहीं हो सकता। जब तक वे गाड़ी पर नहीं बैठते हैं, तब तक हम डरते रहते हैं और उनसे बचने की कोशिश करते हैं। पर शायद एक बार उनके बैठ जाने के बाद हम सब कुछ उन पर छोड़ देते हैं। आप तो इसीलिए आये हैं न? यही सब देखने। क्या आपको इसमें मजा आता है?

मजा? मजा तो नहीं मालूम, डर भी लगता है। पर ऐसा देखना या इस तरह रहना जो हमारे लिए बिल्कुल अलग और नया है, एकदम अनोखा, वह अच्छा लगता है।

हम इसी तरह की बातें करते चले जा रहे थे। दूर से कहीं मांदर बजने की आवाज आ रही थी। मांदर की आवाज बहुत मद्धम पर बहुत स्पष्ट सुनायी दे रही थी। मांदर की आवाज

से हमें सुकून मिल रहा था। रात में हमारे अकेले यात्रा के अहसास को तोड़ती हुई और घनघोर जंगल के प्रभाव को कम करती हुई इस आवाज से, आसपास में रहने वाले गांवों और आदमियों की उपस्थिति का अहसास हो रहा था। हमें यह लगने लगा था कि हमारे आसपास सिर्फ जंगल नहीं है, आदमी भी हैं। आदमी जिनके अहसास मात्र से भरोसा बढ़ जाता है। अब हम पहले से थोड़े बेफिक्र हो गये थे और तमाम बाधाओं के बावजूद वांछित जगह पर पहुंचने की अनुभूति से आनंदित हो रहे थे।

मांदर की दूर से आती आवाज सुनते ही मैं रोमांचित होता जा रहा था। स्मृतियां वापस आ रही थीं। बचपन के उस धुंधले सपने की याद आ रही थी, जब मैं जंगल में अकेला भटक रहा था और मैंने दूर से मांदर की आती आवाज पहली बार सुनी थी। इस याद के साथ ही मुझे धूल में खेलने वाली लड़की की याद आ रही थी, जो सपने में मिली थी। उससे फिर से मिलने की इच्छा हो रही थी।

क्या मैं सपने में देखी हुई जगह वाले किसी स्थान पर आ गया हूं? हो सकता है इसी स्थान की अनुभूति मुझे स्वप्न में हुई हो। वह युवा लड़की जो धूल में खेलने वाली लड़की जैसी थी, वह सम्भव है इधर ही कहीं रहती हो। या वह उस जैसी ही कोई लड़की हो जिसकी अस्पष्ट आकृति का आभास मुझे अभी तक है। क्या वह यहीं कहीं होगी? क्या वह मुझे अचानक मिल सकती है? यदि मिल गई तो? अगर मिली तो वह कैसे मिलेगी?

अब हम लोग आधे से एक घंटे चलने के बाद पहुंच जाएंगे भाई साहब। झाइवर ने मुझे कहा। दस साढ़े दस बजे तक। यदि सब कुछ ठीक ठाक रहा तो हम पहले भी पहुंच सकते हैं।

झाइवर युवक की इस बात से मैं स्मृतियों से बाहर निकला। थोड़ी देर चलने के बाद सड़क के दोनों ओर एक के बाद एक की कतार में चलते हुए लोग नजर आने लगे। चादर ओढ़े हुए या खुले बदन। वे कंधे से मांदर लटकाए हुए, हाथों में तुम्बा पकड़े चले जा रहे थे। उनकी काली मजबूत पीठ पर कुल्हाड़ियां चमक रही थीं। जैसे चींटियां अपने रास्ते पर एक कतार में चुपचाप चलती चली जाती हैं, ठीक उसी तरह वे सड़क के किनारे चुपचाप चले जा रहे थे। उन्हें देखकर मुझे लग रहा था, हम जीप से उतरकर उनसे मिलें। उनके गले लग जाएं। उनसे हाथ मिलाएं और कहें आ गया, आ गया मैं, आ गया। इतने दिनों से तुम्हें ही खोज रहा था। तुमसे मिलने और तुम्हें देखने की मुझे उम्मीद थी। क्या तुम मुझे पहचान रहे हो?

अपने और उनके बारे में सोचते हुआ मैं चला जा रहा था। थोड़ी देर में हम उस सीमा में आ गये, जहां हमें आना था। सड़क के दोनों ओर खूब भीड़ थी। मेला जैसा माहौल लग रहा था। भीड़ के कारण जीप बहुत धीरे धीरे चलानी पड़ रही थी। अंततः हम अपनी जगह पर पहुंच गये। यहां दिन के जैसा भरेपूरे मेले का माहौल था। कहीं कदम रखने की जगह नहीं थी। जगह जगह पर नाच हो रहा था। इस तरह का नाच मैं जीवन में पहली बार देख रहा था। कहीं पांच दस लोग, तो कहीं पचास सौ लोग। हमारे चारों ओर नाचते और गाते हुए लोग। घेरा बनाकर उनके नाच को देखते हुए लोग। और जो एक घेरे से दूसरे घेरे की ओर जा रहे हैं वे लोग भी गीत की लम्बी तान छेड़ रहे हैं। पर आश्चर्य सबकी एक सी तान है, एक सी आवाज। इसी सामूहिक लय में जो आदमी जहां है, वहां से अपनी आवाज उस लय में शामिल करता है। गाते हुए वह कभी भी रुक जाता है। कभी भी किसी से बातें करने लगता है। घनघोर जंगल के बीचोंबीच लगभग दो वर्ग किलोमीटर की यह जगह एक ही धुन, लय और संगीत की आवाज से सराबोर है।



इस जगह से थोड़ी दूरी पर सड़क के किनारे मिट्टी के छोटे छोटे घर हैं। सामने मैदान है। जंगल के बीच मैदान। मैदान के चारों ओर भरेपूरे पेड़ हैं। जमीन बिल्कुल साफ है। घास पतवार बिल्कुल नहीं। चारों ओर टिमटिमाती हुई छोटी दूकानें हैं। हर कहीं पेट्रोमैक्स जल रहा है। दूकानें मंडप के नीचे लगी हैं। मंडप मोटी लकड़ियों के सहारे बनाया गया है। मंडप के ऊपर खपरैल है या घास। किसी एक मंडप वाली दूकान में पेट्रोमैक्स जल रही है तो आसपास की तीन चार दूकानें उसी की रोशनी में हैं।

यह पूरी जगह रोशनी के बावजूद अंधेरे में डूबी हुई है। ऐसे अंधेरे में जो रोशन है। बस रोशनी के आभास में अधिकांशतः सभी काम हो रहे हैं। धीरे धीरे चांद निकल आया है। चांदनी रात का उजाला फैल रहा है। मीठी, मद्धम रोशनी फैली हुई है। थोड़ी सी भी चकाचौंध नहीं। यहां बहुत छोटी छोटी दूकानें हैं। चाय की या पान की, फीता, कंधी, कपड़ों की दूकानें। चना, मुरमुरा और गुड़ की दूकानें। कुछ दूकानों पर टार्च भी हैं। एक दो बड़ी दूकानें हैं। इन दूकानों में मीठा और नमकीन भजिया और जलेबियां हैं। ये दूकानदार बहुत दूर से आये हैं। ये साल में बस एक बार आते हैं। ये दूकानदार पच्चीस रुपये की टार्च पचहत्तर से लेकर डेढ़ सौ, दो सौ रुपये तक बेच लेते हैं।

**मिट्टी** के एक छोटे घर के सामने थोड़ी सी जगह थी। जीप वहां खड़ी हो सकती थी। जीप वहीं खड़ी कर दी गई। चारों ओर मांदर, टिमकी लिये, हंसते गाते और बतियाते लोग थे। घर के सामने की दत्ती पर लाईन से लोग बैठे थे। पगड़ी बांधते हुए, जूड़े को संवारते हुए, किसी को छेड़ते हुए या कहीं आते जाते हुए लोग। सब अपने में मगन थे।

हम जीप से उतरकर खड़े हो गये। हमारी ओर कुछ लोगों ने क्षण भर के लिए उचटती निगाहों से देखा और पूर्ववत् अपने काम में व्यस्त हो गये। घर के अंदर से कुछ लोग हमें ध्यान से देखे जा रहे थे। थोड़ी देर बाद एक आदमी घर से बाहर आया। झाड़वर युवक से वह कुछ बातें करता रहा। झाड़वर युवक ने कहा, हां, हां वहीं की गाड़ी है। तुम कैसे जानते हो? अच्छा, अच्छा। तो क्या हम तुम्हारे घर अपना कुछ सामान रख लें। रात भर के लिए।

वह हमारा सामान रखने के लिए तैयार हो गया था। हम उसके घर के सामने की परछी के अंदर गये। हमारे आने पर बिछी हुई चटाई को उसने झटकारकर फिर से बिछाया। हम थोड़ी देर वहां बैठे रहे। कुछ देर बाद उसके घर के अंदर गये। वह मिट्टी से बना एक बड़े कमरे का घर था। घर का पिछला दरवाजा खेतों की ओर खुलता था। खेतों के पार जंगल था।

हमने हाथ मुंह धोया। थोड़ी देर तक घर के बाहर परछी के नीचे आग तापते रहे। फिर रात भर मेले में घूमते रहे। सुबह के वक्त तक हम बेहद थक चुके थे। हमें नींद आ रही थी। हम वापस उसी घर में आये। चटाई फिर से झटकारकर बिछाई। हम उसी चटाई पर लेट गये।

सोते समय उस घर के आदमी ने मुझे बगल में लेटे एक आदमी से मिलवाया। उस अंधेरे कमरे में सड़क से और मेले से कभी कभी आती हुई रोशनी थी। उस रोशनी में मुझे उसकी पगड़ी और आंखों की अस्पष्ट सी झलक भर दिखायी दी। पर उसके चेहरे का हल्का आभास हो रहा था। वह चेहरा पहचान बढ़ाने और मित्रता करने जैसा था। हमें उससे मिलकर अच्छा लगा। उसका नाम वड्डे था।

वड्डे तीस चालीस साल के बीच का युवक था। ऐसा युवक जो पूरी तरह से जिम्मेदार और गांव का सयाना आदमी माना जाता है। वह बहुत कम बोलता था। वड्डे और उस घर के आदमी के बीच थोड़ी देर कुछ बातें हुईं। मैं उसे समझ नहीं सका। थोड़ी देर बाद वड्डे ने

कहा— तुम मेरे साथ चलना साहब। सुबह मेरे घर चलना। चलोगे तो अच्छा है। मेरे घर रहना। मैं घुमाऊंगा तुम्हें।

मैंने तुरंत हामी भर दी। क्या पहचान इसी तरह बनती हैं। सम्बंधों के सूत्र जीवन में ऐसे ही फैले रहते हैं। क्या उन पर प्रारम्भ में ही विश्वास करके उसे समेटना पड़ता है। शायद जब तक सम्बंधों में विश्वास बना रहता है और लोग उसे सहेजने के लिए तत्पर रहते हैं, तब तक कोई तकलीफ नहीं होती है।

दूसरे दिन वड्डे के साथ मैं उसके गांव जा रहा था। साथ में उस गांव के पचासों लड़के लड़कियां थे। एक साथ कम से कम पचास लोग मुझे जान चुके थे। किसी के भी मन में मेरे प्रति अलग से कोई विचार नहीं था। सब आपस में बातें कर रहे थे। मैं वड्डे के साथ चलता जा रहा था। बीच बीच में कुछ लोग हमारे साथ इस तरह चलने लगते थे जैसे हम सब एक साथ हों। वे आपस में बीड़ी या तम्बाकू मांगते थे पीते, हंसते और बतियाते चलने लगते थे।

उनके साथ चलता हुआ मैं विचित्र प्राणी नजर आ रहा था। पैंट शर्ट पहना हुआ। बड़े करीने से कटे बाल, बिना पगड़ी वाला और जूता पहना हुआ आदमी। उनमें से किसी के पांव में जूता चप्पल नहीं था। पर वे मुझसे अधिक आसानी से और सहज होकर चल रहे थे। मैं अपने में अटपटा महसूस कर रहा था। उन्होंने मुझे इसी रूप में स्वीकार लिया था।

जीप वाला युवक वापस चला गया था। उसकी मेरे साथ किसी गांव जाने और वहां अधिक दिन तक रुकने की इच्छा नहीं थी। उसे दूसरे कई काम थे। वह जब वापस जा रहा था तो उसे संतोष था कि मैं ठीक जगह पहुंच गया हूँ। मैं जहां जाना और जिन लोगों के साथ रहना चाहता था, उनके आमंत्रण पर उनके गांव जा रहा हूँ। वह खुश था। जाते समय उसने कहा— तुम खुशकिस्मत हो भाई साहब। अब तुम्हें कोई चिंता नहीं है। ये तुम्हारा खूब खयाल रखेंगे, क्योंकि ये तुम्हें खुद अपने मन से गांव ले जा रहे हैं। इन लोगों से तुम्हारा सम्बंध अब जीवन भर के लिए हो जायेगा। तुम्हें कोई परेशानी नहीं होगी। तुम्हारे लिए यह बहुत अच्छा है। तुम वापस लौटते समय जरूर मिलना। यह कहकर वह अपनी जीप से वापस चला गया था।

मैं वड्डे और उसके गांव के लड़कों लड़कियों के साथ उनके गांव पैदल जा रहा था। उनके गांव जाते समय का वातावरण और स्थिति ऐसी थी जैसे उस रात का सपना हो। पर वह सपने की रात थी और यह सचमुच का दिन था। मुझे धूल में खेलने वाली लड़की की याद आ रही थी। मैं वड्डे के साथ चलता हुआ उस लड़की को खोज रहा था। साथ में चलते हुए लोगों के बीच मैं धूल में खेलने वाली लड़की को खोज रहा था। वह कहीं नहीं दिखायी दे रही थी। मुझे ऐसा लग रहा था जैसे वह यहीं कहीं है। वह यहीं कहीं मिलेगी। मैं खोई खोई आंखों से उन लड़कियों को देखता हुआ उसे ही खोज रहा था।

शाम होने तक हम वड्डे के घर पहुंच गये थे। वड्डे का घर जाना पहचाना सा लग रहा था। यह उस सपने के घर जैसा नहीं था, जिसे बचपन में सपने की रात मैंने देखा था। पर घर की बनावट उस जैसी ही थी। अनुभूति बिल्कुल वैसी थी। सपना और यथार्थ में बहुत कम अंतर था। मेरे भीतर वास्तव में ठीक सपने जैसा ही भाव था। वह सपना जिसे मैं खोज रहा था, जिसकी मुझे तलाश थी।

वड्डे के घर मैं दो तीन दिन तक रहा। पूरे गांव में जगह जगह घूमता रहा। गांव के बच्चे, किशोर और युवा हर जगह और लगभग हमेशा मेरे साथ रहते थे। उनके साथ रहते हुए मैं उनकी बोलचाल के कुछ शब्द सीख गया था। पानी, खाना, तम्बाकू जैसे शब्द। इन पांच दस शब्दों से उनके बीच मेरा काम चल जाता था। बच्चे और युवक लगातार मुझसे बातें करते

थे ताकि धीरे धीरे मैं उनसे टूटीफूटी बात कर सकूँ। पर वह भाषा मेरी भाषा से बिल्कुल अलग थी। बोलने का ढंग, उसकी ध्वनि और उतार चढ़ाव सब बहुत कठिन था। उनकी भाषा न जान पाने के कारण पूरे गांव में उन दो चार लोगों के सहारे ही मेरी बातचीत सम्भव थी, जो हिंदी जानते थे।

वड्डे के गांव के घर से जब मैं वापस लौट रहा था, तो मुझे थोड़ा दुःख हो रहा था। मैं यहां कुछ और दिन रहना चाहता था। इनकी बातचीत सीखना चाहता था। निश्चित भाव से निर्द्वंद्व होकर जीना चाहता था। पर मुझे चार पांच दिनों के लिए किसी दूसरी जगह जरूरी काम से जाना था। मैंने वड्डे से सप्ताह दिन बाद फिर से आने का वायदा किया और चल दिया। जाते समय मुझे धूल में खेलने वाली लड़की की याद आ रही थी, जो निश्चित ही युवा हो चुकी होगी।

मैं वड्डे के पास महीने भर बाद फिर से उसके गांव जा रहा था। इस बार किसी तरह का डर, संशय नहीं था। रास्ते में वड्डे जैसे लोगों को देखकर मुझे खुशी हो रही थी। मुझे रास्ते भर यह लगता रहा जैसे अब मैं उनके करीब पहुंचने ही वाला हूँ। मैं बहुत कम समय में वड्डे के घर होऊंगा। पूरे गांव के लोग वहां जुट जाएंगे। वे तरह तरह की बातें करेंगे। मैं कुछ भी नहीं समझ पाऊंगा और हां हां कहता हुआ लगातार मुस्कराता रहूंगा।

मैं वड्डे के गांव में एक प्राइवेट ट्रक से पहुंचा था। वह ट्रक जंगल में लकड़ी लेने जा रहा था। ट्रक से जब मैं उतरा तो शाम होने वाली थी। ट्रक मुझे उतारकर चला गया। मैं अपना बैग उठाकर वड्डे के घर की ओर बढ़ने ही वाला था कि पीछे खेतों की ओर से आवाज आई। उधर ढेर सारे पेड़ थे। पेड़ों के पीछे एक छोटी सी नदी बहती थी। उस नदी में मैं रोज ही जाता था। पूरा गांव पीने का पानी इसी नदी से ले जाता था। सभी लोग वहीं स्नान करते थे।

जिधर से मुझे पुकारा गया था, उधर कोई दिखायी नहीं दे रहा था। मैं पुकारने वाले को खोज रहा था। तभी पेड़ों की ओर से फिर आवाज आई। एक पेड़ के नीचे से दो तीन लड़के लंगोट और पगड़ी पहने हुए उठते दिखायी दिये। वे इसी गांव के थे। उनमें से एक लड़का दौड़ता हुआ मेरे पास तक आया। नमस्कार किया। मेरे बैग को मेरे हाथों से लेकर उसी पेड़ के नीचे चलने को कहा, जहां उसके बाकी साथी हमारे आने का इंतजार कर रहे थे।

हम खेतों के बीच से होते हुए पेड़ के नीचे उन लड़कों पास पहुंचे। पेड़ के नीचे दो तीन तुम्बा और कांच की एक बोतल रखी थी। इसमें मंद थी। एक तरफ ताजे हरे पत्ते और सीकें थीं। वे नमस्कार के बाद तुरंत हमारे लिए पत्तों से दोने बनाने लगे। मैं उनके साथ बैठकर पीने लगा।

मुझे वड्डे के घर जाने की जल्दी नहीं थी। इस गांव की कोई भी जगह मुझे वड्डे के घर की तरह ही सात्वना और शांति प्रदान करती थी। वड्डे का घर मेरे लिए स्थायी आवास था। रहने के लिए एक पहचानी हुई जगह थी। इस गांव में आकर वड्डे के यहां रुकने की मेरी पहचान बन गई थी। लेकिन मेरे लिए उसके घर और गांव के किसी अन्य घर में कोई अंतर नहीं था।

थोड़ी देर बाद वड्डे भी दूर से इधर ही आता दिखायी दिया। जंगलों के साथ रहने वाले लोगों में यह गजब की क्षमता होती है कि वे दूर से धुंधली आकृति देखकर भी, उसे ठीक से पहचान लेते हैं। जंगल के किसी कोने में कोई पत्ती भी खड़कती है, तो वे जानते हैं कि वह पत्ती क्यों खड़की है। धूल पर कदमों के निशान, झाड़ियों के टूटे डंठल या कुचली हुई घास आदि को देखकर भी वे घटना का सही अनुमान लगा लेते हैं। वे ऐसी आवाजें सुन लेते हैं, जो हमारे कान पकड़ तक नहीं पाते। इन आवाजों से वे वातावरण में होने वाले बदलाव को जान लेते

हैं और निश्चित रहते हैं या उस घटना के प्रति बिना कोई बात किये एक निश्चित तैयारी शुरू कर देते हैं।

वड्डे करीब आ गया था। वह आंखों को ठीक से देख सकने और मनोभावों को जान सकने की दूरी से ही नमस्कार कर रहा था। यहां के लोगों में आंखों को देखने और मनोभावों को समझने की क्षमता हमसे दोगुनी होती है। वे हमारी क्षमता से दोगुनी दूरी और आधे समय पहले ही वातावरण और घटना को देख और समझ लेते हैं। हमें इस काम के लिए बहुत नजदीक आना पड़ता है। कई बार तो हम इस चीज को घंटों नहीं समझ पाते। कभी कभी यह भी होता है कि सामने के व्यक्ति के अंदरूनी हालात को समझने के लिए, उसकी जटिलता को ठीक ठीक और उतनी ही बारीकी से जानने के लिए हमें महीनों और वर्षों का समय लगता है। हम बातों और भावनाओं के मामले में चालाक होते हैं। हम भ्रम की स्थिति अपने व्यवहार से खड़ी करते हैं। हम ऐसे कुशल व्यवहार के अनुपात को आवश्यकतानुसार कम या अधिक करते रहते हैं। हमारा झुकाव कभी प्यार की ओर होता है, कभी नफरत या घृणा की ओर। अस्थिर व्यवहार से हम अनिश्चित और असंदिग्ध होते जाते हैं। हम ऐसा करते हुए स्वयं को ही पहचानना बंदकर देते हैं। इस तरह हम अपने को खो देते हैं।

जंगल के साथ रहने वाले लोग अपनी पहचान को बनाये रखते हैं। उनमें दोहरापन नहीं के बराबर होता है। अमूमन वे तटस्थ होते हैं और अपने में ही मगन रहते हैं। वे न तो अत्यधिक प्यार, जिज्ञासा और उत्सुकता अपने रोज रोज के सम्बंधों के प्रति प्रकट करते हैं, न ही इसके विपरीत व्यवहार करते हैं। वे जो होते हैं, उसे बताने समझाने के लिए अपने को प्रदर्शित नहीं करते। जबकि हमारा काम प्रदर्शन के बिना असम्भव हो जाता है। हम जो हैं या नहीं भी हैं लेकिन जैसा दिखना चाहते हैं, उसे एक दिन के लिए भी अपने अंतरंगों को जताने से नहीं चूकते। जिस दिन हम अपने मुंह अपना बखान करना बंद करते हैं, उस दिन से हम अपने परिवार, समाज और अपनी व्यवस्था से दूर हाशिए की ओर बढ़ने लगते हैं। हमें लोगों द्वारा भी ऐसा ही मान लिया जाता है। वे उस जगह पर, जहां से हम हटे या हटाये गये हैं, वहां पर प्रकट हुए नये व्यक्ति को जानने समझने लगते हैं। उसके बारे में चर्चाएं शुरू हो जाती हैं। पुराने लोगों को हम भूलने लगते हैं। उनके बारे में इतिहास और भूगोल की तरह बातें करने लगते हैं। हमारे जीवन का समय बड़ी तेजी से खिसकता है। वह बिना ठहरे, बिना विचारे लगातार आगे बढ़ता जाता है। पीछे की ओर मुड़कर बहुत कम देखता है। बस आगे बढ़ते समय किसी अनुरोध पर पीछे की ओर कृतज्ञतापूर्वक देखता है। पर वह भी अपने लिए, सहारा पाने के लिए, पांव टिकाने के लिए।

हम लोगों के साथ बैठते हुए वड्डे ने कहा, आपको उतरते देख लिया था साहब। हम जान गये थे कि तुम्हीं हो। हम लोग सुबह से ही तुम्हारे आने का इंतजार कर रहे थे। इस बार तो कुछ अधिक दिन ठहरोगे न?

हमने कहा हां, इस बार अधिक दिन ठहरेंगे। तुम कहीं जा रहे हो क्या? ये साथ में मुर्गा क्यों रखे हो?

आज बाजार है न साहब! बाजार जा रहे हैं। यह लड़ने वाला मुर्गा है। बहुत तेज है और अब तक सात मुर्गा जीत चुका है। उसने सामने बैठे लड़कों की ओर इशारा करते हुए कहा ये लोग भी तो जाएंगे। मुर्गा लड़ाते समय बाजी खेलेंगे। तुम भी चलोगे क्या?

नहीं वड्डे मैं आज नहीं जाऊंगा। तुम्हें तो मालूम है कि दिन में पीने के बाद मुझे नींद आती है। अब कैसे जाऊंगा।

ठीक है साहब। आज रहने दो। आसपास में तो रोज बाजार लगता है। तुम बैठो। फिर घर चले जाना। दीवाल के ऊपर पत्ते के बड़े दोने में भात रखा है। खा लेना। अइतो तुम्हारे लिए रख गई है। अइतो यानी वड्डे की पत्नी। इसका मतलब कि अइतो भी घर में नहीं है। मैंने पूछा कि अइतो कहां गई वड्डे?

वह भी बाजार गई है। बोली बाजार जाऊंगी, उसकी दीदी आने वाली है। उससे मिलने गई है। और तुम्हारे लिए सब्जी भी लायेगी। बोल रही थी कि आलू लेकर आऊंगी।

अइतो के याद आते ही मैं भावुक होने लगा। वह छोटे बच्चे की तरह मेरा ध्यान रखती थी। मैं यहां जब तक रहता था, तब तक यदि उसके घर में मंद नहीं है तो वह गांव के किसी भी घर से मंद खोजकर लाती थी। यह तो मुझे मालूम था कि मेहमान को यहां रोज मंद पिलाने की परम्परा है। सुबह भी, दोपहर भी और रात में तो जरूर ही। वड्डे ने उससे कई बार कहा था कि साहब रोज मंद नहीं पी पायेगा। उसे हम लोग जैसी आदत नहीं है। पर वह बिल्कुल नहीं मानती थी। जंगल से किसी न किसी पत्ती को तोड़कर रोज लाती थी। उसे मालूम था कि मुझे साग पसंद है। वह पिछली बार रोज तीन चार तरह का साग लाती और मेरे खाते समय जरूर परोसती थी। जब मैं खाने लगता था तो वह सभी सागों के बारे में बताती थी। यह नदी किनारे का साग है। यह पानी के ऊपर ऊपर रहता है। यह इस पेड़ की पत्ती से बनता है। वह बोलती जाती थी और वड्डे मुझे हिंदी में समझाता जाता था। बीच बीच में मैं अइतो से जो भी पूछता वड्डे तुरंत उसे बतलाता था। वड्डे खासकर हम दोनों के बीच की बातों का तुरंत अनुवाद करता था। इसकी शुरुआत अनजाने ही हो गई थी।

कई बार वड्डे घर पर नहीं होता तो भी अइतो इसकी परवाह किये बिना कि मैं कुछ नहीं समझ रहा हूं, मुझसे बोलती जाती थी। वह अपनी बात कई बार और कई तरह से दुहराती। फिर भी मैं नहीं समझ पाता तो कुछ समय के लिए वह धाराप्रवाह बोलना बंद कर देती। यदि वह चाहती कि मैं नदी जाकर नहा आऊं तो मुझे नदी की ओर हाथ उठाकर जाने और नहाने का इशारा करती। यदि अकेला हूं और बोर हो रहा हूं तो वह समझ जाती और जबरन मेरे हाथ में दोना पकड़ाती और उसमें मंद उड़ेल देती। फिर तम्बाकू देती और अपने काम में लग जाती।

वह जब भी अपने घर से बाहर कदम रखती उसका कुत्ता जिसका नाम लाठी था, उसके साथ साथ चल देता। लेकिन उसके घर में आकर मेरे रुकने के बाद कुत्ते को मेरे ही पास रहने को बाध्य करती। वह अपने कुत्ते 'लाठी' से, ठीक उसी तरह धाराप्रवाह बोलती जैसे किसी आदमी से बात कर रही हो। उसकी बात को लाठी न जाने कैसे समझ लेता था। वह लगभग हमेशा ही अइतो की बात को समझकर और मानकर उसके कहे अनुसार ही करता। कभी कभी लाठी की इच्छा मेरे पास रुकने की नहीं होती तो उसे पकड़कर वह मेरे पास बिठा देती और कहती यहीं रहो। साहब को मेरे आने तक देखना। चलो साहब को नमस्कार कहो। लाठी से नमस्कार करवाने के बाद वह चली जाती। जब लाठी मेरे पास रह जाता तो मैं समझ जाता था कि अइतो घंटों के लिए कहीं गई है। वह देर से आयेगी। अक्सर वह जंगल ही जाया करती थी। मेरे साथ कोई आदमी रहता तो वे और लाठी दोनों जंगल जाते थे। नहीं तो लाठी अइतो के आने तक चुपचाप मेरे सामने थोड़ी दूरी पर बैठा रहता। वह घर के पास और मेरे करीब किसी को तब तक नहीं आने देता जब तक वह आदमी दूर से ही मेरा नाम लेकर मुझे नमस्कार नहीं कर लेता था। मैं भी उस आदमी को पहचानकर नमस्कार करता हुआ आकर बैठने को कहता। मुझे लगता था कि लाठी मेरी बातों को भी समझता है।

वड्डे ने एक दिन कहा भी था कि साहब यह हिंदी जानता है। इस लाठी को हिंदी मैंने

सिखायी है। मैं इससे हिंदी में जो भी कहता हूँ यह वही करता है। हिंदी में मैं इसी से बातें करता हूँ।

पेड़ के नीचे बैठा मैं अइतो के बारे में सोच रहा था। सब अपनी अपनी बातें कर रहे थे। शायद बाजार की बातें। सबसे छोटा लड़का उठा। उसने तुम्बा उठाई और बारी बारी से सभी के दोने में मंद उड़ेली। मंद खत्म हो गई थी। वह और एक तुम्बा मंद लेने के लिए घर जाने लगा तो सबने मना किया। वड्डे ने कहा देर हो जायेगी साहब। अब हम लोग बाजार जाएंगे। यह कहकर वह उठा। अपने मुर्गे को पकड़ा और जाने लगा। थोड़ी दूर चलने के बाद रुका और कहा कि घर चले जाना साहब। यहां से उठकर घर चले जाना। हम शाम को आएंगे साहब। अंधेरा होने तक। अइतो पहले आ जायेगी।

वड्डे के जाने के बाद सभी लड़कों ने भी बाजार जाने की तैयारी धीरे धीरे शुरू कर दी। सबने अपनी पगड़ियां खोलीं, बाल झाड़े, मांग काढ़ी और पगड़ी पहनकर जाने लगे। उनके साथ मैं भी उठा। वड्डे के घर तक वे छोड़ने आये। थोड़ी देर ठहरे, बीड़ी जलाकर पी और चले गये।

वड्डे के घर मैं अकेला रह गया। वड्डे का घर दो कमरों का था। दोनों कमरे अगल बगल में थे और उनका दरवाजा सामने से खुलता था। दोनों कमरों के बीच में रास्ता नहीं था। एक कमरा छोटा था, जिसमें मैं रहता था। उस कमरे में लकड़ी की ढेर सारी मूर्तियां रहती थीं। तीर धनुष रखे होते थे। वहां मोर के पंख और न जाने किन किन चिड़ियों के सैकड़ों हजारों पंख किसी लकड़ी, बांस या दीवार में खुंसे हुए रहते थे। कुछ पंख रस्सियों से बंधे हुए लटकते रहते थे। मैं इसी कमरे में रहता था।

बगल का कमरा थोड़ा बड़ा था। दरवाजे के ठीक सामने चूल्हा था। वहीं पर बायीं ओर की मिट्टी की दत्ती के ऊपर लकड़ी का पटरा था, जिस पर बर्तन रखे होते थे। यहीं पर पत्तियां रखी जाती थीं। दायीं ओर की खाली जगह के चारों कोनों पर अनाज के लिए मिट्टी के छोटे बड़े बर्तन या छोटी छोटी कोठियां होती थीं। चूल्हे के ठीक ऊपर बीज के लिए कई प्रकार के सूखे फल लटकाये जाते थे। ये फल चूल्हे के धुएं से काले पड़ जाते थे। चूल्हे के ऊपर पत्तियों में बांधकर बीज भी रखे जाते थे जिसका कारण यह था कि इस तरह रखने से बीज खराब नहीं होते।

लड़कों के जाने के बाद मैंने अपने कमरे वाला दरवाजा खोला। हमेशा की तरह दरवाजा सिर्फ भिड़ा हुआ था। दोनों कमरे खुले हुए थे। ये लोग घरों में ताला नहीं लगाते थे। इस तरफ के जितने भी गांवों में मैं गया किसी भी घर में ताला लगा नहीं देखा।

अपने कमरे का दरवाजा खोलकर मैंने बैग अंदर रखा। जमीन पर बिछी चटाई पर लेटकर थोड़ी देर तक आराम करता रहा। फिर बगल के कमरे का दरवाजा खोला। पत्तियों में रखे खाने को उठाया। इसमें भात और साग था। खाना खाकर पानी पीया और अपने कमरे में आकर लेट गया। थोड़ी देर बाद नींद आ गई। घंटे भर बाद सोकर उठा तो दिन ढल गया था। किसी किसी पेड़ पर सूरज की रोशनी दिख रही थी। मैं कमरे से बाहर निकल कर बाहर की दत्ती पर बैठा रहा। थोड़ी दूरी पर बच्चे खेल रहे थे। वे मुझे देखते और किसी झाड़ी या पेड़ के पीछे छिप जाते। थोड़ी देर बाद खेलते हुए फिर कुछ नजदीक आते, खड़े होकर मुझे देखते और फिर भाग जाते।

तीन चार साल का एक लड़का जिसका पेट काफी बड़ा है, वह और उसकी बहन हमेशा यहीं खेलते रहते हैं। पहली बार इन्होंने जब मुझे देखा था, तो वे जोरों से चिल्लाये थे और रोते

हुए वह और उसकी बहन, जो इससे दो साल बड़ी होगी यहां से भाग गये थे।

शाम को सोकर उठने के बाद आदमी के भीतर और बाहर की सक्रियता कम होती है। चीजें ठहरी ठहरी और चुपचुप लगती हैं। सभी काम में थोड़ी शिथिलता आती है। आदमी भागमभाग के जीवन से कटकर सामान्य, शांत धरातल पर आता है। उसके मन की बेचैनी, उसका तनाव कम होता है। शाम के धुंधलके के साथ साथ थोड़ा सा अवसाद भी मन को घेर लेता है। हल्की उदासी का अहसास होता है। शरीर अधिक हल्का हो जाता है। मैं अभी सोकर उठा तो मुझे ऐसा ही लग रहा था।

मेरे सामने से खेलते हुए बच्चे जब भाग रहे थे तो मैं निर्विकार उन्हें देख रहा था। अचानक मैं यह सोचने लगने लगा था कि मैं यहां क्यों आया हूं? एक भरा पूरा जीवन, भौतिक और वैज्ञानिक साधनों से संचालित जीवन, उसकी चकाचौंध को छोड़कर मैं यहां क्यों आया हूं? सिर्फ इसलिए कि एक भिन्न जीवनपद्धति का, भिन्न जीवनकाल का अनुभव करना चाहता हूं। उस समय में ऐसे लोगों के साथ रहना चाहता हूं, क्या सिर्फ इसलिए यहां आया हूं? यहां रहकर क्या होगा? क्या मेरे अलहदा जीवन का अहसास करने की क्षमता खत्म हो जायेगी? तो मैं चला जाऊंगा। जाने के बाद इस समय को कभी कभार याद करूंगा या दोस्तों में बतियाऊंगा। तो सिर्फ इतने का क्या अर्थ है? यदि मैं इस जगह के लिए, अपने इन आत्मीय और सुखद लोगों के लिए अलग से कुछ कर नहीं पाया तब तो इनके साथ का मेरा सम्बंध व्यर्थ है। यदि मैं इनके लिए कुछ भी करूंगा तो वह अंततः एक योजना होगी। विकास से सम्बंधित, पानी से सम्बंधित, शिक्षा, संस्कृति या जीवन से सम्बंधित। और इतना तो निश्चित है कि यह योजना यहां के लिए आयातित ही होगी। तो क्या मैं अंततः इस क्षेत्र के लिए, इन लोगों के लिए, इनकी जीवनदृष्टि के हिसाब से एक बाहरी मस्तिष्क का आदमी ही रहूंगा। मैं बिना इनकी परवाह किये अपने ढंग से इनमें बदलाव लाऊंगा। जबकि परिवर्तन जो भी होना चाहिए वह वहीं के ढंग से, वहीं की सोच से और उन्हीं के द्वारा होना चाहिए हमें उसमें सहयोगी मात्र की भूमिका निभानी चाहिए।

मेरी सहायक भूमिका क्या हो सकती है? जंगल की सुरक्षा, पानी की व्यवस्था, शिक्षा और औषधालय यहां के दैनंदिन जीवन के लिए अत्यंत आवश्यक हैं। अभी बहुत कुछ किया जा सकता है। जंगल कम हो रहे हैं पर पर्यावरण अभी सुरक्षित है। पानी के स्रोत कम हो गये हैं। खेती सिर्फ मौसम पर आधारित हैं। पानी यहां की सबसे बड़ी जरूरत हो गई है। शेष जलस्रोत सुरक्षित रहें इसके लिए बहुत तेजी से काम करने की जरूरत है। शिक्षा और औषधालयों से यहां के लोगों को दूरी का अहसास न हो, इस पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है।

अकेला बैठा हुआ मैं अव्यवस्थित ढंग से सोचता जा रहा था। कोई भी बात या विचार सिलसिलेवार ढंग से नहीं आ रहे थे। किसी भी बात पर बहुत देर तक टिक नहीं पा रहा था। ऐसा क्यों होता है? ऐसा तब तो नहीं होता, जब आदमी किसी से जुड़ना चाहता है। किसी बात, विचार या व्यक्ति से जुड़ना चाहता है। आदमी कुछ करना चाहता है तब टुकड़ों में बातें आती हैं और चली जाती हैं। उस समय जरूरत होती है किसी काम की। किसी भी काम में डूब जाने का यह समय होता है। ऐसा समय जिसका इंतजार हम हमेशा करते हैं।

ऐसा सोचता हुआ दूर तक खाली रास्ते को देख रहा था। इसी रास्ते से किसी के आने की उम्मीद थी। अचानक झाड़ियों के पास अड़तो का भूरा कुत्ता लाठी दिखायी दिया। वह चलने और दौड़ने के बीच की ढुलकी चाल से चला आ रहा था। उसे देखकर बहुत खुशी हुई। मुझे

एक आधार मिल गया था। एक जीवित प्राणी का आधार। उसकी निकटता का अहसास अभी से हो रहा था। उसके आने के बाद मैं अकेला नहीं रहूंगा।

लाठी आ रहा है तो फिर वड्डे की पत्नी अइतो भी आ रही होगी। आमतौर पर लाठी और अइतो एक साथ चलते हैं। इनमें से कोई एक आगे चलता है और दूसरा पीछे। मैंने लाठी के पीछे देखा। रास्ता बिल्कुल खाली था। खाली रास्ते को देखते हुए मेरी निगाह फिर से लाठी तक आई। वह पहले की तरह चला आ रहा था। थोड़ी देर बाद देखा कि लाठी जहां प्रकट हुआ था, रास्ते की उसी झाड़ी से निकलकर एक लड़की जल्दी जल्दी चली आ रही थी।

वह लड़की अइतो नहीं थी। फिर कौन है, जिसके साथ लाठी आया है? कोई परिचित होगी या अइतो की बहन जिससे मिलने अइतो बाजार गई थी। पर अइतो अपनी बड़ी बहन से मिलने बाजार गई थी और जो महिला आ रही है, वह लड़की सी नजर आ रही है। बीस पच्चीस साल की उम्र होगी। खैर, होगा कोई, सम्भव है कोई गांव की लड़की हो, जिसके साथ अइतो ने लाठी को यह सोचकर भेज दिया होगा कि मैं घर पर अकेला न रहूं।

वह लड़की जैसे जैसे नजदीक आ रही थी, उसके प्रति मेरी उत्सुकता बढ़ती जा रही थी। उसकी कद काठी, उसकी चाल कुछ पहचानी सी लग रही थी। उस गांव में तो मैं पहले भी आ चुका हूं। लेकिन इसे पहले क्यों नहीं देख पाया। हो सकता है इसी गांव की हो पर मेरे देखने में नहीं आई हो। यूं भी यहां की सभी लड़कियां दूर से एक जैसी दिखायी देती हैं। एक सी उम्र की, एक जैसे रंग की, लगभग एक जैसी इनकी बोलचाल और हंसी होती है। कपड़े भी सभी एक पहनती हैं। बस घुटनों तक साड़ी, उसी साड़ी का एक हिस्सा कंधे पर डला रहता है।

इस लड़की की चाल कुछ अलग है। कुछ पहचानी सी। उसके नजदीक आने का भाव भी ऐसा है, जैसे वह हमें जानती हो। कुछ लड़कियां चलती हुई जब नजदीक आती हैं तो ऐसा लगता है कि वह पहचानी हुई हैं। ऐसा लगता है वे हमें पहले से जानती हैं और हमारे पास आ रही हैं। आमतौर पर होता भी ऐसा है। उनसे पहले की पहचान न हो तो भी उनसे तुरंत पहचान बन जाती है। इसके आने में और देखने में पुरानी पहचान जैसा भाव है। साथ ही इसके देखने में कुछ ऐसा और है जो सिर्फ इसी में है। यह भी उसका एक भाव है। बेधड़क और निःशंक भाव। कुछ ऐसा भाव जो उन प्रेमी लड़कियों की तरह है जो हड़बड़ाती हुई आती हैं। मानो यह कहती हुई कि आने में देर हो गई। पर मुझसे इस बारे में कुछ मत कहना।

वह घर के सामने की लकड़ी के बाड़े तक आई। लाठी जो फाटक के पास पूंछ हिला रहा था, उसे घुटनों से उसने एक तरफ खिसकाया। सर पर रखी टोकनी को उठाकर एक हाथ पर इस तरह संभाला जैसे कैलेंडर में हनुमान जी पहाड़ उठाये रहते हैं। दूसरे हाथ से लकड़ी के फाटक को खोला और अंदर आई। उसके साथ साथ लाठी भी अंदर आया। अंदर आकर उसने टोकनी नीचे जमीन पर रखी और जल्दी जल्दी खड़ी होकर मेरे हाथों में हाथ देकर नमस्कार किया।

यहां नमस्कार करने का आम रिवाज है। सभी लोग एक दूसरे से हाथ मिलाते हुए नमस्कार करते हैं। मैं हाथ मिलाते समय खड़ा हो चुका था। उसके कठोर और हल्के नम हाथ मेरे हाथों में थे। माथे पर पसीने की हल्की नमी थी। उसका आंचल कंधे से एक ओर खिसक गया था। नमस्कार बोलते समय उसकी गर्म सांस का आभास मेरी नाक के पास हुआ। वह दुबली पतली पर काफी मजबूत दिख रही थी। आंचल खिसकने के कारण उसके वस्त्रविहीन वक्ष मेरे सामने थे। सांवले और हल्की लाल रंगत लिए। हाथ मिलाते समय उसके वक्ष के नीचे की पतली पतली पसलियां दिखायी दे रही थीं। इन पसलियों के कारण वह अबोध दिख रही



थी। पता नहीं क्यों उसे देखकर मन करुणामय हो रहा था।

मुझे लगा कि उसकी पसलियों को छूकर देखूं और कहूं कि यह तुम्हें क्या हो गया है? तुम इतनी कमजोर क्यों हो गई हो और तुम कितने दिनों बाद मिल रही हो। कहां थी इतने दिनों तक? तुम उस दिन सपने में दिखायी दी, फिर कहां चली गई थी। तुम्हें मालूम है कि मैं उसके बाद तुम्हें हमेशा खोजता रहा, पर तुम मिली नहीं। मैंने अपने भीतर जन्म लेती इन बातों के साथ उसकी ओर देखा। तब तक वह संयत हो चुकी थी। उसकी आंखों की सफेद और पारदर्शी चमक देखकर मुझे कुछ भी कहने की इच्छा नहीं हुई। या कहने की शायद जरूरत भी नहीं थी। वह ठीक उस लड़की की तरह थी जो सपने में बड़ी होकर मुझसे मिली थी। वह बिल्कुल नहीं बदली थी। उस लड़की को भी कुछ कहने की जरूरत नहीं पड़ी। आज भी वह वैसी ही है। बड़ी आंखों और पारदर्शी चेहरे वाली।

वह इस घर के रोजमर्रा के काम कर रही थी। मैं उसको नमस्कार का जवाब देने और कुछ कहने के लिए शब्द ढूंढ रहा था। पर जल्दी में कोई शब्द नहीं मिल रहा था। कारण कि यहां की भाषा से मैं पूरी तरह परिचित नहीं हो पाया था। कुछ न कह पाने की मजबूरी के चिन्ह शायद मेरे चेहरे पर दिखायी दे रहे थे। जिसे देखकर वह समझ गई। मैंने कहा—ठीक हो।

वह समझ नहीं पाई। हंसते हुए उसने टोकरी उठायी और घर के अंदर रसोई की ओर चली गई। बाहर निकली तो उसके हाथ में झाड़ू था। वह झाड़ू से सामने की जमीन बहुत तेजी से साफ करने लगी। बीच बीच में हमारी आंखें मिलतीं और हम मुस्करा देते।

लाठी थोड़ी देर तक खड़ा खड़ा अपनी पूंछ हिलाता रहा। जब वह अंदर चली गई तो मुझसे थोड़ी दूरी पर लाठी चुपचाप बैठ गया। बीच बीच में वह भी मेरी ओर देख रहा था।

अचानक मुझे वे शब्द याद आ गये थे, जिन्हें मुझे उससे इस समय बोलना चाहिए था। मैंने बिना इसकी परवाह किये कि इतनी देर बाद बोलने का कोई मतलब नहीं है जोर से और जल्दी से कहा— टिकम मंता?

हालचाल ठीक है?

उसने मेरी ओर खिलखिलाते हुए देखा और कहा—

हिंगो...टिकम टिकम।

हां सब ठीक ठीक है और फिर से हंसते हुए झाड़ू देने लगी।

उससे जवाब सुनने के बाद मेरी खुशी बढ़ गई थी। चेहरे से बात नहीं कर पाने का तनाव दूर हो रहा था। मुझे सपने में मिली लड़की की याद आ रही थी, जिसका मुझे नाम मालूम नहीं था। ऐसा न हो कि मैं इसका नाम न जान सकूं।

मैं मन ही मन वाक्य बना रहा था जिससे उसका नाम पूछ सकूं। वाक्य आधा अधूरा बन रहा था। ओठों ही ओठों में मैं वाक्य बुदबुदाता हुआ ठीक कर रहा था। उस वाक्य के उतार चढ़ाव की तरह मेरी गर्दन और मेरा चेहरा हिल रहा था। वह मेरे बोलने के प्रयत्न पर लगातार ध्यान दे रही थी। उसे मेरी चेष्टा के कारण हंसी भी आ रही थी और दुःख भी हो रहा था।

झाड़ू देने के बाद वह अंदर गई और चटाई लाकर मेरे सामने बिछाते हुए कहा—उदा। बैठो।

उठने में थोड़ी देर नहीं हुई कि उसने हाथ पकड़ा और चटाई की ओर खींचते हुए कहा—इदा उदा, मैं समझ गया कि वह चटाई पर बैठने के लिए कह रही है। अभी तक मैं खाली जमीन पर ही बैठा था। वह जैसे ही मुड़ने को हुई मेरा प्रश्न बन गया था। वह चेहरे के भाव को

समझकर मुड़ते मुड़ते ठिठक गई और बोलने के लिए उत्साहित करती हुई धैर्यपूर्वक मेरी ओर देखने लगी।

मैंने कहा— बाता पोरए? और यह कहते ही असमंजस में पड़ गया। क्योंकि मुझे यह लग रहा था कि इस वाक्य में कोई गड़बड़ है। फिर भी मुझे लगा कि शायद वह समझ जाए।

उसने कहा— क्लेआर सिंह।

क्लेआर सिंह, पर क्लेआर सिंह तो मेरा नाम है। इस गांव के और इस क्षेत्र के लोग मुझे क्लेआर सिंह के नाम से ही जानते हैं।

जब मैं पहली बार इस गांव में आया था तो वड्डे की पत्नी अइतो ने गांव के लड़के लड़कियों के साथ मिलकर मुझे यह नाम दिया था। इस गांव की परम्परा में है कि सभी के दो नाम होते हैं। एक तो घर परिवार द्वारा रखा गया नाम और दूसरा वह नाम जो गांव के युवक युवतियां और बच्चों द्वारा रखा जाता है। यह दूसरा नाम ही अधिक प्रचलन में होता है और इन गांव वालों ने प्यार और स्नेह के कारण मुझे नाम के साथ अपना कुल और मंडावी गोत्र भी दिया था। मैं क्लेआर सिंह मंडावी के नाम से जाना जाता था। आसपास के गांव वाले भी मुझे इसी नाम से जानते थे। नाम और गांव के कारण मैं इनका सगा सम्बंधी हो गया था। पूरे गांव में और आसपास के गांवों में मेरी रिश्तेदारियां हो गई थीं। मैं किसी को चाचा, चाची, दादा, सादू कहता तो कोई मुझे बेटा, नाती, भैया, सादू कहता था।

इस लड़की से जब मैंने इसका नाम जानना चाहा तो उसने क्लेआर सिंह कहा। इसका मतलब, मेरे पूछने में कुछ गलती हो गई है। वह अपनी जगह मेरा नाम बता रही है। मैं असमंजस में था। इसका मतलब मुझे सिर्फ 'बाता पोरए' नहीं कहना चाहिए। मुझे इसमें तुम जोड़ना पड़ेगा। अभी मैंने सिर्फ यह कहा है कि नाम क्या है? तो 'तुम' को क्या कहते हैं? हां, शायद 'नना' कहते हैं।

मैंने फिर से कहा— नना बाता पोरए।

उसने फिर से कहा— क्लेआर सिंह। मैंने फिर से सिर हिलाते हुए अपने सिर और उंगली से उसकी ओर इशारा करते हुए कहा कि 'नना' तो भी उसने मेरा ही नाम लिया।

मैं परेशान हो चुका था। नना का मतलब शायद मेरा होता है तुम्हारा नहीं। इसीलिए वह बार बार मेरा ही नाम ले रही है। तुम्हारा के लिए क्या कहां! मुझे कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि उससे उसका नाम कैसे पूछूं?

अपनी उंगली को खुद की ओर इशारा करते हुए कहा नना तो उसने कहा हां, उसकी तरफ इशारा किया नना तो उसने कहा नहीं। फिर उसकी ओर इशारा करते हुए कहा बाता? यानी तुम नना नहीं हो तो क्या हो?

उसने कहा— नीमा।

अब मैं तुम्हारा का मतलब समझ गया था। तुम्हारा मतलब नीमा। मैंने खुश होकर पूरा वाक्य बोलते हुए नाम पूछा— नीमा बाता पोरए? तुम्हारा नाम क्या है?

वह इतनी देर बाद जब समझी कि मैं दरअसल उसका नाम जानना चाहता था और यह जानने के लिए नना नना कहता हुआ परेशान हो रहा था। यह जानकर वह जोर जोर से हंसने लगी। हंसने के कारण उसकी सांसें फूलने लगीं। उसके गर्दन की दो लम्बी नीली नसें फूलने और पिचकने लगीं। हंसते रहने से उसकी साड़ी कंधे से फिर खिसक गई थी और उसकी नाजुक पतली पसलियां दिखने लगी थीं। हंसते हंसते बीच में ही उसने कहा—तिलोका। नना बाता पोरए तिलोका क्लेआर सिंह (तिलोका, मेरा नाम तिलोका है क्लेआर सिंह) और फिर जोर जोर से हंसने लगी।

मैंने पहली बार उसके पूरे वक्ष को देखा। उसके दोनों वक्ष भरेपूरे हैं। ऐसा क्यों लग रहा है कि सिर्फ उसके वक्ष को न देखूं। उसे उसकी सम्पूर्णता में देखूं। क्या कारण है कि उसके वक्ष शरीर का सबसे आकर्षक अंग मुझे नहीं लग रहे हैं। उसके वक्ष देखते हुए किसी विशिष्ट और गोपनीय अंग का अहसास मुझे नहीं हो रहा है। शरीर के सामान्य अंगों की तरह ही उसके वक्ष लग रहे हैं। क्या यह खुलेपन के कारण है। इस कारण कि वक्ष के प्रति यहां के लोगों में अतिरिक्त सतर्कता और गोपनीयता का भाव नहीं है। हमारी तरफ के गावों शहरों में वक्ष के प्रति विशेष आग्रह और रुझान है। सतर्कता और गोपनीयता का भाव भी है। इसी कारण ऐसी जगहों में गोपनीय अंगों के प्रति लोलुप आकर्षण और कुंठा के भाव बने रहते हैं।

तिलोका हंसते हुए रसोईघर में चली गई। मिट्टी और अल्यूमीनियम के तीन चार खाना पकाने वाले बर्तन उठाकर बाहर आई और घर के सामने नदी की ओर जाने लगी। इस गांव के लोग बर्तन नदी में ही मांजते हैं। नदी से लौटते समय स्नान करते हुए या हाथ पैर धोते हुए, मटके में पानी भरकर वापस आते हैं।

तिलोका के नदी जाने को तत्पर देखकर लाठी धीरे धीरे अपनी पूंछ हिलाने लगा। वह तय नहीं कर पा रहा था कि तिलोका के साथ नदी जाए या मेरे पास बैठा रहे। अनिर्णय की आंखों से मेरी मंशा समझने की कोशिश करता हुआ बीच बीच में वह मेरी ओर देख रहा था।

तिलोका को जाता देख मैं भी उठा। उसके साथ नदी जाने की मेरी भी इच्छा हो रही थी। मेरे साथ लाठी भी उठ खड़ा हुआ। हम दोनों को उठता देख बर्तन संभालते हुए तिलोका ठिठकी। मैंने उसके साथ नदी चलने का इशारा किया। उसने जल्दी जल्दी बोलना शुरू किया। अंदाजा से मैंने समझा कि वह मुझे रुकने के लिए कह रही है। कह रही है कि मैं जल्दी आती हूं तुम यहीं ठहरो। मैंने सहमति के लिए लाठी की ओर देखा कि मैं ठीक समझ रहा हूं या नहीं। उसने सिर झुकाकर अपनी गर्दन पीछे की ओर मोड़ ली और अपनी पहले वाली जगह पर जाकर बैठता हुआ मेरी ओर देखकर हांफने लगा। मैं समझ गया कि तिलोका रुकने के लिए ही कर रही है।

तिलोका ने जब घर पर रुकने के लिए कहा तो मैंने सोचा था कि उसे मनाऊं। कहूं कि अकेला नहीं रहना चाहता। पर कह नहीं पा रहा था। तिलोका यह देखकर सपने वाली लड़की की तरह मुस्कराई और कहा— नना वायकान क्लेयार सिंह, नीमा उदा, नना वायकान। मैं आ रही हूं क्लेयार सिंह, तुम बैठो, मैं आ रही हूं।

मैं अपनी जगह जाकर बैठ गया। वह लकड़ी का फाटक खोलकर चली गई। आठ दस कदम तक वह शाम के अंधेरे में दिखती रही फिर झाड़ियों में खो गई। मैं उस रास्ते को चुपचाप देखता रहा जिस रास्ते पर वह चलती चली जा रही थी। जाते समय उसने पलटकर एक बार भी नहीं देखा। दस मिनट के अंदर ही चारों ओर बिल्कुल अंधेरा हो गया था। लाठी अपनी जगह चुपचाप बैठा था। अंधेरे के कारण उसके होने का सिर्फ आभास हो रहा था।

लकड़ी का फाटक खोलने की आवाज आई तो मैंने अंधेरे में आंखें पूरी तरह खोलकर देखने की कोशिश की, कि कौन है। लाठी अपनी जगह से उठा और तनकर खड़ा हो गया। इतने में पानी के छलकने और जमीन पर पानी गिरने की आवाज से समझ गया कि तिलोका ही है। वह नदी से बर्तन मांजकर और पानी भरकर ले आई है।

तिलोका के पांव अंधेरे में भी बड़ी तेजी से चल रहे थे। उसने मुझे पुकारा—क्लेआर सिंह।

मैंने कहा—हिंगो...बाता? हां क्या है?

बाता आयो। कोई बात नहीं है।

यह कहते हुए उसने पानी से भरे बर्तन को सिर पर से उतारकर नीचे रख दिया। अंधेरे में भी उसकी आंखें चमक रही थीं। सिर पर पानी रखकर लाने के कारण वह शायद भीग गई थी।

उसने रसोईघर के चूल्हे से ढूँढ़कर अंगारे निकाले और बाहर लायी। आग सुलगाने के लिए घास पत्तियां और छोटी पतली टहनियां अंगारे पर रखकर फूंक मारने लगी। आग की एक बहुत छोटी बारीक लपट उठी और बुझ गई। दो तीन फूंक के बाद दो तीन जगहों से छोटी छोटी लपटें उठीं और लकड़ियां जलने लगीं। आसपास हल्का उजाला फैल गया। तिलोका उठी और दो तीन सूखे मोटे तने ले आई। लपटों के ऊपर उन्हें तीन तरफ से एक के ऊपर एक, सहारे से रखा और बैठ गई। उसने मेरी ओर देखा। मैं उसे ही देख रहा था। उसने मुझे देखते हुए देखकर कहा— किस पोतेंता क्लेयार सिंह। नीमा उदा। आग जल गई है क्लेयार सिंह तुम यहीं बैठो।

मैं आग के पास अपने दोनों पैरों को फैलाकर बैठ गया। आग से उठती लपटों के ऊपर अपने हाथों को सेकने लगा। तिलोका उठकर अंदर रसोईघर में चली गई थी। वह आग जलाकर खाना पकाने की तैयारी कर रही थी। लाठी उठकर मेरी दायीं ओर आग से थोड़ी दूरी पर बैठ गया था। थोड़ी देर में आग की गर्मी बढ़ने लगी। शरीर के जिन हिस्सों पर सीधे आग की गर्मी पहुंच रही थी, वहां की त्वचा में खुजली सी होने लगी। बार बार हाथ पैरों को सहलाकर आग की गर्मी के प्रभाव को कम कर रहा था। मैंने सिर घुमाकर तिलोका की ओर देखा। वह चूल्हे के पास सर झुकाये हुए मेरी ओर देख रही थी। जैसे कुछ सोच रही हो। मुझे अपनी ओर देखता पाकर अपनी उसी मुद्रा में थोड़ी हिली और मुझे देखती रही। फिर कहीं दूर से आती आवाज में कहा— बाता क्लेयार सिंह? क्या है क्लेयार सिंह

कुछ नहीं— मैंने कहा।

नीमा इदु वायकी। तुम इधर भी आ सकते हो।

हां, ठीक है आ रहा हूं। मैं उठकर उसके पास गया। उसने लकड़ी का पीढ़ा मेरी ओर खिसकाया और अपना सिर वैसे ही झुकाये रही। पीढ़े पर मैं चुपचाप बैठा रहा। वह गहरी गहरी सांसें ले रही थी। आग की लपटें कभी मद्धम और कभी तेज होती थीं। वह बीच बीच में लकड़ियों को ठीक करते हुए चुपचाप बैठी रही। आग की लपटें उसके शरीर के विभिन्न हिस्सों पर पड़ रही थीं। उन लपटों से निकलती चमक के कारण शरीर के वे हिस्से नहाते हुए लग रहे थे। कभी लाल, तो कभी पीले, बेरों के रंग की तरह। जिन दिनों धूल में खेलने वाली लड़की झरखेरियों से बैर बटोरती थी, उन दिनों धूप के कारण वह ऐसे ही दिखती थी। जगह जगह से तमतमाई हुई और कुम्हलाई हुई। उसके सूखे गालों के नीचे से ऐसे ही लाल पीले रंग झांकते थे, जैसे अभी तिलोका के शरीर से लपटों के कारण लाल पीले रंग झांक रहे हैं।

हम इन लपटों को और शरीर पर पड़ती हुई लपट के इन रंगों को देखते हुए चुपचाप बैठे थे। लकड़ियां जल रही थीं। लकड़ियों के जलते समय उनके अंदर से चटकने की आवाजें आ रही थीं। अंगारे बन रहे थे। आग के जलने की आवाज और हमारी सांसों की आवाज हमें एक साथ सुनायी दे रही थीं। लकड़ियों के जलने से चटचट, पटपट की आवाजें आ रही थीं। बाहर मोटी लकड़ियां तेजी से जल रही थीं। उनसे लम्बी लपटें उठ रही थीं। उन लपटों की रोशनी अंदर के कमरे तक आ रही थी। लपटें उठकर तेज बहती हवा से टकरा रही थीं और हवा लपटों को तोड़ने की कोशिश कर रही थी। लपटों की टूटन से धपधप, थपथप की आवाजें आ रही थीं। जैसे कहीं दूर कोई मांदर बज रहा हो। मांदर की आवाजें ठंड से थरथराती हुई

लय में हमारे पास तक आ रही हैं। इसी लय में हमारी धड़कनें हमें स्पष्ट सुनाई दे रही हैं। कभी कभी वे इतनी स्पष्ट थीं कि हम चौंकते हुए एक दूसरे को देखते थे और फिर बिना कुछ कहे लपटों को देखने लगते थे। कभी पूछते थे कि क्या? और बिना क्या का जवाब दिये अपने आसपास देखने लगते थे। कभी हम बहुत देर तक चुपचाप एक दूसरे को देखते रहते, हमारी आंखें बहुत साफ, तरल और निश्चल हो गई थीं।

तिलोका एक लकड़ी उठाकर जमीन पर आड़ी तिरछी रेखाएं खींचने लगीं। कभी हाथ के दबाव से धरती पर उस लकड़ी को तोड़ती तो कभी टूटे हुए टुकड़ों को देखती और उसे एक तरफ इकट्ठा करती और फिर से जमीन पर लकड़ी घुमाने लगती। मैंने लकड़ी के टूटे हुए एक टुकड़े को उठाया। वह उठाते हुए देखती रही। मैंने डंठल के एक टुकड़े को उंगलियों में फंसाकर उसके कई टुकड़े किये। डंठल का एक टुकड़ा लपटों की ओर उछाला, एक टुकड़ा लकड़ी के टुकड़ों के ढेर में डाला और एक टुकड़ा उसकी चूड़ियों में फंसाया। चूड़ियों में फंसे अपने टुकड़े को वह देखती रही। मैं उस टुकड़े को चूड़ियों से निकालता और उसमें फंसाता रहा। उसके हाथ बिल्कुल स्थिर थे। कई बार तो ऐसा लगता था कि वे चूड़ियां जिनमें मैं टुकड़ों को फंसाना चाहता हूं वे खुद ही इधर उधर हो जाती हैं। टुकड़ों और चूड़ियों का खेल चलता रहा। घंटों हम ऐसे ही बैठे रहे। मैंने उसकी कलाई छुई। आधी चूड़ियां कलाई की ओर और आधी ऊपर हो गईं। उसकी कलाई कितनी पतली है, कितनी नरम। बिल्कुल बच्चों की तरह। लेकिन उसकी हथेलियां कितनी सख्त हैं। उसके नमस्कार करते समय के हाथों का स्पर्श अभी तक मेरी हथेलियों में समाया हुआ था।

तिलोका ने लम्बी और गहरी सांस ली फिर थोड़ा सीधे होते हुए मेरी ओर देखा। उसके देखते समय मैंने भी ठीक उसकी तरह ही लम्बी गहरी सांस भरी। वह कुछ तो कहना चाहती थी। जब कहने को कई बार बहुत कुछ होता है और कहते नहीं बनता तो आदमी कुछ करने लगता है। वह उठी और बोली कि थोड़ा सा मंद पी लो क्लेयार सिंह। मैंने कुछ नहीं कहा। हां या नहीं कहने की मनःस्थिति में नहीं था। उसने अंधेरे से कहीं से एक बोतल निकाली। कुछ ताजे हरे पत्ते और सीकें लाई, दोने बनाये। एक दोना मुझे पकड़ाया और दो तीन घूंट उसमें मंद उड़ेली। मैंने मंद लेकर जोहार किया और पी गया।

उसके हाथ से बोतल लेकर मैंने भी तिलोका से कहा कि थोड़ा तुम भी लो। उसने कुछ भी नहीं कहा। एक पत्ते के दोनों सिरों को हाथों से पकड़ा, जिस कारण पत्ते के बीच में जगह बन गई। उसी पत्ते में मैंने तिलोका को मंद दी। उसने मंद पी और पत्ते को एक ओर फेंक दिया। मेरा दोना मेरे सामने रखा हुआ था। उसने मंद पीते ही मेरे दोने को फिर मेरे हाथों में थमाया। मैं तुरंत इतनी जल्दी और मंद नहीं पीना चाहता था। वह समझ गई। मेरी हथेलियों को पकड़कर उसने जबर्दस्ती दोना थमाया और कहा— पड़म। पकड़ो। दोना मेरे पकड़ते ही उसने फिर मंद दी। अब उसके पास बहुत थोड़ी सी मंद बची थी। इसे मैंने उसे देना चाहा। उसने इनकार किया तो मैंने जबरन उसे एक पत्ता पकड़ाया। उसमें मंद उड़ेली जिसे वह पी गई।

अब हम फिर से चुपचाप बैठे थे। सिगरेट, बीड़ी या तम्बाकू की तलब लग रही थी। उसने अपनी साड़ी का छोर कमर की ओर से निकालकर सामने किया। साड़ी की खूंट में, जानना चाहा तम्बाकू बंधी थी। उसकी गांठ खोलते हुए उसने कहा— तम्बाकू खाओगे और बिना मेरा जवाब सुने मेरी हथेलियों को खोलकर तम्बाकू रख दिया। वह साड़ी की खूंट में तम्बाकू बांधते हुए आंचल को फिर से पीछे पीठ की ओर ले गई और कमर में खोंस लिया।

तिलोका को कुछ काम नहीं सूझ रहा था। वह कुछ करना चाहती थी। जब उसे कुछ

भी समझ में नहीं आया तो लकड़ी का कलछुल उठाकर बटलोही के अंदर डाला और चलाने लगी। कलछुल के साथ कुछ चावल बाहर आये। उसे उंगलियों में दबाकर तिलोका ने देखा कि कितना गला है। भात बनने में अभी दो हीर का समय बचा था। कलछुल को बटलोही पर टिकाकर वह चावल उंगलियों के सहारे दबाती रही। मैंने उसकी उंगलियों में फंसे चावल को देखना चाहा तो उसने चावल सहित अपनी उंगलियां मेरी ओर बढ़ा दी। मैं उंगलियों में चिपके चावल को लेकर देखने लगा। उसके हाथ में फंसे चावल थोड़ी देर में सूखकर गिर गये लेकिन अब भी उसका हाथ मेरे सामने था। मैंने उसकी उंगलियां धीरे से छुई और उसके हाथ में हाथ डालकर चुपचाप बैठा रहा।

मैं रसोईघर से बाहर आकर थोड़ी देर तक लाठी से खेलता रहा। आग की लपट थोड़ी कम हो गई थी। मैंने अंगारों को झाड़कर लकड़ियां ठीक कीं और अंधेरे में नीम के पेड़ को देखते हुए बैठा रहा।

खाना बन चुका था। खाना बनाने के बाद तिलोका भी आकर वहीं बैठ गई थी। मैंने उससे पूछा कि तुम कौन हो तिलोका?

तिलोका हूं उसने कहा।

रहती कहां हो?

डोंगरी के पास।

आज यहीं रहोगी?

नहीं, वड्डे या अइतो कोई भी आएंगे तो मैं चली जाऊंगी।

कहां जाओगी? घर?

नहीं, अब तो रात हो गई है। अब घर नहीं जाऊंगी। यहां से सोने जाऊंगी।

कहां?

जहां सब सोते हैं। गांव के सभी लड़के लड़कियां।

लेकिन वहां तो वे सोते हैं, जिनकी शादी नहीं हुई है? क्या तुम्हारी शादी नहीं हुई है?

नहीं हुई है। जैसे ही तिलोका ने कहा कि उसकी शादी नहीं हुई है, उसी समय लाठी उठा और लकड़ी के फाटक से बाहर की ओर भागा। बाहर से कुछ लोगों की आवाजें आ रही थीं।

अइतो आ रही है तिलोका ने कहा। अइतो ने दूर से ही कहा? क्लेआर सिंह, नीमा लोन मंता? क्लेयार सिंह तुम घर पर हो?

हिंगो अइतो। हां अइतो मैं घर पर ही हूं। इतने में वह फाटक तक पहुंच गई थी। फाटक के अंदर उसने कदम रखा। उसके पीछे पीछे लाठी भी अंदर आया। उसके पीछे वड्डे। वड्डे के पीछे गांव के ढेर सारे लड़के। तीन चार मरी हुई मुर्गियां भी इनके साथ थीं। इन मुर्गियों को वड्डे के मुर्गे ने लड़कर जीता था। सबसे पहले अइतो ने मुझसे हाथ मिलाकर नमस्कार किया। बारी बारी से सभी ने हाथ मिलाया और जोहार किया। सबने एक के बाद एक अपने हाथ पैर धोये और आग के चारों ओर बैठ गये।

अइतो अंदर गई और मंद की दो तीन बोटलें लेकर बाहर आई। उसके पीछे पीछे तिलोका ताजे हरे पत्ते और सींके लेती हुई आई। सबके लिए दोने बनाये गये। सब मंद पीने लगे। मेरे बारे में अइतो बीच बीच में तिलोका से कुछ पूछती थी और तिलोका हंसते हुए मेरी ओर देखते हुए अइतो को जवाब देती थी।

थोड़ी देर बाद जब मुझे नींद आने लगी तो अइतो ने मुझे उठाया। खाने की इच्छा नहीं थी फिर भी थोड़ा सा खाया। आग के उसी ढेर के पास एक तरफ चटाई बिछी हुई थी जिस पर

एक कम्बल अइतो ने डाल दिया था। मैं वहीं सो गया। जब मैं सो रहा था। उस समय सभी लड़के और तिलोका, वड्डे और अइतो को नमस्कार करते हुए सोने जा रहे थे।

जब सुबह मेरी नींद खुली तो रात के सभी लड़के वापस आ गये थे और आपस में बातें कर रहे थे। हल्का उजाला हो गया था। न मालूम क्यों मैं जब भी यहां आता हूं तो मेरी भी नींद सुबह पांच बजे के आसपास खुल जाती है। शायद यह यहां के वातावरण और दिनचर्या का असर है।

उठने के बाद मैंने सबसे नमस्कार किया। अइतो की कुछ बातचीत लड़कों के साथ हुई। लड़कों ने मुझे अपने साथ चलने के लिए कहा। मैं उनके साथ चल दिया। हम थोड़ी देर तक तो नदी में रहे और उसके बाद जंगल में घूमने चले गये।

यहां कब जंगल खत्म होता था, और कब घर या खेत शुरू होते थे, इसका पूर्व अनुमान करना सम्भव न था। अभी हम लोग एक छोटे से खेत में से गुजर रहे थे। खेत के बाद फिर से जंगल था। हम जैसे ही जंगल में जाने वाले थे कि हिरणों का एक झुंड चौकन्ना होकर हमें देख रहा था। जैसे ही हमारे पैरों से पत्तियां दबकर चरमर करने लगीं, हिरण भाग खड़े हुए। थोड़ा और आगे जाने पर जहां थोड़े कम पेड़ थे, वहां एक मोर अपने पंखों को फैलाए हुए ठुमक ठुमक कर चल रहा था। हमारे आने से मोर पर कोई फर्क नहीं पड़ा। थोड़ी देर बाद मोर अपने फैलाये हुए पंखों को धीरे धीरे ऊपर उठाने लगा। जैसे जैसे उसके पंख जमीन से ऊपर उठ रहे थे वैसे वैसे उसके पंख चौड़ाई में फैलते भी जा रहे थे। थोड़ी देर में उसके पूरे पंख ऊपर उठकर फैल चुके थे। वह गोल गोल चक्कर लगाने लगा।

नाच रहे मोर से तीन चार बांस की दूरी पर एक मोर और था। उस नाचते हुए मोर की संगिनी मोरनी थी। वह निस्पृह भाव से कीड़ों मकोड़ों को चुन चुन कर खा रही थी। बीच बीच में कभी कभी मोर की ओर देख लेती थी। मोर लगातार नाच रहा था।

हम लोग जंगल के बीच एक के पीछे एक चल रहे थे। जंगल में चलने का यह सर्वमान्य नियम था। लोग एक दूसरे के बगल में होकर यहां नहीं चलते हैं। इसका एक कारण तो यह है कि जंगल में पगडंडियां बहुत पतली होती हैं। आमतौर पर जंगल में लोग बातें कम ही करते हैं। बात करते हैं तो आगे पीछे चलते हुए भी बात हो जाती है। जंगल के बीच एक साथ चलते हुए लोग एक दूसरे से कही गई बातों पर भरोसा करते हैं। इनके बीच चेहरे का उतार चढ़ाव देखकर बातों को जांचने की जरूरत महसूस नहीं होती।

मुझे ऐसा लग रहा था कि जंगल में हम सीधे नहीं जा रहे हैं। बल्कि अर्द्धगोलाकार रास्ता तय करते हुए वापस उसी गांव के पास आ रहे थे। जंगल की नम गंध मेरे नथुनों में समाई हुई थी और मुझे लगातार तिलोका की याद आ रही थी। मुझे आज दोपहर में वापस लौटना था और मैं तिलोका से आज मिलना चाहता था।

जब मैं वापस घर पर आया तो अइतो मेरा इंतजार कर रही थी। वड्डे पेड़ों के बीच से तुम्बा लटकाए हुए अपने घर की ओर चला आ रहा था। गांव के कुछ लड़के और बड़े बूढ़े भी घर में बैठे हुए थे। हमने हाथ पैर धोये और सबके साथ बैठ गये। अइतो ढेर सारे ताजे हरे पत्तों के साथ बाहर निकली और वह दोना बनाने लगी। दो तीन तुम्बा लटकाये हुए कुछ और लड़के इसी ओर चले आ रहे थे। अइतो सबको मंद परोसने लगी थी।

हम खा पीकर नजदीक के गांव के लिए रवाना हुए। वहां के गांव के मुखिया ने हम लोगों को बुलाया था। हम वड्डे और तीन चार लड़के उस गांव में जाने के लिए निकले। वहां

जाने के लिए साइकिलें तैयार खड़ी थीं। दोनों साइकिलों की हैंडिलों में दो दो तुम्बा लटकाकर रखे गये थे। चलते समय कुछ लड़कियां भी आ गई थीं। कुछ लड़कियां फाटक के अंदर थीं और कुछ फाटक के बाहर। बाहर खड़ी एक लड़की से एक लड़के ने साड़ी मांगी। वह लड़की एक फूलदार साड़ी चादर की तरह अपने कंधों पर रखी थी। पहले तो उस लड़की ने साड़ी देने से मना किया पर बाद में उसने दे दी। लड़के ने साड़ी तहाकर अपने सिर पर पगड़ी बांधी। इसके बाद हम चल दिये।

दो दिनों बाद हम वापस वड्डे के गांव आये। गांव आने तक रात काफी हो चुकी थी। खाना खाने के बाद हम सोने चले गये। तिलोका से कब मुलाकात होगी? सोते समय मैं यही सोचता रहा।

सुबह उठा तो वड्डे कहीं जा रहा था। मैंने वड्डे से कहा कि किसी को बुला दो मुझे घूमने जाना है। वड्डे ने कहा कि तुम्हारे पास डोरगा लोग आने वाले हैं साहब। मैंने वड्डे से पूछा कि वड्डे तिलोका का घर किधर है?

पहाड़ी के पास है साहब वड्डे ने कहा। क्या पहाड़ी बहुत दूर है—मैंने उससे पूछा।

दूर नहीं है साहब। इसी गांव में वह पहाड़ी है। वह जो पहाड़ी दिख रही है न! वह वहीं रहती है। क्या बात है साहब?

बात तो कुछ नहीं है वड्डे, मुझे तिलोका से मिलना है। मैं डोरगा के साथ उसके पास चला जाऊंगा कि तुम चलोगे?

डोरगा के साथ चले जाना साहब! तिलोका मुझसे शरमाएगी। तुम सुबह सो रहे थे तो वह आई थी। उसने तुम्हें अपने घर पर बुलाया है। बहुत देर तक वह बैठी रही फिर अइतो से बोलकर चली गई कि क्लेयार सिंह को मेरी तरफ घूमने भेज देना।

मैं यह सुनकर चुप हो गया। मन ही मन मैं सोचता रहा कि वह जब आई थी तो मैं जगा होता। उसे आज तक सुबह के वक्त मैं देख नहीं पाया हूं। जिस रात वह सपने में मिली थी उस दिन भी सुबह सोकर उठा तो वह नहीं थी। वह मेरे सोकर उठने के पहले चली गई थी।

डोरगा खेतों के बीच से अपने लम्बे लम्बे मजबूत और वजनी पैरों के साथ चला आ रहा था। उसे देखकर मैं खुश हो गया। दूर से ही उसने नमस्कार किया। वह कपड़े से पगड़ी के लिए तह बनाता चला आ रहा था। कपड़े की तह पूरी तरह बन गई तो उसने अपने बड़े बालों को उंगलियों से संवारा और पगड़ी बांधने लगा। चलते समय भी उसे पगड़ी बांधने में कोई कठिनाई नहीं हो रही थी। पास आने पर उसने फिर से नमस्कार किया। कान में खोंसी बीड़ी निकाली और अलाव में से दो अंगारे ढूँढ़कर बीड़ी जलाने लगा। बीड़ी जल जाने के बाद उसने तीन चार लम्बे कश खींचे और सीधे मेरी ओर देखा।

दयु क्लेयार सिंह तिलोका लोन तेके दयु। चलो क्लेयार सिंह, तिलोका के घर की तरफ चलो। फिर टूटीफूटी हिंदी में समझाते हुए कहा कि वह दो दिनों से तुम्हें खोज रही थी। लेकिन तुम नजदीक के गांव में चले गये थे। रात में तुम लोगों के आने का पता हम लोगों को चल गया था। तिलोका ने रात में ही मुझसे कहा था कि तुम सुबह क्लेयार सिंह के साथ घर पर आना।

अइतो हम लोगों के तिलोका के घर जाने के पहले एक एक दोना मंद पीने के लिए देना चाहती थी। मैंने कहा कि सुबह सुबह नहीं पी पाता अइतो। लेकिन वह नहीं मानी। उसने सोचा कि मैं दूसरे के घर जा रहा हूं। लौटते तक दो तीन घंटे लग सकते हैं इसलिए मुझे खाली पेट नहीं जाना चाहिए।



जब मैं एक दोना मंद पीने के लिए तैयार हो गया तो उसने जबरन दो दोने और पिलाये। उसके बाद तम्बाकू खाते हुए हम चल दिये।

मैं और डोरगा झाड़ियों, खेतों और पेड़ों के बीच से चले जा रहे थे। कहीं पर मोड़ था तो कहीं कुछ नहीं। कहीं झाड़ियों में मेरे कपड़े उलझ जाते थे। रास्ते में ढेर सारे दीमक के दूह थे। उन रास्तों पर चलते हुए दीमक के दूहों से बचते हुए भी उनसे टकरा जाता था। एक तो वे दूह बड़े-बड़े और नजदीक थे और दूसरे कि दो दूहों के बीच से सिर्फ पांव रखने लायक पगडंडी जाती थी।

थोड़ा आगे जाने पर झाड़ियों के बीच से एक लड़का दौड़ता हुआ निकला और ठिठककर रास्ते के पास एक तरफ पेड़ की ओट में खड़ा हो गया। उसके शरीर पर कपड़े का एक टुकड़ा भी नहीं था। यहां पर सात-आठ साल तक के बच्चे आमतौर पर कुछ नहीं पहनते हैं। खूब हुआ तो कमर में पहने डांडा के सहारे दो बीते का एक कपड़ा लंगोट की तरह खोंस लेते हैं। वह लड़का तब तक हमें जाता देखता रहा जब तक उसकी आंखों से हम ओझल नहीं हो गये।

तिलोका इन्हीं रास्तों से रोज आती जाती होगी। रात के अंधेरे में, ठंड हो, गर्मी या बारिश। उसे रोज सोने के लिए उसी घर में जाना पड़ता है, जहां लगभग सभी अविवाहित लोग विवाहित होने तक सोते हैं। क्या तिलोका के कपड़े भी झाड़ियों में ऐसे ही उलझते होंगे। हां, हां जरूर उलझते होंगे। उस सपने की रात में भी उसके कपड़े उलझे थे, जब उसकी पीठ पर चांदनी की लकीर दिख रही थी। मेरा मन हुआ झाड़ियों के कांटों को छू कर देखूं, जिनसे उसके कपड़े उलझते होंगे। मैंने ठिठककर झाड़ी की एक डगाल को पकड़ा। आहिस्ते से उस डगाल की एक पत्ती को धीरे धीरे छूता रहा। फिर तीन चार और पत्तियों को छुआ। सिर्फ यह देखने के लिए कि क्या सभी पत्तियों के एक से स्पर्श हैं या नहीं। ऊपर की पत्तियां नरम, कोमल और चिकनी थीं। डगाल के नीचे की पत्तियां कड़ी और खुरदरी थीं। फिर एक कांटे को धीरे से छुआ। नुकीला, ठोस और चिकना कांटा था वह। उसके नुकीलेपन का आभास धीरे धीरे उंगलियों के पोरों से करता रहा। फिर एक कांटे को अंगूठे के सहारे तोड़ा और वहां से चल दिया।

पहाड़ी के पास पहुंचने के बाद भी कोई घर दिखायी नहीं दे रहा था। डोरगा का कहना था कि तिलोका का घर इसी पहाड़ी पर है। अभी तक रास्ते में पत्थर कहीं नहीं मिले थे लेकिन पहाड़ी पर चढ़ते समय बड़े बड़े पत्थर इधर उधर बिखरे हुए थे। पत्थरों के बीच से होकर हम तिलोका के घर जा रहे थे। थोड़ी देर बाद पेड़ कम हो गये और इमली के ढेर सारे पेड़ नजर आने लगे। उनके नीचे की कोमल, नम जमीन पर हम आगे बढ़ रहे थे। चारों ओर छोटी हल्की पत्तियां बिखरी थीं।

मैं मन ही मन सोच रहा था कि अब तिलोका का घर आने वाला है। वह क्या कर रही होगी? वह हमारा इंतजार कर रही होगी। खड़ी होगी। कहीं बैठी होगी। हमारे आने के रास्ते की ओर निगाह लगाये देख रही होगी। घर के काम कर रही होगी। क्या कर रही होगी वह?

जैसे ही हमने पेड़ों के झुंड को पार किया एक छोटा सा घर सामने दिखायी दिया। उस घर के सामने कोई नहीं था। जंगल में पहाड़ी पर एक अकेला घर सामने खड़ा था। वहां बेहद शांति थी। ऐसा लग रहा था जैसे इस घर को यहां रहने वालों ने वर्षों पहले छोड़ दिया है। अब यहां कोई रहता नहीं है। दीवार के एक कोने से तीन चार मुर्गियां दौड़ती हुई एक तरफ निकल गईं। क्या यह तिलोका के घर की मुर्गियां हैं या जंगली मुर्गे हैं? यदि उसके घर के मुर्गे हैं तो घर इतना शांत कैसे है? ऐसा लगा रहा है जैसे यह घर प्रकृति का ही कोई हिस्सा हो, जो किसी पहाड़ की तरह या खेत की तरह वहां सदियों से हो।

घर में एक दरवाजा हमारे बिल्कुल सामने दिखायी दे रहा था। दरवाजे के पार अंदर कुछ भी नहीं दिखायी दे रहा था। यहां किसी के रहने के कोई चिह्न नहीं आ रहे थे। क्या तिलोका यहीं रहती होगी? यदि वह यहीं रहती है तो दिख क्यों नहीं रही है? उसे अब तक तो दिखना चाहिए था।

थोड़ा नजदीक आने पर दरवाजे के अंदर से उड़ती हुई धूल दिखायी दी। जब घर में झाड़ू लगाते हुए कोई बाहर आता है, तभी ऐसा दिखायी देता है। तो क्या तिलोका अभी झाड़ू लगा रही है? उसने तो हमें बुलाया है। उसे तो इंतजार करते हुए होना था। इतने में दरवाजे के पास से तिलोका बाहर निकली। वह जल्दी जल्दी झाड़ू लगा रही थी। हम दरवाजे के पास आये। वह अब तक झाड़ू ही लगा रही थी। वह हमारे आने से बिल्कुल बेखबर थी।

जब उसने झाड़ू देते हुए आधा चक्कर लगाया तो अचानक उसे यह आभास हुआ जैसे हम लोग आ गये हैं। उसने झाड़ू वहीं छोड़ दिया। वह जल्दी से अंदर गई। जब वह बाहर निकल रही थी तो उसके हाथों में चटाइयां थीं। घर के सामने जमीन के बहुत बड़े खाली टुकड़े के बीचोंबीच पेड़ की छाया के नीचे उसने चटाई रख दी। फिर जल्दी से लौट गई। झाड़ू लाकर चटाई के पास के काफी बड़े हिस्से को बुहारा और उस पर चटाई बिछा दी।

—उदा क्लेयार सिंह, कहते हुए तिलोका ने अपने हाथ मेरे हाथों में देकर नमस्कार किया। मैंने भी उससे हाथ मिलाते हुए नमस्कार किया। आज उसके बाल सामान्य से अधिक बिखरे हुए थे। उसके बाल सूखे हुए भी लग रहे थे। सोकर उठने के बाद उसने अपने अस्त व्यस्त बालों को गीले हाथों से संवारा होगा। इस कारण उसके बाल कहीं दबे हुए और कहीं उठे हुए थे। जूड़े से कुछ बाल निकलकर इधर उधर फैले हुए थे। कपड़े भी मटमैले धूल में सने थे। उसकी साड़ी काफी पुरानी थी और लगातार इस्तेमाल करते रहने से पतली हो गई थी। तिलोका के शरीर पर जगह जगह पानी की बूंदें थीं जो काम करते समय पड़ी होंगी, जिनके निशान शरीर पर दिखायी दे रहे थे। बावजूद इस सबके आज वह अधिक हल्की फुल्की, स्वतंत्र, जिम्मेदार, कोमल और कमनीय लग रही थी। उसका चेहरा ठंड में भी गरम और कोमल जान पड़ता था। हमारे पास बैठते समय उसने डोरगा के सिर पर बंधी पगड़ी को अपने हाथों में लिया। खड़ी हुई और उसे साड़ी पर तौलिए की तरह बांध लिया। बांधने के बाद वह बैठने ही वाली थी कि बैठते बैठते उठ खड़ी हुई। वह अंदर गई और कमरे से अपने एक हाथ में एक बोटल लिए हुए बाहर निकली। उसने डोरगा को आवाज देकर बुलाया। उसके हाथों में बोटल पकड़ाई और चौखट के ऊपर हाथ डालकर खोंसे गये हरे ताजे पत्तों का एक बंडल निकाला। डोरगा और तिलोका मंद, पत्तियां और सीकें लेकर आपस में कुछ बात करते और हंसते हुए चले आ रहे थे। मैं चुपचाप बैठा उन्हें आता देख रहा था। नजदीक आने के बाद वह बैठी और हंसते हुए कहा— पीन वसीन्ता क्लेयार सिंह? ठंड लग रही है क्लेयार सिंह?

मैंने अपने दोनों हाथ बांध रखे थे। मुझे हल्की ठंड लग रही थी। फिर भी मैंने कहा— नहीं, ठंड नहीं लग रही है। बस तुम्हें आते हुए देख रहा था। डोरगा मेरी कही गई बातों को तिलोका को बता रहा था और उसकी बातों को हिंदी में मुझे बता रहा था।

क्या देख रहे थे? तिलोका ने पूछा।

तुम्हें देख रहा था। मैंने कहा।

मुझे? लेकिन मुझमें क्या देख रहे थे?

तुममें, मैं तुम्हें देख रहा था। अलग से पूछोगी तो कुछ नहीं और ऐसे कहां तो सब कुछ। जब तुम बहुत दूर थी तब तुम्हें बोटल लाते, पत्तियां निकालते और सीकें खोजते हुए देख रहा

था। बाद में तुम्हें चलते हुए तुम्हारी चाल देख रहा था कि इस समय तुम कैसे चल रही हो। तुम्हारे चलने से क्या अनुमान लगाये जा सकते हैं। फिर तुम्हें डोरगा से बात करते और खुश होते देख रहा था। फिर थोड़ी देर तक तुम्हारे चेहरे को देखा, जब तुम बैठ रही थी। बैठने के बाद जब तुम मुझे देख रही थी तो मैं सिर्फ तुम्हारी आंखों को देख रहा था। तुम्हारी आंखों की सफेदी, आंखों की कोर, आंखों की डोरियां, हिलती हुई पुतलियां और पुतलियों के अंदर उभरते अलग अलग भावों के रंग देख रहा था। जब तुमने दोने बनाने शुरू किये तो पत्तियों और सींक के साथ चलती हुई सिर्फ तुम्हारी उंगलियां देख रहा था। और अभी तुम्हारे चेहरे के रंग देख रहा हूँ कि तुम्हारे चेहरे का रंग मेरी बातों को सुनते समय कैसे बदल रहा है। तुम्हारे चेहरे पर कैसी उत्सुकता है। मेरी बातों को सुनने की प्रतीक्षा में तुम्हारे चेहरे के भाव कब और कितने बदल रहे हैं और कब कोई भाव बिल्कुल मूर्त हो जा रहे हैं। क्या तुम्हें मालूम है कि जब तुम्हारे चेहरे पर कोई भाव बिल्कुल मूर्त हो जाता है और तुम्हें जैसे ही इसका आभास होता है तो तुम तुरंत अपनी नजरें झुका लेती हो और पत्तियां तलाशने लगती हो?

क्लेयार सिंह तुम इतनी सारी चीजें देख रहे थे और मुझे लग रहा था तुम सिर्फ इंतजार कर रहे हो कि किस समय मैं तुम्हारे पास आऊँ। मैं इस बीच सिर्फ यह सोच रही थी कि सभी काम जल्दी जल्दी करें और आकर तुम्हारे पास बैठें। मुझे तुम्हारे पास बैठने में अच्छा लगता है। उस समय तो सबसे अधिक जब तुम कुछ कहना चाहते हो पर कह नहीं पाते हो। क्योंकि तुम मेरी बोली ठीक से नहीं जानते। ठहरो मैं तुम्हारे लिए कुछ लेकर आती हूँ। यह कहकर तिलोका उठकर चली गई। दरवाजे के अंदर से थोड़ी देर बाद धुआं निकलता दिखा। वह आग जलाकर कुछ काम कर रही होगी।

मैंने डोरगा से पूछा तिलोका क्या लेने गई है?

वह कुछ दाने लेने गई होगी साहब। तुम लोग मंद पीने के साथ कुछ न कुछ खाते हो, इसीलिए वह खाने के लिए कुछ खोजने गई होगी।

मंद पीने से मेरे शरीर में थोड़ी गरमी आ गई थी। हाथ पैर ढीलेकर अब मैं ठीक से बैठ चुका था। पहले की तरह सिकुड़ा हुआ नहीं था। डोरगा ने एक बीड़ी जलाकर दी। मैं धीरे धीरे बीड़ी का कश लेता रहा। कुछ कश लेने के बाद बीड़ी मैंने अपने कान में खोंस ली। मैंने डोरगा से कहा कि डोरगा मुझे तिलोका बहुत अच्छी लगती है। मैं उसे प्यार करता हूँ। मैं उसे बहुत दिनों से सपने में खोज रहा था। वह मिल गई है लेकिन मैं यह कैसे कहूँ। मुझे उससे यह बात कहते नहीं बन रहा है।

तुम कहकर देखो साहब। वह जानती है कि तुम उसे प्यार करते हो।

डोरगा से यह सुनकर मेरी विचित्र हालत हो गई। रुई के फाहे गर्मी के दिनों में उड़ते हुए जिस तरह आसपास फैलने लगते हैं ठीक उसी तरह मैं हल्का महसूस कर रहा था। इतने में तिलोका आती हुई दिखायी दी। बांस की एक छोटी टोकनी उसके हाथों में थी। नजदीक आकर उसने टोकनी को सामने रखा। उसमें गरम किये हुए अरहर और सेमी के दाने थे। तिलोका को देखते ही मेरी स्थिति असहज होने लगी। मैंने तिलोका का हाथ पकड़ा और कहा तिलोका तुम मुझे बहुत अच्छी लगती हो।

हां मुझे मालूम है। उसने हंसते हुए कहा।

और मैं तुम्हें कैसा लगता हूँ?

तुम भी मुझे बहुत अच्छे लगते हो, तिलोका ने कहा।

लेकिन मैं तुम्हें प्यार करता हूँ तिलोका।

हिंगो, क्लेयार सिंह मैं भी तुम्हें प्यार करती हूं।

उसकी बातें सुनकर मेरी हिम्मत बढ़ती जा रही थी। मुझे अपने मन की सभी बातें कहने की तीव्र इच्छा हो रही थी और मैं अपने को रोक नहीं पा रहा था। शायद यही समय है, जब मुझे तिलोका से कहना चाहिए कि मैं उससे क्या चाहता हूं। यदि मेरी बातें सुनकर वह इनकार कर देती है तो?

तो क्या हुआ, बातें साफ हो जायेगी।

पर बात साफ होने से क्या होगा। वह इनकार कर देगी तो मैं अपमानित महसूस करूंगा। नहीं, नहीं, इसमें अपमान की क्या बात है। यह तो उसकी इच्छा है। हो सकता है, वह किसी और से शादी करना चाहती हो।

तिलोका यदि हां कहती है तो?

तो क्या फिर मैं उससे शादी कर लूंगा।

उससे शादी करने के बाद मैं कहां रहूंगा? क्या मैं अपने समाज में रह सकता हूं। घर, परिवार और मित्र यार क्या कहेंगे। यही न कि इसने जंगल की एक लड़की से शादी कर ली है।

यदि तिलोका हां कहती है और उससे मैं शादी कर लेता हूं तो क्या उस समय भी वह इतने ही कम कपड़े पहनेगी?

हां जरूर पहनेगी। यह उसकी आदत है।

लेकिन उसे इतने कम कपड़ों में देखकर घर आने जाने वाले क्या सोचेंगे?

जो भी सोचें, सोचते रहें। आखिर वह मेरी पत्नी होगी। तिलोका शहर के तौर तरीके नहीं जानती लेकिन आदमी को और उसके व्यवहार को जानती है। वह प्यार करना और उसका सम्मान करना जानती है। हम हमेशा साथ रहेंगे।

लेकिन तिलोका शहर में जाना और वहां रहना पसंद नहीं करेगी तो?

तो क्या हुआ मैं गांव में रहना शुरू कर दूंगा। मैं जंगल से लकड़ी काटकर लाऊंगा। तिलोका पत्तियां तोड़कर लायेगी। हम एक साथ खाना बनाएंगे, खाएंगे। हमारे पास खूब समय होगा। हम खूब बातें करेंगे, बाजारों और मेलों में जाएंगे। फिर जो मैं चाहता हूं, इन लोगों के बारे में वह यहीं रहकर करूंगा। वे काम करूंगा, जिनके लिए शहरों में बैठकर योजनाएं बनायी जाती हैं लेकिन वह उसी रूप में कभी पूरी नहीं हो पाती हैं। मैं उसके साथ यहां रहकर यही काम करूंगा। एक स्कूल खोलूंगा। उसमें बच्चों के साथ खेलूंगा, पढ़ूंगा। उनके साथ जंगलों में घूमूंगा। फूल, पत्तियों और जड़ों के बारे में जानूंगा। उन्हें इकट्ठा करूंगा। देसी दवाखाना खोलूंगा, जहां यहीं की वनस्पतियों से बनायी गई दवाइयां होंगी। यह सब मैं लगातार सोचता जा रहा था।

मैंने तिलोका की ओर देखा वह डोरगा से बातें किये जा रही थी। मैं अपने ही अंतर्द्वंद्व में फंसा हुआ था। सोच रहा था कि तिलोका से शादी करने के बाद का जीवन क्या अव्यावहारिक नहीं होगा। सदियों पीछे का जीवन जैसा। जैसे मैं बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में रहकर सत्रहवीं शताब्दी में रहने जीने की बात सोच रहा होऊं। पर यह किसी भी शताब्दी का जीवन हो हमें इसी को स्वीकार करना है। अंततः व्यक्ति क्या चाहता है। आजादी, शांति, सुरक्षा, सहिष्णुता और जीवन को खूब जीने की इच्छा के अलावा हम और क्या चाहते हैं। यह सब सोचते हुए अंततः मैं यह तय कर चुका था कि मुझे तिलोका के समक्ष शादी का प्रस्ताव रखना चाहिए। मैं इसी शताब्दी के दूसरे प्रकार के जीवन को स्वीकार करने की बात कर रहा

हूं। क्योंकि यह भी मेरा यथार्थ है। एक ही समय में कई तरह की वास्तविकताएं होती हैं। उनमें मैं एक वास्तविकता को चुन रहा हूं। इस चुनाव में थोड़ी तकलीफ हो सकती है।

तिलोका ने बोलत उठाकर मेरे दोने में थोड़ी और मंद दी। मैंने दो घूंट में उसे खतम कर लिया। मैंने तिलोका से पूछा, तिलोका मैं तुमसे शादी करना चाहता हूं। तुम मुझसे शादी करोगी।

नहीं, क्लेयार सिंह, तुमसे शादी नहीं कर सकती।

उसका जवाब सुनकर मैं जड़ हो गया। बिल्कुल शांत। अपनी आंखें उठा नहीं पा रहा था। इसके बाद कुछ कहने की स्थिति में भी नहीं था। मैं सोच नहीं पा रहा था कि आखिर क्यों उसने इनकार कर दिया। यह सब जितनी तेजी से घटित हुआ था, उससे मैं आश्चर्यचकित था। मुझे ध्यान आ रहा था कि न जाने कितनी लड़कियों ने मेरे सामने शादी का प्रस्ताव रखा था और हर बार मैंने इनकार किया था।

आज पहली बार मैंने शादी का प्रस्ताव रखा और वह अस्वीकार कर दिया गया। अस्वीकार जितनी सहज प्रक्रिया है, उतनी ही सहज प्रक्रिया स्वीकार भी है। यदि तिलोका ने हां कहा होता तो इसी क्षण से मैं उसकी तरह होने और बनने की कोशिश करने लगता। उसकी तरह होने के लिए मैं अपने में जरूरी बदलाव लाना शुरू कर देता। लेकिन अब इसकी जरूरत नहीं है। इस समय मैं वैसा ही हूं, जैसा पहले था। पहले की तरह ही रहूंगा।

तिलोका चुपचाप बैठी थी। एक लकड़ी से जमीन पर निशान बनाने की कोशिश कर रही थी। गरदन इतना नीचे झुका ली थी कि उसका चेहरा दिखायी नहीं दे रहा था। उसकी गरदन के पीछे पतले भूरे रेशम की तरह बाल धीरे धीरे हिल रहे थे। कुछ बाल पसीने से चिपके हुए थे। लाज से उसका चेहरा लाल था।

हम तीनों काफी देर तक इसी तरह बैठे रहे। डोरगा हमारी बातचीत में सहभागी था, इस कारण वह भी शांत बैठा था। वह बीच बीच में पहलू बदलता हुआ कान में खोंसी बीड़ी निकालता। उसे उलट पलट कर देखता और जलाने की जगह फिर से कान में खोंस लेता। इस समय जो वातावरण था, उसे तोड़ने की इच्छा किसी में नहीं थी। जमीन पर हरे पत्ते के दोने पड़े थे और हवाओं में इमली की पत्तियों की सरसराहट फैली थी।

तिलोका ने बिना पहलू बदले सिर उठाकर मेरी ओर सीधी निगाहों से देखा। उस निगाह में कोई झिझक नहीं थी। बल्कि अपार विश्वास और प्रेम था। यह भाव उसकी आंखों में भी दिखायी दे रहा था। उसके इस तरह से देखने में सब कुछ कहा और सुना जा रहा था, जो ऐसे समय में शायद शब्द नहीं कर पाते।

अपनी विचारवान और भावप्रवण आंखों से तिलोका थोड़ी देर मुझे देखती रही। इस समय उसकी जैसी परिस्थिति थी, वह मुझसे जो कहना या बताना चाहती थी, वे ही बातें उसके चेहरे पर साफ साफ दिखायी दे रही थीं। तिलोका यह देखकर संतुष्ट हो गई कि मैं उसके चेहरे के भाव को पूरी तरह समझ चुका हूं। यह जानकर उसने फिर से अपनी आंखें झुका लीं और इस तरह बैठी रही जैसे वह वर्षों से इसी मुद्रा में बैठी हो।

डोरगा बहुत बारीकी से वातावरण का निरीक्षण कर रहा था। उसकी उपस्थिति इतनी सहज थी कि हममें से किसी को भी उसकी उपस्थिति का अहसास नहीं था। उसने धीरे से अपने दाहिने पैर को आगे बढ़ाया फिर पंजों पर जोर देता हुआ उठा। उसने पास रखी मंद की बोलत उठाई और जोर से कहा— पड़म। पड़म क्लेयार सिंह। लो, लो क्लेयार सिंह। मैंने अपना दोना देखा, वह हवा के कारण उलटा हो गया था। मैंने दोना सीधा किया तो उसमें इमली की चार पांच हरी पीली पत्तियां दिखीं। मैं पत्तियां साफ करने लगा।

तिलोका नीचे देखते हुए सब कुछ देख सुन रही थी, जो उसके आसपास हो रहा था। उसने ताजी पतियां लेकर नया दोना बनाकर मेरी ओर बढ़ाया।

दोना देते समय वह पहली बार झिझक रही थी। शायद उसे संकोच हो रहा था कि उसने अभी थोड़ी देर पहले मेरे विवाह के प्रस्ताव को अस्वीकार किया है। इस बार दोना देते समय पहले जैसी चंचलता और अधिकार भाव नहीं था। दोना पकड़ाते समय उसकी उंगलियों और आंखों में विनम्र निवेदन का भाव था। मैंने दोना लिया। डोरगा ने मंद डाली। वह बारी बारी से मंद डालता गया और हम सब पीते रहे। जब तक मंद समाप्त नहीं हो गई, तब तक हम उसी तरह बैठे रहे और सिर्फ डोरगा बोलता रहा। मंद खत्म होने के बाद डोरगा ने ही वापस घर चलने के लिए कहा कि चलो बहुत देर हो गई है। अइतो इंतजार कर रही होगी।

डोरगा की बात सुनकर हम खड़े हुए। हाथ मिलाते हुए हमने नमस्कार किया। तिलोका ने बहुत धीरे से सकुचाते हुए कहा कि शाम को कहीं नहीं जाना। रात में हम अपने घर से खाना लेकर अइतो के घर आएंगे। हमने हामी भरी और यह सोचता हुआ पहाड़ी से चुपचाप उतरता रहा कि अब वह ऐसा क्यों कर रही है? अब मेरे लिए मंद और भोजन लेकर आने के लिए क्यों कह रही है? वह शाम को आयेगी तो क्या उसे अटपटा नहीं लगेगा। अटपटा लगने की स्थिति की कल्पनामात्र से मैं असहज होने लगा। उसके आने की सूचना से मुझे अच्छा लग रहा था। वह पास रहे ऐसी मेरी इच्छा हो रही थी।

(3)

पहाड़ी से उतरने के बाद, घने पेड़ों, दीमक के ढूँहों, कंटीली झाड़ियों और खेतों के बीच से गुजरते हुए हम लौट रहे थे। इस रास्ते पर मैं सिर्फ एक बार चला था। लौटते समय लग रहा था जैसे ये सभी चीजें मेरे जीवन से विदा ले रही हैं। ये सभी दृश्य चलचित्र की तरह हमारे जेहन में आये थे, उनसे कोई रिश्ता बनता, उसके पहले ही वे हमसे अलग हो रहे हैं, हमसे दूर हो रहे हैं। मैं इनसे छूटता जा रहा हूँ। यहां फिर कभी वापस आना नहीं होगा। इनकी भूली बिसरी यादें कभी आएंगी तो मैं चौंक जाऊंगा। इस रास्ते की कल्पना करता हुआ यदि कहीं किसी पल खड़ा रहूंगा तो मेरे लिए यह समय इस रास्ते की तरह ठहर जायेगा। मेरी कल्पना में इस रास्ते पर तिलोका चलती हुई दिखायी देगी। वह इन रास्तों पर इस तरह चलेगी जैसे इस रास्ते पर फिर कभी कोई नहीं आयेगा और अंत तक यह रास्ता यूँ ही रहेगा, किसी के इंतजार में। इंतजार में तिलोका की गतिशील किंतु मंद मंद स्मृतियां होंगी, झांकती हुई, जिसकी याद आते ही मैं अनमना हो जाऊंगा और सारी सारी रात खुले आकाश के नीचे किसी सुनसान में चुपचाप ठिठुरता खड़ा रहूंगा।

कंटीली झाड़ी से गुजरने के दस बीस कदमों बाद अचानक ध्यान आया कि जाते समय यहां कुछ दिखायी दिया था। एक नंगधड़ंग बच्चे की याद आई, उसकी दो आंखें जो जाते समय हमें देख रही थीं। याद आते ही मैं पीछे मुड़ा। उस जगह को देखने की इच्छा हुई जहां वह खड़ा था। पीछे मुड़कर देखते ही एक पेड़ के पीछे से उसका सिर दिखायी दिया और उस पर हंसती हुई दो आंखें। वह किसी ओर से तेजी से दौड़ता हुआ आया था। पेड़ को अपने हाथों से पकड़े खड़ा था। उसका शरीर पेड़ के पीछे था। वहीं से वह झांक रहा था। उसे देखकर खुशी की अनुभूति हुई। उसकी हंसी देखने से ऐसा लगा जैसे खाली हाथ नहीं लौट रहा हूँ। उसकी हंसी आज भी घने जंगल के विस्तार में, उन्हीं झाड़ियों के पास अटकी हुई है।

रास्ते में खेतों के बाद पेड़ों का झुंड था। वहां एक लड़के ने गुलेल से एक पेड़ की ओर निशाना लगाया। गुलेल का पत्थर पेड़ और पत्तियों के बीच से ठीक उस जगह पड़ा, जहां एक चिड़िया बैठी थी। चिड़िया ने अपनी ओर गुलेल तानते लड़के को देख लिया था। उसने उड़ने के लिए अपने दोनों पंखों को गर्दन की ओर थोड़ा उठाया। लेकिन उड़ने के पहले वह थोड़ी देर के लिए ठिठक गई। उसे यह विश्वास नहीं हुआ कि वह लड़का गुलेल चला ही देगा। लेकिन जब उसे विश्वास हो गया कि गुलेल से गोटी छूट गई है और उसकी ओर चली आ रही है तो चिड़िया अपनी छोटी गोल बिंदियों की तरह आंखों को अपनी ओर आती गोटी की चाल से हटा नहीं पाई। सनसनाती आती गोटी की ओर से ध्यान न हटा पाने के कारण वह घबराई, उसकी सांसें तेज हुईं। उसने अपनी आंखें झपकाईं और झपकाने के बीच ही उड़ जाना चाहा। ठीक इसी वक्त गोटी उसकी गर्दन के समानांतर आती हुई पेट के पास पंखों से टकराई। उसके पंख उड़ने के लिए थोड़े खुल चुके थे और उनमें उड़ने की गति भर चुकी थी। गोटी चिड़िया के पंख के किसी हिस्से से टकरायी, जिस कारण उसके कुछ पंख टूटकर हवा में रूई की तरह उड़ते हुए नीचे गिरे और चिड़िया एक पत्ती से टकराती हुई, तेज टिटकारी की आवाज में सामने की ओर उड़ चली। उड़ते ही उसे अहसास हुआ कि मैं हवा में उड़ती हुई अपनी चाही हुई दिशा में नहीं जा पा रही हूं। बल्कि उड़ान के साथ जमीन की ओर धीरे धीरे गिरती जा रही हूं। जमीन पर गिरने तक उसे अपने गिरने का विश्वास नहीं हो रहा था। गिरने के बाद उसने देखा कि झुरमुटों से दौड़ती हुई एक लड़की आ रही है। थोड़ी देर बाद उस लड़की ने फड़फड़ाते हुए पंखों के साथ उसे पकड़ लिया।

लड़की ने उसके पंखों की नरमी को सहलाया और खुश हुई। टपकते हुए खून की बूंदों से बेपरवाह लड़की ने उसके दोनों पैरों को एक साथ पकड़ा। चिड़िया उल्टी लटक चुकी थी। उसकी आंखों में आसमान था। वह अपनी नजरें आसमान की ओर से हटा नहीं पा रही थी। लड़की उसे पकड़े हुए पेड़ों के बीच चली जा रही थी। अंतिम बार हमने बस इतना देखा कि चिड़िया की गर्दन लटक चुकी थी। वह शायद थक चुकी थी। अब वह धीरे धीरे बिना घबराये अपनी अंतिम सांसें ले रही थी। उसे अहसास हो रहा था कि पहली बार उसके जीवन में सिर्फ कुछ सांसें बची हैं, जिन्हें वह सब कुछ भूलकर चुपचाप ले रही थी।

घर पहुंचा तो अइतो बाड़े से टिककर इंतजार कर रही थी। तिलोका द्वारा अस्वीकार सुनने और चिड़िया की अंतिम उड़ान देखने के बाद मन खिन्न था। मैं कुछ भी सोचने समझने की स्थिति में नहीं था। खाली पेट मंद पीने और पैदल चलने के कारण शिथिल हो चुका था। घर आने पर हाथ पैर धोया और चटाई पर लेट गया। न जाने कब नींद आ गई। अइतो के उठाने पर उठा। खाना खाया और उससे बातें करता रहा। खाना खाने के बाद डोरगा चला गया था। मुझे फिर से झपकी आने लगी। मैं चादर ओढ़कर सो गया। उठा तो सूरज की किरणें सिमटकर आसमान के एक कोने में चमक रही थीं। हल्की पीली और थोड़ी रक्तिम किरणें। किरणों के पास सफेद छितराये बादल थे। शांत, चुपचाप, दूर दूर स्याह बादल दिख रहे थे। अंधेरा फैल रहा था।

आसमान देखते देखते अचानक तिलोका की याद आई। तिलोका अपने घर से चल चुकी होगी। हो सकता है वह रास्ते में दीमक के दूहों के पास हो। कंटीली झाड़ियों, घने पेड़ों और खेतों के बीच से ठंडी हवा के बीच चली आ रही होगी। उसके हाथों में मंद की बोतल होगी। आज उसकी ओर से यह मेरा आखिरी स्वागत होगा।

अइतो अन्य दिनों की अपेक्षा आज अधिक चुपचाप है। चुप भी इतने सहज ढंग से जैसे

यह उसका सामान्य व्यवहार हो। जैसे वह हमेशा से ही कम बोलती हो। कोई और दिन होता और अइतो इतना कम बोलती तो मैं समझता उसकी तबीयत खराब है। लेकिन आज मैंने कुछ पूछा नहीं। अन्य दिनों की तरह उसने मुझे दिन में सोते से उठाया भी नहीं।

अइतो जब तक घर रहती थी हमेशा मेरे आसपास बनी होती थी। मेरे लिए हमेशा कुछ न कुछ खाने पीने की चीजें पत्तों में लाकर मेरे सामने रखती और जबरन खिलाती। लगातार बात करती रहती और दिन में बिल्कुल नहीं सोने देती थी। पर आज मैं दिन में दो बार सोया और जब तक खुद नहीं उठा, उसने मुझे नहीं उठाया।

वह अंदर रसोईघर से जलती हुई दो लकड़ियां लाई और घर के बाहरी आंगन के बीचोंबीच रखकर सुलगाने लगी। मैं दत्ती पर चुपचाप बैठा उसे आग सुलगाता देखता रहा। आग सुलग जाने के बाद वह मेरे कमरे में आई। चटाई लाकर आग के पास बिछाया। फिर धीरे से इस तरह मेरे पास आ बैठी जैसे कमरे में जाते जाते यूं ही रुक गई हो। मैं समझ गया कि डोरगा ने तिलोका के साथ की पूरी बातें अइतो को बता दी हैं।

अइतो ने कहा— क्लेयार सिंह...किस पोतेंता। दयु...इदु उदा। क्लेयार सिंह! आग जल चुकी है। उठो। यहां बैठो। मैं अइतो की पूरी बातें सुनने के पहले ही समझ चुका था कि वह आग के पास बैठने के लिए कहना चाहती है। वह मेरे उठने के बाद से अब तक यही सोच रही होगी कि वह मुझसे क्या और किस तरह की बातें करे ताकि मुझे तिलोका की बातों का स्मरण न हो और यह भी न लगे कि वह तिलोका की बात जान चुकी है। जानने के बाद वह कुछ ऐसा नहीं करना या कहना चाहती थी, जिससे मुझे यह न लगे कि अइतो को मेरी शादी के प्रस्ताव वाली बात से और तिलोका के इनकार से कोई फर्क पड़ा है। उसके उठने के लिए कहते ही मैं उठने लगा तो अइतो से रहा नहीं गया। वह वैसे ही उठी जैसे गाय बछिया को अपने पास आते देखकर ठिठकती है या उसकी ओर जाती है। मेरे उठते समय उसने मेरे हाथों को इस ढंग से पकड़ा जैसे मैं उठने में देर कर रहा होऊं। उसने हाथों से पकड़कर मुझे उठाया और आग की ओर ले चली। इस तरह से उसने मेरा हाथ पकड़ा था जैसे कह रही हो कि हां मैं तिलोका से तुम्हारे प्रस्ताव की बात जान चुकी हूं। पर तुम ऐसा मत सोचो कि मैं जान चुकी हूं। उसके इनकार से मुझे भी चोट पहुंची है। तुम दुःखी न होओ। चलो खुशी से आग के पास बैठो।

मैं आग के पास ज्योंही बैठा अइतो जल्दी से घर के अंदर गई और प्लास्टिक के लाल गिलास में थोड़ी सी मंद लेकर जल्दी जल्दी मेरे पास आई। आते ही बिना कुछ कहे पूछे गिलास मेरे मुंह से लगाया और कहा कि पी जाओ। पिओ, पिओ कुछ नहीं होता।

अइतो जब मेरे प्रति अधिक लाड़ दिखाती है या जब सिर्फ इतनी मंद होती है कि वह और किसी को नहीं दे सके तो प्लास्टिक के इसी लाल गिलास में मेरे लिए मंद लाती है। गिलास को मेरे मुंह से लगाकर तब तक पकड़े रहती है, जब तक मैं एक ही सांस में पूरा पी न जाऊं। ऐसे समय मंद की तेजी से मेरी आंखों के कोरों में पानी की बूंदें छलछला जाती हैं और ओठों के किनारों से मंद की बूंदें बहती हुई ठोड़ी के पास से टपकने लगती हैं।

मंद खतम होने के बाद अइतो ने गिलास मेरे मुंह से अलग किया और मैं अपनी ठोड़ी और ओंठों के किनारे पोंछने लगा। इसी समय बाड़े के पास से लाठी अंदर आया। थोड़ी दूर पर खड़ा होकर अपनी पूंछ धीरे धीरे हिलाता रहा। लाठी के देर से आने पर अइतो ने उसे डांटा। डांटने के बाद वड्डे के बारे में पूछा कि वड्डे कहां हैं? डांट खाने के बाद लाठी ने पूंछ हिलानी बंद की और अपनी आंखें बंदकर धीरे से मेरे पास आया और सटकर बैठ गया। उसके बैठते



ही वड्डे बाड़े के अंदर आया। उसके साथ दूसरे गांव के उसके परिचित तीन चार मित्र भी थे। सभी अंदर आकर आग के पास बैठे। थोड़ी देर तक बातें कीं फिर सब उठ कर चले गये।

मैं तिलोका के बारे में सोच रहा था कि तिलोका अभी तक नहीं आई। मैं आग तापता हुआ उसी का इंतजार कर रहा था। अचानक लाठी उठा और घर के पिछवाड़े की ओर चल दिया। अइतो ने जोर से कहा कौन है? दीवार के बगल में पैरों की आवाजें आईं और कोने के पास आकर रुक गईं। लाठी वापस आकर फिर से आग के पास बैठ गया। घर के सामने कोने के पास आकर तिलोका रुक गई थी। अइतो ने उसे आने के लिए आवाज दी फिर भी वह वहीं खड़ी रही। उसे सामने आने में अटपटा लग रहा था। मैंने मुड़कर देखा अंधेरे में उसका हल्का आभास हो रहा था। जैसे वह सहमी सिमटी हुई चुपचाप खड़ी हो। अइतो उसी के पास जाकर धीरे धीरे बातें करने लगी। उनकी धीमी आवाजें मेरे कानों से टकराती थीं और मैं बेचैन होता जा रहा था। तिलोका सामने क्यों नहीं आ रही है? वह, वहां क्यों खड़ी है? क्या उसे संकोच हो रहा है?

अइतो उससे लगातार बातें किये जा रही थी और काफी अंतराल में तिलोका की हां या नहीं जैसी आवाजें सुनाई पड़ती थीं। उस आवाज को सुनकर मेरी उत्सुकता बढ़ रही थी। तिलोका को देखने की बड़ी तीव्र इच्छा हो रही थी। विवाह प्रस्ताव को अस्वीकार करने के इतने घंटों बाद वह कैसी दिख रही है? उसके चेहरे पर कैसे भाव हैं, इसे देखने के लिए मैं बेचैन हो रहा था।

अचानक उनकी बातचीत के बीच में अइतो की आवाज आई क्लेयार सिंह, तुम बैठना मैं आ रही हूं। तिलोका से बात कर रही हूं। यह मेरे लिए सम्भवतः संकेत था कि मैं तिलोका को आवाज दूं। बुलाऊं उसे। उसे नजदीक आने में जो झिझक हो रही है, उस झिझक को उसे बुलाकर दूर करूं।

मैंने अइतो की बातें सुनते ही जोर से कहा नमस्ते तिलोका। कब आई? वहां क्या कर रही हो? इधर ही आओ, आग के पास बैठो।

इतना सुनते ही तिलोका अपनी जगह से बोली, अभी आई क्लेयार सिंह अइतो से बातें कर रही थी। कहते हुए वह नजदीक आई। पास आकर अपने दोनों हाथों से मेरे हाथों को पकड़कर लगभग भींचते हुए नमस्ते किया।

नमस्ते क्लेयार सिंह...नमस्ते। और इतना कहकर वह सीधे अंदर रसोई वाले कमरे की ओर जाने लगी। दरवाजे के पास थोड़ी देर के लिए ठिठकी, मेरी ओर देखा, मुस्कुराते हुए झेंपी और फिर अंदर चली गई।

घर के बाहर और अंदर के बीच सात आठ कदमों का फासला था। हम दोनों के बीच हवा थी और सामने आग की लपटें बार बार उठती थीं, पतली होती थीं और टूट जाती थीं। उस टूटी हुई जगह पर तब तक नयी लपट आ जाती थीं। हम अपने सामने उठती लपटों को देख रहे थे। हम चुप और खोये खोये थे। हमारे शरीर से और आत्मा से भी अदृश्य लपटें उठ रही थीं। वे एक दूसरे के पास तक पहुंचती थीं और नजदीक पहुंचते ही टूट जाती थीं। यह प्रक्रिया लगातार थी। कभी कभी हम जिस समय अपनी आंखें उठाते ठीक उसी समय दूसरे की आंखें हमें देखती मिलती थीं।

थोड़ी ही देर में वड्डे किसी से बातें करता हुआ अंदर आया। साथ वाला आदमी आते ही मेरे बगल में आग के पास बैठ गया। वड्डे हाथ पांव धो रहा था। पानी निकालने और पैरों को हाथ से धोने की आवाजें आ रही थीं। तिलोका के घर की ओर से बहुत बड़ा लाल रंगत

वाला चांद पहाड़ों की ओट से ऊपर आ चुका था। हवाएं काफी तेज हो चुकी थीं। आग के पास बैठने के बावजूद पीठ, कमर और कनपटी ठंड के कारण अकड़ी सी थी। मैं आकाश पर चढ़ते लाल रंग के चांद को देख रहा था। वातावरण काफी रहस्यमय और उदास था।

तिलोका अपने घुटने पर ठोड़ी टिकाये जमीन की ओर देख रही थी। आग की लपटें उसके चेहरे को दिपदिपा रही थीं। मैंने ज्योंही उसकी ओर देखा उसने घुटने पर रखी अपनी ठोड़ी को हल्का टेढ़ा किया और मेरी ओर देखा। वह शांत थी बिल्कुल शांत। उसकी आंखों और चेहरे पर तटस्थता का रागमय भाव था। वह थोड़ी देर मेरी ओर देखती रही। फिर सिर ऊंचा किया और 'वाय क्लेयार सिंह' यानी आओ क्लेयार सिंह इस अंदाज में बोला जैसे बहुत देर से बुला रही हो। मानो वह मुझे हर हाल में उठने के लिए कह रही हो कि उठो, चलो और अब यहां आ जाओ।

तिलोका की बातें सुनकर मैं उठने को हुआ उसी समय वड्डे के साथ आये आदमी ने अपनी मिचमिची आंखें मुझ पर टिका दीं। उसने इस तरह मेरी ओर देखना शुरू किया जैसे वह मुझे पहली बार देख रहा हो। शायद उसे मेरे बैठे होने का बिल्कुल आभास नहीं था। उसे पहली बार यह लगा कि कोई दूसरा आदमी भी उसके पास बैठा है। नशे से बोझिल अपने शरीर को उसने झटका दिया और मुझे उठते देखता रहा। मैं जैसे ही अंदर की ओर चला, वह उठा और बाहर निकल गया। उसके जाते हुए पैरों की आवाजें कुछ दूर तक सुनाई देती रहीं। मैं आकर तिलोका के पास बैठ गया और उसके जाने के बारे में बहुत देर तक सोचता रहा।

मेरे आते ही तिलोका उठी और अंधेरी दीवार के ऊपर खुंसी हुई ताजी हरी पत्तियों के बंडल को उठाया। वड्डे भी आकर पास ही बैठ चुका था। मिट्टी की कड़ाही में कोई सब्जी पक रही थी। हम थोड़ी देर बाद चुपचाप बैठे मंद पी रहे थे।

हम लोगों के बीच कोई बात शुरू हो चुकी थी। सभी उसी में शामिल हो चुके थे। धीरे धीरे मैं विवाह प्रस्ताव के बारे में भूल चुका था। सभी लोग खुश थे। तिलोका बिल्कुल सामान्य थी। उसके चेहरे पर अब सिर्फ आत्मीय भाव बचा था। वह चुपचाप मेरी ओर देखती रहती थी या बातचीत में जोर जोर से शामिल होती थी। मैं फिर से पहले की स्थिति में आ गया था। मैं फिर से उससे प्यार करने लगा था। मुझे लग रहा था कि विवाह न हो तो क्या फर्क पड़ता है। प्यार करना अलग बात है। मैं उसे प्यार किये बिना नहीं रह सकता। मेरे मनोभावों को वह खूब समझ रही थी। इस कारण उसकी झेंप खत्म हो चुकी थी। वह मुझे सामान्य मनःस्थिति में लौटने के लिए उत्साहित करती सी लग रही थी। मुझे जब भी किसी चीज की आवश्यकता होती थी, मेरे कहने के पहले ही वह समझ जाती थी और मैं बोलूँ इसके पहले ही वह काम कर लेती थी।

मुझे धूल में खेलने वाली लड़की की याद आ रही थी। उसकी बनियान में रखे बेर याद आ रहे थे। उसके सूखे चेहरे के भीतर ताजा, कोमल और चमकता चेहरा दिख रहा था। मैं उस लड़की को याद करना छोड़ नहीं पा रहा था। मैं उससे लगातार मिलना चाह रहा था।

मैंने तिलोका की ओर देखा, उसे लगा मैं उससे कुछ कहना चाहता हूँ। वह काफी देर तक मेरे शब्दों की प्रतीक्षा करती रही फिर समझ गई कि जो मुझे कहना है वह शायद मैं यहां नहीं कहूंगा। अड़तो और वड्डे के सामने नहीं कहूंगा। अड़तो और वड्डे अपनी ही बातचीत में मगन थे। उन्हें हमारी सुध लेने का खयाल तभी आता था जब मंद खत्म होती थी। वे फिर आपस में बातें करने लगते थे। मैं और तिलोका चुपचाप बैठे थे। उनकी बातें सुन रहे थे। मैंने तिलोका की ओर देखा। उसने कहा, कुछ कहना है। मैंने हां में सिर हिलाया। वह उठी और

बाहर चली गई। मैं मंद पीता रहा। थोड़ी देर बाद एक ही झटके में मंद खत्म कर मैं उठा और तिलोका जिस ओर गई थी उसी ओर चल पड़ा। वह पेड़ के नीचे मेरी राह देख रही थी। मैंने पास पहुंचकर उसके हाथ अपने हाथों में ले लिये। वह हल्की आवाज में हंसती रही और कहती रही— कहो, बोलो क्या है? मैं कुछ भी नहीं बोल पा रहा था। लम्बी गहरी सांसें लेते हुए किसी तरह कहा, तिलोका क्या मैं तुम्हें पसंद नहीं हूं।

उसने कहा, नहीं क्लेयार सिंह तुम मुझे बहुत पसंद हो।

फिर, फिर क्या बात है?

कोई बात नहीं है।

मैं तुम्हें प्यार करता हूं तिलोका।

मैं भी तुमसे प्यार करती हूं।

तो तुम मुझसे शादी क्यों नहीं करती। मुझसे शादी कर लो।

नहीं शादी नहीं करूंगी। यह कहते हुए उसने मेरे हाथ छोड़ दिये। थोड़ी देर तक वह चुपचाप खड़ी रही। तिलोका के घर की ओर से निकला चांद पेड़ के ऊपर चुपचाप खड़ा था। पत्तियों से छनकर रोशनी हमारे ऊपर पड़ रही थी। तिलोका ने अपनी आंखें नीची कर लीं, लम्बी सांस ली और कहा— चलो।

तुम चलो मैं आता हूं।

यह सुनते ही वह चुपचाप चल दी। जब वह घर के अंदर पहुंच गई तो, मैं भी उसके पीछे पीछे पहुंचा। उसने मेरे हाथ में दोना पकड़ाया और मंद उड़ेलने लगी। मैं चुपचाप मंद पीता रहा।

काफ़ी देर बाद मैंने कहा, सुबह मैं चला जाऊंगा। बिल्कुल सुबह। फिर वड्डे और अइतो से कहा, मैं सुबह चला जाऊंगा अइतो। उन्होंने सुबह जाने की बात सुनते ही तिलोका की ओर देखा। तिलोका चांदनी रात की पगडंडी पर मेरे सपने में चली जा रही थी। मैं उसके पीछे पीछे चला जा रहा था। मैं सुबह होने के पहले उसके पास पहुंच जाना चाहता था। यूं भी यह रात बहुत लम्बी थी। इस रात के सपने में एक और सपना था जहां मैं तिलोका के पीछे पीछे चांदनी रात की पगडंडी पर चला जा रहा था और तिलोका को पुकार रहा था—

आ रहा हूं। नना वायकान।

मैं आ रहा हूं तिलोका। तिलोका वायकान।

## मुस्लिम नवजागरण और अकबर इलाहाबादी का 'गांधीनामा'

विनोद तिवारी

'क्या आपने *वज्रसूची* (अश्वघोष) का नाम सुना है?' जैसे किसी चौंकाने वाले अंदाज में मैं यह तो नहीं कहूंगा कि 'क्या आपने *गांधीनामा* का नाम सुना है?' पर यह जरूर कहना चाहूंगा कि *गांधीनामा* एक ऐसी नायाब पुस्तक है, जो एक बड़े शायर द्वारा अपने समय के एक बड़े जनप्रिय नेता के चमत्कारी व्यक्तित्व की गवाही पूरी सदाशयता और आदर के साथ देती है। हिंदी में इसका आना अत्यंत स्वागत योग्य है। इसको उर्दू से हिंदी में ले आने का सार्थक परिश्रम किया है कवि, लेखक और अनुवादक **वीरेंद्र कुमार बरनवाल** ने। *गांधीनामा* की प्रस्तावना लिखते हुए वे अकबर इलाहाबादी के समय, परिवेश और व्यक्तित्व से पाठकों को परिचित कराने के क्रम में इतने विस्तार में चले जाते हैं कि प्रस्तावना के बहाने मुस्लिम नवजागरण पर 230 पृष्ठ की पूरी एक किताब बन जाती है। अतः इस पुस्तक का **मुस्लिम नवजागरण और अकबर इलाहाबादी का गांधीनामा** नाम उचित ही है। परंतु, यदि इतनी बड़ी भूमिका के बिना केवल अकबर इलाहाबादी के राजनीतिक, सामाजिक और रचनात्मक अवदान के साथ *गांधीनामा* को हिंदी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता तो भी वह उतना ही कारगर होता। इसलिए कुछ पाठक यह सोच सकते हैं कि भूमिका के नाम पर शौकिया इतने पन्ने सर्फ कर दिये गये हैं— *लिखते रुक्का लिख गये दफ्तर/शौक ने बात क्या बढ़ायी है* वाली बात। पर कई बार जब आप एक काम शुरू करने जाते हैं तो उसमें ऐसे डूबते फंसते जाते हैं कि सब कुछ को झटककर एकबारगी निकल आना सम्भव नहीं होता। वीरेंद्र कुमार बरनवाल के काम करने के ढंग से जो लोग परिचित

हैं वे जानते हैं कि किस कदर वे पूरी गहराई में डूबकर गम्भीरता से काम करते हैं। *हिंद स्वराज : नव सभ्यता विमर्श* और इसके पहले मोहम्मद अली जिन्ना पर लगभग 500 पृष्ठों में लिखी गई उनकी पुस्तक *जिन्ना : एक पुनर्दृष्टि* इसके प्रमाण हैं। मोहम्मद अली जिन्ना को जानने समझने की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण पुस्तक है।

मीर और गालिब के बाद रोजमर्रा की बातचीत और व्यवहार में सबसे अधिक उद्धृत किए जाने वाले शायर हैं अल्लामा इकबाल और अकबर इलाहाबादी। वीरेंद्र कुमार बरनवाल ने पुस्तक की प्रस्तावना में उचित ही लिखा है— *अकबर हिंदी क्षेत्र में कबीर, तुलसीदास, रहीम, मीर और गालिब के साथ उद्धृत किए जाने वाले एक महत्वपूर्ण कवि हैं। उनका समग्र भी हिंदी में आना चाहिए।* अकबर इलाहाबादी ने *गांधीनामा* का लेखन 1919-20 में पूरा कर लिया था। इस बात की जानकारी मिलती है कि पत्र पत्रिकाओं में यदाकदा उसके अशआर छपते और उद्धृत किए जाते रहे हैं; परंतु, पुस्तकाकार उसका प्रकाशन अकबर इलाहाबादी की मृत्यु के 25 सालों बाद उनके पोते के परिश्रम से हो सका। लगभग सौ साल पहले उर्दू में लिखी यह पुस्तक न जाने किन कारणों से आज तक हिंदी में अनूदित न हो पायी थी। गांधी जब दक्षिण अफ्रीका में अपने नेक कामों से दुनिया भर के लोगों का ध्यान खींच रहे थे तो भला ऐसा कैसे हो सकता है कि हिंदुस्तान के एक तरक्कीपसंद शायर और सेशन जज की नजर से वह बचे रहें। गांधी के हिंदुस्तान आने और दो तीन साल में ही हिंदुस्तान की जनता द्वारा मिलने वाले अद्भुत प्यार और स्वीकार को बहुत सारे नेताओं, विचारकों, आंदोलनकारियों के साथ साथ अकबर इलाहाबादी ने भी अत्यंत ही प्रसंशात्मक तरीके से देखा और स्वीकार किया। *गांधीनामा* उनके उसी स्वीकार भाव का उदाहरण है। पूरा देश जिस तरह से अंग्रेजों के खिलाफ आंदोलित हो रहा था और गांधी जी के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने के लिए उनके साथ आ रहा था अकबर इलाहाबादी का मन भी मचलता था कि उन्हें भी गांधी के साथ होना चाहिए। पर क्या करें सरकारी नौकरी (सेशन जज) में होने के कारण वे खुलकर गांधी के साथ उनके आंदोलनों में शामिल नहीं हो सकते थे। लेखक ने अकबर इलाहाबादी की इस मजबूरी और छटपटाहट को ठीक ही उन्हीं के एक शेर के द्वारा जाहिर किया है—

*मदखूलए गवर्नमेंट 'अकबर' अगर न होता।*

*उसको भी आप पाते गांधी की गोपियों में।*

मोहनदास करमचंद गांधी। मोहन अर्थात् कृष्ण और गोपियां। कितनी सुंदर और अर्थवान अभिव्यक्ति है। कृष्ण के प्रति गोपियों की प्रेम और भक्ति जगजाहिर है। अकबर इलाहाबादी का गांधी के प्रति वैसा ही अटूट प्रेम था। जबकि, अकबर गांधी से उम्र में 23 साल बड़े थे। गांधी उनके बड़े बेटे की उम्र के थे। पर, प्रेम, भक्ति, श्रद्धा जैसे भावों में उम्र की परवाह कहां होती है। अकबर इलाहाबादी तो गोपियों की तरह गांधी से प्रेम करते थे। सच है, ऐसा ही शायर गांधी के व्यक्तित्व पर *गांधीनामा* जैसी पुस्तक लिख सकता था और बड़े ही गर्व के साथ ऐलान कर सकता था कि—

*इंकलाब आया नई दुनिया नया हंगामा है।*

*'शाहनामा' हो चुका अब दौरै 'गांधीनामा' है।*

*गांधीनामा* में अकबर इलाहाबादी भारतीय राजनीति और अंग्रेजों की औपनिवेशिक गुलामी से मुक्ति के गांधी के तौर तरीकों से लेकर उनके हर राजनीतिक कदम की सराहना करते हुये दिखते हैं। वह चाहे सविनय अवज्ञा आंदोलन रहा हो चाहे खिलाफत आंदोलन, खुले मन से वे गांधी के साथ हैं। गांधी का जो यह मानना था कि, किसी से लड़ लेना, बिगाड़कर

लेना तो बहुत आसान होता है, पर असल ताकत तो प्रेम और सद्भाव में है। उनकी इस सोच को *गांधीनामा* का शायर कैसे व्यक्त करता है—

*महात्मा जी से मिलकर देखो तरीक क्या है सुभाव क्या,  
पड़ी है चक्कर में अक्ल सबकी बिगाड़ तो है बनाव क्या है?*

गांधी की हिंदू मुस्लिम एकता की भावना, सत्याग्रह के उनके तरीके, आचरण की कर्मठता, कथनी और करनी में अभेद, विचार, सिद्धांत, सीख, कर्तव्य का खुद पर सबसे पहले प्रयोग, सत्य, ईमानदारी, नैतिकता की टेक, पराई पीर जनित कवि सुलभ संवेदना, इन सबसे अकबर इलाहाबादी गांधी से खूब प्रभावित दिखते हैं। वे लिखते हैं—

*जिस बात को मुफीद समझते हो खुद करो,  
औरों पर इसका बार न इसरार से धरो।*

*हालात मुख्तलिफ हैं जरा सोच लो ये बात,  
दुश्मन तो चाहते हैं कि आपस में लड़ मरो॥*

एक इसी तरह का एक अशआर और है जिसमें वे मुसलमान जमींदारों के साथ साथ हिंदू राजाओं की बदनीयती, मजहबी अदावतें और अंग्रेजी हुकूमत के सामने चापलूसों और भाटों जैसे आचरण की तीखी आलोचना करते हुए लिखते हैं—

*हुकूमत और दौलत की जो दे चाट,  
तो बन जाएंगे आखिर तेरे भाट।*

*अदावत मजहबी जो है पुरानी,  
उभार उनको बा अंदाजे निहानी।*

*मुझे मालूम है, नेटिव खसायल,  
कहां ये वहदते मुल्की पे मायल।*

*कोई दावर को अपने रट रहा है,  
कोई एक जानवर पर कट रहा है।*

*जबां ही पर कोई देता है जान,  
म'आनी होते हैं लफजों पे कुरबान।*

हालांकि, इस अशआर को वीरेंद्र कुमार बरनवाल ने *गांधीनामा* का नहीं माना है। उनका कहना है कि *गांधीनामा* की उनके पास उपलब्ध जो उर्दू प्रति है उसमें ये शेर नहीं हैं। पर, गांधी पर अकबर साहब के लिखे अशआरों में यह सबसे अधिक प्रचलित है इसलिए इसे भी *गांधीनामा* का ही मान लिया गया है। इससे भी पता चलता है कि लेखक ने अत्यंत ही सावधानीपूर्वक पूरी गम्भीरता के साथ *गांधीनामा* की हिंदी प्रति तैयार की है। हर शेर में अरबी, फारसी के सभी कठिन शब्दों के अर्थ वहीं पृष्ठ के नीचे दे दिए गये हैं जिससे हिंदी के पाठकों को अर्थग्रहण में कोई मुश्किल न होने पाये। इतनी सावधानी के बावजूद कुछ भूल कुछ त्रुटियां रह जायें तो अखरता है। जैसे, 43 वें अशआर के सभी अरबी, फारसी के शब्दों के अर्थ नीचे देने से रह गये हैं। इसी तरह पुस्तक में भूलवश एक दो जगहों पर हू ब हू जो आवृत्तियां हैं, उनको इस संदर्भ में देखा सकता है। जैसे, पृष्ठ 119 की आवृत्ति पृष्ठ 124 पर। परंतु, इसे भूलवश हुई त्रुटि ही मानना चाहिए।

*मुस्लिम नवजागरण और अकबर इलाहाबादी का गांधीनामा* नामक इस पुस्तक का सबसे महत्वपूर्ण भाग है इसकी लम्बी भूमिका। *गांधीनामा* के साथ साथ पीठिका के रूप में पुस्तक में शाह वलीउल्लाह से लेकर मौलाना अबुल कलाम आजाद तक मुस्लिम नवजागरण का एक

वृहद अवलोकन और विश्लेषण इस पुस्तक को और अधिक अर्थवान बना देता है। अगर यह कहा जाय कि, लेखक ने *गांधीनामा* के बहाने 18 वीं सदी से लेकर आजादी के पहले तक के मुस्लिम नवजागरण के महत्वपूर्ण विचारकों, चिंतकों के साथ साथ उन विचारों, मुद्दों, उपलब्धियों और सीमाओं का विस्तार से वर्णन किया है जो मुस्लिम नवजागरण के बहस, सुधार और आंदोलनों के केंद्र में रहे हैं तो सर्वथा उचित होगा।

शाह वली उल्लाह को मुस्लिम नवजागरण का अग्रदूत कहा जाता है। 18वीं सदी के पहले दशक (1703) में शाह वली उल्लाह का जन्म हुआ था। हिंदुस्तान में यही मुगल सत्ता के आखिरी ताकतवर सम्राट औरंगजेब के इंतकाल का भी साल है। इसके बाद मुगल सत्ता लगातार कमजोर होती चली गई और 1857 तक वह केवल लाल किला की चारदीवारी तक सिमटकर रह गई थी। इस्लाम में दक्षिण एशियाई मुसलमानों के यहां धार्मिक और सामाजिक सुधार के जो भी आंदोलन 18वीं 19वीं शताब्दी में हुए उनके बौद्धिक स्रोत शाह वली उल्लाह माने जाते हैं। शाह वली उल्लाह अरबी और फारसी दोनों के गम्भीर अध्येता विद्वान थे। उन्होंने 59 साल के अपने जीवन में कुल 51 किताबें लिखीं। वे इस्लामी धर्मग्रंथों के भाष्यकार, जीवनीकार और अरबी और फारसी के महत्वपूर्ण कवि थे। वैज्ञानिक तर्कों और संदर्भों के साथ उन्होंने धर्मशास्त्र की टीकाएं और भाष्य किए— “उनकी सबसे महत्वपूर्ण और दूरगामी प्रभाव वाली किताब *हुज्जत अल्लाह अल बालिगा* है जो उन्होंने अरबी में हज यात्रा से लौटने के बाद लिखी थी। इसमें इस्लाम के सार्वभौम पक्षों के विश्लेषण के साथ हदीस के प्रकाश में उसके सिद्धांतों और मूल्यों की वैज्ञानिक व्याख्या है। इस्लामी अध्ययन के क्षेत्र में इस किताब को मील का पत्थर माना जाता है। अरब, मध्यपूर्व और दक्षिण एशिया के बौद्धिक मुस्लिम जगत में इसे बड़े सम्मान के साथ पढ़ा जाता है। इस्लाम की समझ और विश्लेषण के अपने अपने दावे की पुष्टि के लिए परम्परा और आधुनिकता के पक्षधर, दोनों इस पुस्तक को संदर्भग्रंथ के रूप में इस्तेमाल करते हैं।”

इस पुस्तक के अलावा शाह वली उल्लाह का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य *कुरान शरीफ* का फारसी में अनुवाद है। अब तक *कुरान* अरबी में ही पढ़ा पढ़ाया जाता था। इसके पहले उसके अनुवाद का प्रयास किसी के द्वारा नहीं किया गया था। स्वाभाविक है कि शाह वली उल्लाह को रूढ़िवादियों का कोपभाजन बनना ही था। लेखक ने इस संदर्भ में उचित ही तुलसीदास को याद किया है। आखिर उन्हें भी तो देववाणी संस्कृत के बजाय देशभाषा अवधी में *रामचरितमानस* प्रस्तुत करने के लिए काशी के रूढ़िवादी पंडितों का विरोध झेलना पड़ा था। परंतु, यहीं पर इस बात का उल्लेख कर देना चाहिए कि जिस तरह तुलसीदास का कालांतर में धर्मांधों, पुनरुत्थानवादियों और अंध राष्ट्रवादियों द्वारा अपने पक्ष में उपयोग किया गया, उसी तरह से शाह वली उल्लाह का भी। पर सचाई यह भी है कि दोनों में इस तरह से अपना उपयोग हो जाने के प्रसंग और संदर्भ मौजूद हैं। पुस्तक में स्पष्ट तौर पर लेखक ने इस ओर इशारा किया है।

वीरेंद्र कुमार बरनवाल ने शाह वली उल्लाह के बाद 18वीं सदी के मुस्लिम नवजागरण के एक दूसरे नेता लखनऊ के मिर्जा अबू तालिब (1752-1807) का जिक्र किया है। मिर्जा अबू तालिब सम्भवतः पहले मुसलमान ही नहीं पहले हिंदुस्तानी भी थे जिन्होंने यूरोप की यात्रा की थी। उन्होंने यूरोप के भिन्न भिन्न शहरों में घूमते हुये लगभग तीन साल यूरोप में बिताए। हिंदुस्तान वापस आकर अपने इस यूरोप प्रवास को तालिब ने फारसी में एक सुंदर यात्रा वृत्तांत के रूप में लिखा जिसका बाद में *दि ट्रवैल्स ऑफ मिर्जा अबू तालिब* नाम से अंग्रेजी में अनुवाद हुआ है। अबू तालिब की डायरी और यात्रा वृत्तांत का हवाला देते हुए लेखक ने लिखा है कि,

अबू तालिब एक तरफ मनुष्य के ज्ञान और पूर्णता प्राप्ति के पक्ष से आधुनिक पश्चिमी सभ्यता का गुणगान करते हैं तो दूसरी तरफ वे विज्ञान और तकनीक प्रेरित उस सभ्यता के दोष भी गिनाते हैं, जिसकी गम्भीर आलोचना बीसवीं सदी में महात्मा गांधी आदि करते हैं। मुस्लिम नवजागरण के परिप्रेक्ष्य में वीरेंद्र कुमार बरनवाल ने पुस्तक में सबसे अधिक पृष्ठ जमालुद्दीन अफगानी (1838-1897) और सर सैयद अहमद खां (1817-1898) को दिये हैं। जमालुद्दीन अफगानी का नाम भारतीय उप महाद्वीप में ही नहीं बल्कि दूसरे एशियाई देशों के साथ साथ अफ्रीका और यूरोप में भी 19वीं सदी के इस्लाम के बौद्धिक विमर्शों में बड़े अदब के साथ लिया जाता है। अपनी 'पैन इस्लामिज्म' की धारणा के चलते अफगानी उपनिवेशवादी साम्राज्यवाद के प्रखर आलोचक माने जाते हैं। वे इस्लाम में अपने संशोधनपरक विचारों के लिए जाने जाते हैं। अफगानी 18-19 साल की उम्र में, 1857 के विद्रोह के आसपास अफगानिस्तान से हिंदुस्तान आये। अंग्रेजों के दमन के तरीके और अवध व दिल्ली के तख्त पर उनके कब्जे से अफगानी बहुत विचलित थे— वह विद्रोह के दमन के बाद पूरे मुस्लिम समाज की टूटन, उसके दुखद सांस्कृतिक बिखराव और पूर्णतः ध्वस्त मनोबल के उद्दिग्ग्न साक्षी रहे। अफगानी ने ब्रिटिश उपनिवेश की तुलना एक ऐसे अजगर से की थी जिसने कई लाख लोगों को निगल लिया था, जो सिंधु और गंगा का समूचा जल गटक जाने के बावजूद अभी भी अतृप्त ही था। वह अब बचे हुए संसार को निगलने की तैयारी में था। उसकी अनिष्ट दृष्टि अब नील, दजला और फरात के जल को सोख जाने की थी। विचार विकल (यह उपाधि पुस्तक के लेखक ने दी है) जमालुद्दीन ने अफगानी तुकट्ट, मिन्न, ट्यूनीशिया, फ्रांस, लंदन की न जाने कितनी यात्राएं कीं। उन्होंने इस्लाम की रूढ़िग्रस्त मान्यताओं और विचारों को आधुनिक विचारों और सोच से व्याख्यायित करने और बदलने की कोशिश की। औपनिवेशिक मानसिकता, विचार और धूर्तताओं को महिमामंडित करने वाली ओरियंटल दृष्टि को आगे चलकर बीसवीं सदी के इतिहास और सामाजिक अध्ययनों में जिस तरह से खारिज किया गया उसकी प्रारम्भिक दृष्टि अफगानी के भाषणों और लेखों में मिलती है। पुस्तक में लेखक ने 1879 में प्रकाशित अफगानी द्वारा लिखित एक लेख 'आदमी की खुशी की सच्ची वजह' (दू रीजन फॉर मैस हैपीनेस) का उल्लेख किया है। इस लेख के हवाले से लेखक ने बताया है कि अफगानी ने इस लेख में अंग्रेजों के उस दावे का जोरदार खंडन किया है जिसमें वे रेलों, नहरों और आधुनिक स्कूलों के माध्यम से भारतीयों को परिचित कराने और सभ्य बनाने का दावा करते हैं। वास्तव में अफगानी सम्भवतः पहले ऐसे मुस्लिम चिंतक थे जिन्होंने राष्ट्रीयता और अखिल इस्लामवाद (पैन इस्लामिज्म) पर एक साथ जोर दिया। वीरेंद्र कुमार बरनवाल ने उचित ही उनके योगदान को रेखांकित करते हुए उन्हें हिंदुस्तान में मुहम्मद इकबाल, मिन्न में सैयद कुतुब, मुहम्मद अब्दुह, साद जगलूल, तुर्की में जिया ग्योकुल्प, कमाल और सीरिया में राशिद रिदा तथा अदीब इसहाक और ईरान में अली शरियाती जैसे चिंतकों विचारकों के लिए जमीन तैयार करने वाला विचारक कहा है।

*सदमे उठाए, रंज सहे, गालियां सुनीं, लेकिन न छोड़ा कौम के खादिम ने अपना काम।*

*दिखला दिया जमाने को जोरे दिलो दिमाग, बतला दिया यों करते हैं करने वाले काम।*

सर सैयद अहमद खां के बारे में अकबर इलाहाबादी के ये अशआर हैं। सर सैयद अहमद खां और अकबर इलाहाबादी समकालीन थे। सर सैयद अहमद खां हिंदुस्तान में मुस्लिम नवजागरण के अग्रदूत माने जाते हैं। उनकी चेतना, उनके कार्य और उनकी पहलकदमी से रूढ़िग्रस्त मुस्लिम समाज में पश्चिमी आधुनिकता की पहुंच निश्चित होती है। उनकी कर्मठता और मुस्लिम समाज



के जागरण में उनके अपूर्व योगदान का लोहा उनके विरोधियों ने भी माना है। शुरू में अकबर इलाहाबादी खुद उनके विरोधियों में से थे पर धीरे धीरे वे उनके कायल होते चले गये। उपर्युक्त शेर इसका उदाहरण है। सैयद अहमद की सबसे महत्वपूर्ण पहल शिक्षा के हलके में देखी जा सकती है। वीरेंद्र कुमार बरनवाल ने अल्ताफ हुसैन 'हाली' द्वारा सर सैयद अहमद की जीवनी *हयाते जावेद* के सहारे पुस्तक में तपसील के साथ सैयद अहमद के धार्मिक सामाजिक सुधारों, 1857 के विद्रोह के समय उनकी चेतना और पक्ष, उर्दू हिंदी सम्बंधी विवाद में उनके दृष्टिकोण और पक्ष के साथ साथ 1885 में कांग्रेस की स्थापना के विरोध के हवाले दिये हैं। 1857 के विद्रोह पर उन्होंने दो पुस्तकें लिखीं— *असबाबे बगावते हिंद* (1858) और *दि लॉयल मोहम्मडंस ऑफ हिंदुस्तान* (हिंदुस्तान के वफादार मुसलमान)— 1860। सर सैयद अहमद की एक दृढ़ धारणा थी कि मुसलमानों को अभी राजनीति से दूर रहना चाहिए। उन्हें कांग्रेस आदि राजनीतिक संगठनों में नहीं शामिल होना चाहिए। वे हिंदुस्तान में अंग्रेजी साम्राज्य को उखाड़ फेंकने के समर्थक कभी नहीं रहे। उनकी कामना थी कि अंग्रेजों का साम्राज्य हिंदुस्तान में सदा के लिए बना रहे। सर सैयद अहमद शुरुआती दौर में हिंदू मुस्लिम एकता के हामी रहे। वे सदा इन दोनों कौमों की भलाई की बात करते थे। परंतु, उनके जीवन के अंतिम कुछ वर्षों में इसमें बदलाव दिखता है। खासकर, कचहरियों और शिक्षण संस्थाओं में हिंदी और देवनागरी लिपि लागू किए जाने की हिंदुओं की मांग के बाद। सर सैयद अहमद ने उर्दू के पक्ष में लिखते हुए उर्दू को 'शरीफों की जुबान' और हिंदी को 'गंवारों की जुबान' कहा।

अपने जीवन के आखिरी साल में सर सैयद अहमद का 'अलीगढ़ गजट' में एक लेख छपा (19 मार्च, 1898) जिसमें सैयद ने हिंदी नागरी अभियान को 'हिंदू अभियान' के रूप में देखा। कमोवेश यह सच भी साबित हुआ। आगे चलकर 'हिंदी हिंदू हिंदुस्तान' वाले आंदोलन का जो स्वरूप उभरा वह सबके सामने है। पुस्तक के आगे के अध्यायों में लेखक ने मौलाना हाली, मौलाना मुमताज अली, मौलाना मुहम्मद अली जौहर, अल्लामा शिबली नोमानी, मौलाना अबुल कलाम आजाद और मुहम्मद अली जिन्ना को मुस्लिम नवजागरण में उनके योगदान के लिए याद किया है। मुस्लिम नवजागरण के सम्बंध में 18वीं सदी से लेकर आजादी तक बीसवीं सदी के एक दर्जन विचारकों, लेखकों, चिंतकों को लेखक ने विस्तार से पुस्तक में जगह दी है पर, अल्लामा इकबाल का जिक्र कहीं नहीं है। ऐसा किन कारणों से किया गया है? भूलवश हुआ है या जानबूझकर किया गया है? इसका जवाब लेखक ही दे पायेगा। बहरहाल...

पिछले साल से देश और देश से बाहर सरकारी, गैर सरकारी संगठनों, संस्थाओं और मठों द्वारा पूरे शोर सराबे के साथ महात्मा गांधी के जन्म का 150वां साल मनाया जा रहा है। सब तरह तरह से गांधी को लूटने भुनाने में लगे हैं। ऐसे सीनाठोंकू और खुद की ही सराहना में मशगूल लफ्फाजी वाले समारोही समय में, चुपके से पूरी गम्भीरता और तल्लीनता के साथ वीरेंद्र कुमार बरनवाल ने एक ऐसे गांधी को खोज निकाला है जो उर्दू की पुरानी वरकों में कहीं विस्मृत पड़े थे। हिंदी में *गांधीनामा* का आना वास्तविक अर्थों में न केवल गांधी को उनके 150वें साल में एक नायाब भेंट है बल्कि अकबर इलाहाबादी के लिए भी एक बड़ी नज़ है।

**मुस्लिम नवजागरण और अकबर इलाहाबादी का गांधीनामा : वीरेंद्र कुमार बरनवाल,**  
**प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली**

# आभिजात्य शुचिता बनाम बनाम मलदर्शन

सत्यम कुमार सिंह

द ग्रेट डीअरेंजमेंट क्लायमेट चेंज एंड द अनथिंकैबल (2016) के लेखक अमिताभ घोष वर्तमान जलवायु संकट को आधुनिक साहित्य, इतिहास और राजनीति की विफलता मानते हैं। द वायर को दिये एक साक्षात्कार में वह बताते हैं कि मैं उपन्यास को बहुत बृहद कल्पनाशीलता की विफलता के लक्षण के तौर पर देख रहा हूं। यह तो केवल लेखन का एक स्वरूप है बल्कि मैं मानता हूं लेखन के सभी स्वरूपों में यह विफलता है, यहां तक कि पत्रकारिता में भी।...मेरे साक्षात्कार के लिए बहुत सारे युवा पत्रकार आते हैं और यह बहुत दिलचस्प है कि वह बताते हैं जलवायु परिवर्तन अभी बहुत दूर की कौड़ी है, यह कहीं और घटित हो रहा है।

मैं उन्हें बताता हूं कि अगर आप पिछले कुछ हफ्ते से दिल्ली में रह रहे हैं तो तेज गर्मी की लपट में भी रहे होंगे आपने इस बारे में क्या लिखा?

सोपान जोशी पेशे से पत्रकार हैं। सितंबर 2018 में राजकमल प्रकाशन से इनकी किताब आई है जिसका नाम है—जल थल मल। दिलचस्प है कि पहली बार यह पुस्तक, 2016 में, उसी वर्ष आई थी जिस वर्ष अमिताभ घोष अपनी उस किताब द ग्रेट डीअरेंजमेंट क्लायमेट चेंज एंड द अनथिंकैबल (2016) में लेखन की विफलता का सवाल उठा रहे थे। जल थल मल दिल्ली के गांधी शांति प्रतिष्ठान से प्रकाशित हुई थी। यह किताब एक शोध का नतीजा थी जिसके लिए गांधी शांति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली और बेंगलुरु की एक संस्था 'अर्धर्म' ने शोधवृत्ति प्रदान की थी। राजकमल से आई इस पुस्तक में चित्रांकन सोमेश कुमार ने किया है और सुलेख राजीव प्रकाश खरे ने किया है। पहली नजर में ही किताब अपनी डिजायनिंग, फांट और चित्रांकन से खूब आकर्षित करती है। जो लोग भी सोपान जोशी को पहले से जानते हैं वह यह भी जानते हैं कि सोपान जोशी प्रसिद्ध पत्रकार प्रभाष जोशी के पुत्र हैं और वह अंग्रेजी भाषा में पत्रकारिता

करते रहे हैं और यह भी कि उनका पुराना अंग्रेजी लेखन क्लिष्ट हुआ करता था। वह अंग्रेजी में *द इंडिपेंडेंट*, *द वॉशिंगटन पोस्ट* या *द हिंदू टाइम्स ऑफ इंडिया* जैसे प्रतिष्ठित अखबारों में छपते रहे हैं। समाज विज्ञान के बृहत्तर आयाम में लिखी गई किताब हिंदी में है। सोपान जोशी का हिंदी में इतना सरल लेखन ऐसे उन तमाम पूर्व परिचित लोगों को हैरान कर जाएगा जिनका परिचय अंग्रेजी के पत्रकार सोपान जोशी से है। यह किताब इतनी सरल है कि इसे बच्चे, किशोर, वयस्क या किसी भी वृद्ध अकादमिक प्रोफेसर के हाथ में दिया जा सकता है। यह किताब जल, थल और मल के संतुलन के बारे में है। वह खुद इस बात की शिकायत और कवायद करते हैं कि हमारे आधुनिक ज्ञानानुशासन और ज्ञान उत्पादन में मनुष्य के मल को जैविक अस्तित्व का मूलाधार होना चाहिए था जो कि नहीं है। श्री जोशी बताते हैं कि हमारी इंजीनियरिंग या स्थापत्य की पढ़ाई में मल निस्तारण की कोई विशेष पढ़ाई और शोध चिंता शामिल नहीं है जबकि यह मल स्वयं मनुष्य के अस्तित्व को समाप्त कर सकता है।

भाषायी स्तर पर इस किताब से गुजरते हुए पाठकों को दो लोगों की, दो कृतियां जरूर याद आएंगी : पहला, अनुपम मिश्र की *आज भी खरे हैं तालाब* और दूसरा, गांधी जी की *हिंद स्वराज*। बल्कि अगर हिंदी में समाज विज्ञान या विज्ञान के किसी गांधीवादी लेखन शैली की कोई अवधारणा बनाई जाय तो अनुपम मिश्र की आज भी खरे हैं तालाब और सोपान जोशी की *जल थल मल* प्रमुख पुस्तक होगी। छोटे छोटे वाक्यों और सामान्य शब्दों में इस किताब को इस तरह प्रबंधित किया गया है कि विज्ञान की वैज्ञानिक प्रामाणिकता और सामान्य पाठकों की पठनीयता, दोनों संतुलित रहती है।

कई बार संदर्भ, फुटनोट्स या सायटेशन पढ़ने की लय में बाधा पहुंचाने लगते हैं। इस किताब का संदर्भ बहुत ही रोचक तरह से प्रस्तुत किया गया है—एकदम किसी कहानी की शैली में! परिचयात्मक अध्याय को शामिल करते हुये यह किताब कुल दस अध्यायों में प्रबंधित है। किताब में अध्याय का संदर्भ विभाजित किया गया है। प्रत्येक अध्यायों में जिस किसी संदर्भ से बात कही गई है उसे विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया गया है। संदर्भित हर महत्वपूर्ण पुस्तक की एक सार संक्षेपिका की तरह नोट्स डाले गए हैं जिसकी वजह से पाठक कई अन्य महत्वपूर्ण पुस्तकों और तथ्यों से भी परिचित होते हैं। हालांकि *आज भी खरे हैं तालाब* में भी इसी तरह से संदर्भ डाले गए थे लेकिन इस किताब में वह और भी ज्यादा संश्लिष्ट दिखता है। मसलन यह : “कोलाईटिस बीमारी के रोगी के इलाज के लिए किसी स्वस्थ व्यक्ति के मल को उसकी आंत में पहुंचाने के परीक्षण करने वालों में डॉक्टर योहान बैकन का नाम आता है। इस विषय पर वे कई शोधपत्र लिख चुके हैं। कोलाईटिस अपेंडिक्स का संबंध पता चला अमेरिका के न्यू यॉर्क शहर के लॉंग आयलैंड में वीनचार्प यूनिवर्सिटी हॉस्पिटल में हुए अनुसंधान से। हमें इसकी जानकारी *साइंटिफिक अमेरिकन* में 14 फरवरी 2012 को छपी एक रपट से मिली। लेखक हैं रॉब डन और शीर्षक था ‘योर अपेंडिक्स कुड सेव योर लाइफ’। अपेंडिक्स के मित्र जीवाणु की पौधशाला जैसे व्यवहार पर शोध किया है ड्यूक यूनिवर्सिटी स्कूल ऑफ मेडिसिन के विलियम पार्कर ने<sup>2</sup>।”<sup>3</sup> (जोशी, 2018, पृ. 198)

आमतौर पर मानवीय मल पर शुचिता के आभिजात्यता का वर्चस्व रहा है। भूमंडलीकृत समय के हर समुदाय अथवा समाज के पास मल त्याग करने की अपनी संस्कृति, परंपरा और इतिहास है। इन सबसे जुड़ा होने के बावजूद कमांड फ्लश सिस्टम किसी अमोघ इच्छा की तरह अपने दुष्चक्र में लगभग पूरी धरती को फांस लेता है।

सोपान जोशी मनुष्य के अस्तित्व और प्रकृति के बीच संबंध को, प्रचलित तरीके, भोजन

के माध्यम से नहीं तलाशते बल्कि उसके मूल से उसकी सामाजिकता और संसार से उसके रिश्तों के तानेबाने की तलाश करते हैं। इस विपरीतार्थक सी लगने वाली प्रविधि में एक अलग ही वितान का यथार्थ सामने आता है—*हर व्यक्ति की दुनिया भर से नाते रिश्तेदारी उसके नीचे मलमूत्र के रूप में हर रोज प्रकट होती है। उस मल और मूत्र में वायुमंडल की नाइट्रोजन होती है, भूगर्भ और पर्वतों का फॉस्फोरस होता है, जीवाणुओं की अपार लीला भी होती है। कुछ पलों के लिए ही सही, लेकिन जल, थल और मल का निराकार प्रतीत होने वाला संबंध हर व्यक्ति के नीचे एकदम साकार हो जाता। एक छोटी सी घटना, जो या तो किसी विराट क्रांति की सूक्ष्म इकाई बन जाती है, या किसी अकल्पनीय प्रलय की।* (जोशी, 2018, पृ. 180)

हमारे देश की शिक्षा प्रणाली यूरोपीय शिक्षा प्रणाली और अमेरिकन विभागीय तंत्र की लड़ाई में इस कदर 'वाटर टाईट कंपार्टमेंट' में तब्दील हो चुकी है कि इसमें देशज और क्षेत्रीय जरूरतों की संभावना समाप्त ही हो जाती है बल्कि अंतरानुशासनिकता की संभावना भी नगण्य हो जाती है। मूल पर विचार करते हुए यह किताब मानवीय अस्तित्व को वायुमंडल, जल, थल, अन्य जीव और जीवाणुओं के अपार संसार से जोड़ने का एक शोध कर्म है; साथ ही साथ एक दार्शनिक चिंतन भी। इस चिंतन प्रक्रिया में जोशी पृथ्वी पर जीवन के उस अदृश्य रिश्ते की तलाश करते हैं जो न केवल हमारी स्वच्छता की मानसिकता को बनाता है बल्कि समाज के मन की सफाई को भी तय करता है जिसमें वह (समाज) विभाजित और अजनबी बना रहता है।

पहला अध्याय परिचयात्मक है। दूसरा अध्याय 'शौचालय से निकले कुछ विचार' हमारे राजनैतिक, सामाजिक और अर्थतंत्र की समस्या को रेखांकित करते हुए तीनों ही (राजनैतिक, सामाजिक और अर्थतंत्र) स्तरों पर बनने वाले घृणा के राजनीतिशास्त्र को उजागर करता है।

तीसरे अध्याय 'सफाई के मंदिर में बली प्रथा' में बतलाया गया है कि आधुनिक अथवा शहरीकृत होते समाज में स्वच्छता व्यवस्था, अंततः उसी पारंपरिक जातिवादी प्रथा की गोद में बैठ जाती है। "शौचालयों से मैला पानी जिन नालियों में जाएगा उन्हें साफ करने कौन उतरेगा उनके भीतर? क्या यह जाति के आधार पर ही तय होता रहेगा?" (पृ. 58) सोपान जोशी ने ऐसी नैसर्गिक समस्या की नाभि को पकड़ लिया है जिसमें हमारे अति महत्वपूर्ण संस्थान और शरीर भी निर्दोष नहीं कहे जा सकते। यह अध्याय सांस्थानिक नीति नियामक के अलावे 'शुचिता के एक सामाजिक विचार' की अपील करता है।

चौथा अध्याय है 'शरीर से नदी की दूरी' : हालांकि किताब के हर हिस्से में बहुत महत्वपूर्ण और दिलचस्प जानकारी व आंकड़े फैले हुए हैं लेकिन इस अध्याय में कई जानकारी ऐसी है जो सामान्य दृष्टिकोण को तोड़ती है।

पांचवां अध्याय 'गोदी में खेलती हैं इसकी हजारों नदियां' है। यह अध्याय हमें नगरीय व्यवस्था से नजर चुराने वाले सच से रूबरू कराता है। इतना ही नहीं हमारे विकास के नजरिये को भी आईना दिखाता है। इस सच का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि शहरों में रहने वाले अधिसंख्य लोग यह नहीं जानते कि उनके इस्तेमाल का पानी कहां से आता है या फिर उनके इस्तेमाल किए जल का निस्तार कहां होता है? केवल सामान्य समझ ही नहीं बल्कि सरकारी समझ भी यही बनती है कि जल समस्या एवं गंदी बस्ती की समस्या बढ़ती प्रवासियों की संख्या से शुरू और खत्म होती है। यह किताब इस सच को सामने लाती है कि इस तरह की बस्ती के लोग ऊंचे व साफ सुथरे अपार्टमेंट में रहने वाले लोगों की अपेक्षा जल का उपयोग बहुत कम करते हैं। इतना ही नहीं किसी भी बड़े शहर, सरकारी दफ्तर, संस्थान या अमीर लोगों के यहां जो शुद्ध जल जा रहा है वह किसी और प्रदेश से बलात् उठाकर लाया

जाता है। आमतौर पर दिल्ली जैसे बड़े शहर के नगर निगम को भी यह पता नहीं कि लोग कितना पानी इस्तेमाल करते हैं।

यह अध्याय हमारी आर्थिक तरक्की में जल उपयोग की कीमत और उसके उपरांत हुए प्रदूषित जल पर खर्च को नगरीय विकास और आर्थिक विकास में उसके मूल्यों को सन्निकट करता है। एक ऐसी व्यवस्था की ओर पुनर्विचार भी करता है जिसमें रह रही जनसंख्या न केवल संसाधनों के उपयोग की कीमत अदा करती है बल्कि उसके दुरुपयोग की भी कीमत अदा करती है। परिणामस्वरूप जनता अपने स्वास्थ्य पर कई जानलेवा बीमारियों का बोझ भी उठाती है। 'भारत में कैंसर पर शोध कर रहे कुछ वैज्ञानिकों ने सन् 2012 में पाया कि भारत में कहीं भी कैंसर के कई रूप उतने व्याप्त नहीं हैं जितने गंगा के इलाके में हैं। पाप धोने वाली गंगा को हमने जानलेवा रोगों का स्रोत बना दिया।' (पृ. 87)

छठा अध्याय 'मैले पानी का सुनहरा सच' : यह अध्याय पिछले अध्याय की जिज्ञासा का उत्तर है कि क्या कोई ऐसा शहर है जिसके पास मैले पानी को साफ करने का समयसिद्ध तरीका हो? इस सवाल का उत्तर है कोलकाता शहर का पूर्वी हिस्सा और मुदिअली। इस जगह की भेरियां नगर के गुर्दे की तरह काम करती हैं और ये अनमोल सेवाएं शहर को मुफ्त मिलती हैं। मुदिअली की मछलियों की कीमत कम होती है और कई परीक्षणों में इनमें जहर की मात्रा खतरे के निशान से ऊपर भी पाई गई और कुछ में नीचे 'लेकिन अब तक इस नायाब प्रकार के मछलीपालन को रोकने के कारण सरकार को नहीं मिले हैं।' (पृ. 103)

यह किताब एक शोध का परिणाम है इसलिए अध्याय को सवाल जवाब, समस्या समाधान के रूप में प्रबंधित किया गया है। पांचवें अध्याय के बाद लगभग सभी अध्याय सवाल, समस्या का समाधान व उत्तर हैं। सातवां अध्याय 'पुतले हम माटी के' जीवाणुओं के विस्तृत आकाशगंगा से परिचित कराता है और उसमें मनुष्य की भागीदारी का अनुमान भी करता है। आठवां अध्याय 'खाद्य सुरक्षा की थल सेना' पिछले अध्याय के क्रम को आगे बढ़ाते हुए कृत्रिम रासायनिक खाद की उत्पत्ति, इसके पीछे की राजनैतिक ऐतिहासिक परिस्थिति और पुनः उसके नुकसान और जैविक खाद और जीवाणु प्रकृति के सहज रिश्ते की कहानी है। इस अध्याय में सन् 1918 के नोबल पुरस्कार (रसायनशास्त्र) विजेता के कट्टर राष्ट्रभक्त और नाइट्रोजन के विस्फोटक आविष्कारक फ्रिट्ज हाबर एवं उसकी पत्नी के इसके विरोध में आत्महत्या करने की कहानी अत्यंत मार्मिक है। मल इस कहानी का हीरो (या एंटी हीरो) बनकर उभरता है। यूरोप में जब आधुनिक सीवर प्रणाली बननी शुरू हुई तब आधुनिक कृषि के जनक युस्टुस फॉन लीबिह जीवित थे। उन्होंने कहा था : *सीवर प्रणाली उर्वरकों की आपराधिक बरबादी है।* (पृ. 149) नौवां अध्याय 'मल का थल विसर्जन' में जीवन की कठिन परिस्थितियों में मल के विभिन्न प्रकार से थल विसर्जन के प्रचलित तरीके और प्रयोग को शामिल किया गया है। दसवां अध्याय 'मल दर्शन' किताब सार संक्षेप की तरह है।

पर्यावरण अध्ययन पर्यावरण की कुछ जटिल समस्याओं को लेकर 60-70 के दशक में काफी सक्रिय दिखाई देता है। लेकिन 21वीं सदी के पहले दशक तक वैश्विक परिस्थितियां एकदम भिन्न हो जाती हैं। भूमंडलीकरण का शोर हठात् रुक जाता है। वैश्विक हो चुकी अर्थव्यवस्था और समाज के वैश्वीकरण को रोकने के लिए राष्ट्रवाद का इस्तेमाल नए तरह से होना शुरू होता है। इस बदलाव में शहरीकरण का विकास और प्रकृतिक संसाधनों का इस्तेमाल भी बदलता है। जीवनशैली, रहनसहन, खानपान और मूलभूत आवश्यकताओं में भी काफी बदलाव आया। इस बदलाव ने सैद्धांतिक पृष्ठभूमि में पूंजीवाद की आलोचना को भी नए औजार

से लैस किया। पूंजी की निर्मिति अब केवल श्रम से नहीं बल्कि उसमें लगे प्राकृतिक संसाधन और प्रकृति को हुए नुकसान के हिसाब से निर्धारित की जाने लगी। इस तरह के अध्ययन में स्रोत को केवल स्थिरांक या मानक माना जाता है और आउट पुट से उसकी तुलना की जाती है। कुछ इसी पद्धति को अपनाते हुए जल थल मल का शोध सामने आया जो सामाजिक क्षेत्र में इसका बेहतरीन इस्तेमाल है। प्रदूषण को लेकर कार्बन क्रेडिट पद्धति (उत्सर्जन), पर्यावरणीय ऊर्जा को लेकर 'एन्ट्रॉपी' विश्लेषण इसी तरह की पद्धति है।

जल, थल, मल अथवा स्वच्छता एक विमर्श का रूप ग्रहण कर चुका है। फुकोवियन धारणा के अनुसार हम जिस दुनिया में रह रहे होते हैं अथवा हमारी विश्वदृष्टि जो बनी होती है, वह वही नहीं होती जो वास्तविक दुनिया होती है। वस्तुतः हरेक विश्वदृष्टि विमर्शों द्वारा लाई जाती है। भारतीय परिदृश्य में 2013 में श्रीलंका के एक नेता ने भारत के रेल पटरी के किनारे बैठे शौच करने वाले लोगों पर बयान देते हुए अपनी राष्ट्रीयता पर अभिमान और तमिल अस्मिता पर व्यंग्य किया। 2014 में केंद्र में नई सरकार आई उसके सबसे प्रमुख कार्यक्रमों में स्वच्छता अभियान शामिल हुआ। मार्च 2019 में सरकार के एक महत्वपूर्ण मंत्री ने ठीक वही बयान दिया जो प्रचलित स्वच्छता अभियान के विपरीत वैकल्पिक विमर्श को गढ़ने वाला था। यह बयान बिलल्कुल *जल, थल, मल* किताब की एक स्थापना से प्रभावित अथवा संचालित लग सकता है। केंद्रीय मंत्री ने कहा, *मैंने हवाई अड्डों पर मूत्र को एकत्र करने को कहा है। हम यूरिया आयात करते हैं, लेकिन अगर हम पूरे देश में मूत्र इकट्ठा करना आरंभ कर दें तो हमें यूरिया के आयात की आवश्यकता ही नहीं होगी।*

सोपान जोशी का यह अध्ययन विमर्श विश्लेषण का बेजोड़ नमूना है। यह किताब शौच, मल या शुचिता की विश्वदृष्टि से मुक्त करती है और सामाजिक व्यवस्था में वैयक्तिक कर्म को भी वास्तविक बनाने की पैरवी करती है।

वर्तमान समय में स्वच्छता एक अभियान के रूप में विचारधारा का हिस्सा हो चुका है। ऐसा नहीं है यह आज हुआ है परंतु इसी के इतिहास के रूप में किसी विशेष जाति या वर्ग द्वारा मैला साफ करने की रीति के विरुद्ध संघर्ष भी होता रहा है। लेकिन नए स्वरूप में प्राकृतिक संसाधनों का असीमित दोहन है, उपयोग के तरीके प्रकृति के नियम विरुद्ध हैं, उपयोग उपरांत उसका निस्तार दूसरे संसाधनों को दूषित करने वाला है। क्योंकि अब यह विचारधारा का हिस्सा है तो निश्चित रूप से इसके अपने (शासकीय) हित जनहित के विरुद्ध होंगे। वर्तमान दशा बहुत ही संहारक है जिसके बारे में सोपान जोशी हमें आगाह करते हैं।

## संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Jane Battersby (eds) Jonathan Crush. (2016) Rapid Urbanisation, Urban Food Deserts and Food Security in Africa- New York: Springer.
2. अनुपम मिश्र. (2011). आज भी खरे हैं तालाब, नई दिल्ली : प्रभात पेपरबैक्स।
3. मिशेल लॉरिन मेरी लू एवरेट और विलियम पार्कर, (2011). द सीकल अपेडिक्स वन मोर इन्सून कोम्पोनेंट विद अ फंकशन डिस्टर्ब बाए ए पोस्ट इंडस्ट्रियल कल्चर, द एनाटोमिकल रेकॉर्ड, 294, 567, 579
4. सोपान जोशी, (2018), जल थल मल, नई दिल्ली : राजकमल पेपरबैक्स।

जल थल मल : सोपान जोशी, प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

# भारोपीय भाषा परिवार में हिंदी और उत्तर औपनिवेशिकता

उदय शंकर

डॉ. राजकुमार की पुस्तक *हिंदी की जातीय संस्कृति और औपनिवेशिकता*, अपने शीर्षक से ही स्पष्ट है, 'उत्तर आधुनिक सह सबाल्टर्न सह उत्तर औपनिवेशिक विमर्श' के 'सैद्धांतिक निष्कर्षों' के प्रभाव में लिखी गई है। पुस्तक के लेखक इसका इशारा करते हुए अपनी योजना को इंगित करते हैं, "यूरो केंद्रीयता से बाहर निकलने की जद्दोजहद में उत्तर उपनिवेशवाद का जन्म हुआ। उत्तर उपनिवेशवाद ने ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में विऔपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया।" (राजकुमार, 2018 : 153)

*हिंदी की जातीय संस्कृति और औपनिवेशिकता* पुस्तक की शुरुआत 'भारोपीय भाषा परिवार' के प्रणेता विलियम जॉस की अवधारणा की आलोचना से होती है। आर्य भाषा परिवार और द्रविड़ भाषा परिवार जैसे विभाजन को टॉमस आर. ट्राटमान के हवाले से नस्लीय मानती हैं। डॉ. राजकुमार इस तरह भाषा विमर्श की बहस में उतर जाते हैं। 'तुलनात्मक भाषा विज्ञान' से उनकी स्पष्ट असहमति है, "इंडो यूरोपियन भाषा परिवार की परिकल्पना को स्वीकार कर लेने पर हुआ यह कि भारत की कथित आर्य भाषाओं और यूरोप की भाषा के बीच तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा सामान्य तत्त्वों को सामने लाने का प्रयास तो खूब हुआ, लेकिन भारतीय भाषाओं के बीच समानता और निरंतरता को देखने और उनके निहितार्थों को समझने की कोशिश लंबे समय तक कम ही की गई।" (राजकुमार, 2018 : 17-18)

डॉ. राजकुमार का यह कथन जायज है कि देशभाषा और व्यापक रूप से भारतीय वांग्मय

में अनुवाद की परम्परा नहीं थी, मूल ग्रंथ की अवधारणा नहीं थी, टीका भाष्य आदि ज्यादा प्रचलित थे। फारसी और यूरोपीय लोगों के संपर्क में जब 'फारसी' और यूरोपीय ढंग के अनुवाद की परंपरा चल पड़ी तब भी विदेशियों ने देशभाषा (उत्तर भारतीय) को महत्व नहीं दिया। राजकुमार का यह कहना भी सही हो सकता है कि देशभाषा के 'पंडित' कवियों की संस्कृत में पारंगतता थी और रीतिकालीन तक आते आते उसमें फारसी भी सम्मिलित हो गई। लेकिन आश्चर्यजनक रूप से वे संत कवियों को 'ज्ञानी' कहकर छोड़ देते हैं। देशभाषीकरण के बाद राजकुमार ने औपनिवेशिक युग में संस्कृत के अध्ययन अध्यापन के अभाव को रेखांकित करते हैं, "संस्कृत सीखने की प्रक्रिया को सबसे बड़ा धक्का लोकभाषीकरण के दौरान नहीं, बल्कि औपनिवेशिक दौर में अंग्रेजीकरण के कारण लगा। इसीलिए इस बात पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि संस्कृत ग्रंथों का बड़े पैमाने पर अनुवाद लोकभाषा के अभ्युदय के दौरान नहीं, बल्कि उपनिवेशवाद के दौरान किया गया।" जबकि, कबीर की एक बहुचर्चित पंक्ति को किन्हीं और संदर्भ में राजकुमार खुद उद्धृत करते हैं, *संस्कीरत है कूप जल भाखा बहता नीर।*

'परम्परा के आहत नैरंतर्य' के बहुविध आयामों से राजकुमार खुद परिचित हैं। शुद्ध हिंदी गढ़ने के प्रयास पर औपनिवेशिक प्रभुओं की 'सहज छाप' आरोपित करने के बावजूद वे मानते हैं कि लोकभाषा की पूर्व (प्राच्य) परंपरा के साथ न्याय नहीं हुआ है। ब्रजभाषा (यहां हिंदी भी कर दें तो ज्यादा फर्क नहीं पड़ता है) और उर्दू के अंतर को वे वे सिर्फ लिपि और शब्द चयन तक सीमित नहीं करते हैं बल्कि कह ही देते हैं कि ऐसा "सांस्कृतिक विरासत के भिन्न स्रोतों से अपना संबंध जोड़ने के कारण भी है।" (राजकुमार, 2018 : 40)

सांस्कृतिक विरासत के 'निजी' स्रोतों को कल्पित करने का परिणाम उर्दू हिंदी की अंतिम परिणति के रूप में हिंदुस्तान की आजादी के साथ देश विभाजन में दीख जाता है। वली का दिल्ली आगमन, शाह गुलशन से मुलाकात, शाह हातिम (दीवानजादा) का 'इस्लाह जबान', (भाषा सुधार, (फारूकी, 2007 : 130), (फारूकी, 2003 : 805-863) के प्रवर्तक के बतौर उभरना, इंशाअल्लाह खान के उर्दू मैनुअल (उर्दू व्याकरण) से लेकर 15 फरवरी 1961 को गालिब के 92वें जयंती पर बाबा ए उर्दू अब्दुल हक, जो कभी मानते थे कि उर्दू सिर्फ मुसलामानों की भाषा नहीं है, का यह कहना कि "पाकिस्तान को न तो जिन्ना ने बनाया है और न ही इकबाल ने हिंदू मुस्लमान के बीच का फसाद उर्दू भाषा थी। पूरा का पूरा द्विराष्ट्र सिन्धुत उर्दू भाषा की देन है। इसलिए यह पाकिस्तान पर एक कर्ज की तरह है।" (राय, 1984 : 264)

ब्रज हिंदी उर्दू के अतिरिक्त अन्य उत्तर भारतीय देशभाषाओं, खासकर पुरबी, के 'स्थानीय रूपों' के साहित्यिक उन्नयन की संभावना में आड़े आए ऐतिहासिक बाधा विघ्नों के प्रति राजकुमार चिंतित तो दीखते हैं लेकिन उसका कोई औपनिवेशिक संदर्भ न पाकर कह ही देते हैं कि "संभवतः हिंदी/ब्रजभाषा के कॉस्मोपॉलिटन रूप ने इस संभावना का निषेध कर दिया।" (राजकुमार, 2018 : 44)

उत्तर औपनिवेशिक विमर्श के संदर्भ में हिंदी गद्य को अपनी पुस्तक *हिंदी की जातीय संस्कृति और उत्तर औपनिवेशिकता* में राजकुमार न के बराबर जगह देते हैं, हालांकि यह कहते जरूर नजर आते हैं कि प्रेमचंद भारतीय परंपरा के लेखक हैं और एक अध्याय भी प्रेमचंद पर है (संज्ञान में यह है कि प्रेमचंद के बारे में लेखक की एक स्वतंत्र पुस्तक है)। क्या यह अकारण है? आधुनिक भारतीय भाषाओं (हिंदी सहित) का कथा साहित्य इस बात की इजाजत तो कतई नहीं देता है कि आप उसे 'औपनिवेशिक चंगुल' का गद्य बताकर छोड़ सकते हैं।

देशभाषाओं के विकास के शुरुआती चरण में ही अलबरूनी ने 1025 ई. के आसपास



लक्षित किया था कि भारतीय आर्य भाषा दो रूपों में विभाजित है। एक उपेक्षित कथ्यभाषा है जिसका प्रयोग जनसामान्य करते हैं। दूसरी शिष्ट, सुरक्षित उच्चवर्ग के लोगों में प्रचलित साहित्यिक भाषा है और इसे अध्ययन करके ही प्राप्त किया जाता है। यह साहित्यिक भाषा व्याकरणात्मक विभक्ति योग, व्युत्पत्ति, तथा व्याकरण के नियमों एवं अलंकार रसशास्त्र की बारीकियों से आबद्ध है। (चाटुर्ज्या, 1954 : 106 107) इस बात को और स्पष्ट करते हुए सुनीति कुमार चटर्जी लिखते हैं, “नव्य भारतीय आर्य को संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश से रिक्त रूप में मिली हुयी परंपरा काव्यशास्त्र की थी। संस्कृत के बृहत्काय काव्य साहित्य की तुलना में यहां का गद्य लगभग नगण्य सा है...पश्चकालीन संस्कृत टीकाओं तथा गद्यकाव्यों की शैली नभाआ भाषाओं में न आ सकी। नभाआ भाषाओं में जहां कहीं भी गद्य का उपयोग हुआ है, वहां वह वैज्ञानिक या दार्शनिक या विचारात्मक रूप में न होकर, सीधे सीधे कथात्मक रूप में हुआ है...ब्रिटिश काल के अंतर्गत भारतीय आर्य भाषा के विकास के एक बिल्कुल नूतन युग का सूत्रपात हो गया...अंग्रेजी के साथ साथ भारत में गद्य का आविर्भाव हुआ, कविता की जगह तर्क ने ली।” (चाटुर्ज्या, 1954 : 110)

देशभाषाओं (उत्तर भारतीय, नव्य आर्यभाषा) के विकास के दौरान गद्य की कोई इतिहास प्रदत्त और लिखित परंपरा न के बराबर मिलती है। जिस तरह का गद्य मिलता है, उसके बारे में सुनीति बाबू ऊपर कह चुके हैं। साहित्यिक गद्य औपनिवेशिक युग की देन है। औपनिवेशिक युग के पहले गद्य की भाषा या तो संस्कृत रही या फारसी। उत्तर आधुनिक विमर्शकार रंजीत गुहा ने गद्यसाहित्य, कथा, उपन्यास के संदर्भ में ढेर सारी दार्शनिक निष्पत्तियों (scattered) को निकालने की गुंजाइश पैदा की है। प्रयोग की जमीन पर आधुनिक बंगाली गद्य के जनक रामराम बसु की चर्चा करते हैं कि कैसे एक सहायक पंडित ने 40 रुपये प्रति महीने की नौकरी पर बंगाली का पहला गद्य लिखा, *राजा प्रतापादित्या*। *राजा प्रतापादित्या* को बंगला के पहले गद्य के रूप में प्रकाशित होते देखते हुए ईसाई मिशनरी की खुशी को रंजीत गुहा बताते हैं। रंजीत गुहा की नजर में *राजा प्रतापादित्य* इतिहास (हिस्ट्री) नहीं बल्कि रोमांचक, चमत्कार, ‘अद्भुत’ जैसा कोई टेक्स्ट बन गया है। इसका कारण बताते हुए रामराम बसु के पार्श्व में फारसी के लगाव को इंगित करते हैं। (गुहा, 2002 : 15, 72)

हिंदी उर्दू दोनों के ‘प्रथम’ गद्यकार यथा, इंशा अल्लाह खान और मीर अम्मन संस्कृत ऋण थे लेकिन फारसी में पारंगत। दोनों हिंदू भी नहीं थे। बावजूद, दोनों की अपने जमाने में चलती थी। ऐसी चलती बाद के दिनों में सिर्फ देवकीनंदन खत्री को ही प्राप्त हुई। मीर अम्मन का *बाग ओ बहार* और *रानी केतकी की कहानी* भविष्य में आने वाले गद्य की मिसाल बनी। *रानी केतकी की कहानी* के सत्तर साल बाद जाकर ‘हिंदी नई चाल’ में ढलती है। इसी तरह अंग्रेजी में पहला गद्य लिखने वाले भारतीय शेख दीन मुहम्मद, बिहार के बक्सर से, जाति के नाई थे। तात्पर्य यही कि इन चारों का संस्कृत परंपरा से कटाव था।

राजकुमार रंजीत गुहा के हवाले से, और उसमें अपना जोड़ते हुए कहते हैं, “अद्भुत पर अनुभूति की विजय हुई...साहित्य, संस्कृति और ज्ञान विज्ञान की बुनियाद आधुनिकता की ज्ञान मीमांसा पर टिक जाती है और भारतीय ज्ञान मीमांसा की परंपरा का इस्तेमाल सिर्फ खाली जगहों को भरने के लिए, एक ऐसा संस्करण जिसकी पैकेजिंग भारत में की गई हो...भारतीय भाषाओं में लिखने से कोई भारतीय नहीं हो जाता।” (राजकुमार, 2018 : 79)

सवाल फिर से वही रह जाता है कि ‘भातीय होना’ क्या है? संस्कृत होना, उपनिषद होना ही भारतीय होना है? देशभाषा की सारी चिंताओं का फिर क्या करना होगा? राजकुमार इससे

भलीभांति परिचित हैं। इसीलिए लोक, लोककला, लोकगीत संदर्भित उनकी चिंताएं जायज हैं; लेकिन ज्यादा संभावना इसी की दिखती है कि यह लोक 'अनुमान' में ही तब्दील होकर न रह जाए!

उपनिवेश से मुक्ति के प्रसंग में तीन धाराएं (विचार) स्पष्ट रूप से संलग्न थीं, नेहरू, सुभाष और भगत सिंह की, गांधी प्रतीक थे; और जो धारा संलग्न नहीं थी उसने गांधी की ही हत्या कर दी, 'प्रतीक' की हत्या कर दी। अगर अभी भी कहीं उपनिवेशवादी मानसिकता है और उसे विमुक्त करने की जरूरत है तो, उसे कम से कम इन तीन धाराओं के साझे संघर्ष से तो गुजरना ही होगा. 'भारतीयता' रूपी प्रतीक की रक्षा इन्हीं साझे संघर्षों में संभव है।

अपनी पुस्तक 'पोस्ट कोलोनियल थ्योरी एंड द स्पेक्टर ऑफ कैपिटल' के पहले अध्याय की शुरुआत में ही विवेक छिब्बर कहते हैं कि पिछले दो दशकों से उत्तर औपनिवेशिक विमर्श अकादमिक पटल पर पर्याप्त रूप से छाया हुआ है। विश्व साहित्य पटल पर गैर पश्चिमी साहित्य को जो 'हाशिया' हासिल था, इस 'हाशिये की बहस' ने उसे मुख्यधारा में ला दिया। न्युगी वा थ्युंगो, सलमान रुश्दी, ग्राबिएल गार्सिया मार्खेज आदि के साहित्य को अमेरिकन एकेडेमिया में जगह मिलने लगी। इस सफलता को छिब्बर भी सलाम करते हैं। (छिब्बर, 2013 : 1) इसी प्रक्रिया में अरुंधती रॉय, अनीता देसाई, अरविंद अडिगा एवं अंग्रेजी के अन्य भारतीय लेखकों की लोकप्रियता को भी शामिल कर सकते हैं।

अमेरिकी और यूरोपीय देशों के अंग्रेजी, विश्व साहित्य और तुलनात्मक साहित्य के विभागों में उत्तरऔपनिवेशिक विमर्श के विजय घोष को हिंदी के आलोचक, लेखक, अध्येता और पाठक को किस तरह देखना चाहिए! हिंदुस्तान की देशभाषा (वर्नाकुलर) हुए बिना कॉस्मोपॉलिटन भाषा के रूप में अंग्रेजी प्रतिष्ठित हो गई है। यह हमारी नई 'संस्कृत' है, और इसमें उत्तर औपनिवेशिक विमर्श का बहुत बड़ा योगदान है। इसे क्या ऐसे देखा जाना चाहिए?

*हिंदी की जातीय संस्कृति और औपनिवेशिकता* राजकुमार की सद्यः प्रकाशित आलोचना विचार की पुस्तक है। एक पाठक के रूप में पढ़ते हुए यह चौंकाता है। दिनों बाद ऐसी पुस्तक देखने को मिली है जिसमें अध्ययन का दायरा बहुत बड़ा, तथा इसकी 'प्रस्तावना' पश्चिमी, खासकर अमेरिकी एकेडेमिया में 'अति प्रचारित' है और 'विचारधारा खास लोगों' के लिए विवादित भी है। यह लेख इसी किताब के साथ एक यात्रा है।

## संदर्भ ग्रंथ

1. गनेरी, जोनार्डन, 2012, दारा शिकोह एंड ट्रांसमिशन ऑफ उपनिषद टू इस्लाम, (इनः), माइग्रेटिंग टेक्स्ट्स एंड ट्रेडिशन, विलियम स्वीट (स.), यूनिवर्सिटी ऑफ ओटावा प्रेस, पृ. 177-188
2. गुहा, रंजीत, 2002, हिस्ट्री ऐट लिमिट ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री, कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क।
3. चाटुर्ज्या, सुनीति कुमार, 1989, भारतीय आर्यभाषा और हिंदी, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली।
4. चाटुर्ज्या, सुनीति कुमार, 1954, भारतीय आर्यभाषा और हिंदी, राजकमल पब्लिकेशन लि. बंबई।
5. छिब्बर, विवेक, 2013, पोस्ट कोलोनियल थ्योरी एंड स्पेक्टर ऑफ कैपिटल, वर्सो, लंदन न्यूयॉर्क।
6. झा, शैलेंद्र, 1974, ब्रजबोली साहित्य, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना।
7. तलवार, वीर भारत, 1991, हिंदी भाषा विज्ञान की दूसरी परंपरा, (इनः), 'पहल' 42 (में प्रकाशित), ज्ञानरंजन (स.), पृ. 55-71
8. थॉमस, आर. ट्रॉटमैन, 2006, लैंग्वेज एंड नेशन : द द्रविडियन प्रूफ्स ऑफ कोलोनियल मद्रास, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, लंदन।

9. पॉलक, शेल्डन, 2002, कॉस्मोपॉलिटन वर्नाक्यूलर इन हिस्ट्री, (इनः), “पब्लिक कल्चर” 12 (3), ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 591-625
10. पॉलक, शेल्डन, 1998, द कॉस्मोपॉलिटन वर्नाक्यूलर, खडनरू, “द जर्नल ऑफ एशियन स्टडीज” 57 (1), पृ. 6 37
11. पॉलक, शेल्डन, 2002, कॉस्मोपॉलिटन वर्नाक्यूलर इन हिस्ट्री, (इनः), “पब्लिक कल्चर” 12 (3), ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ : 591 625
12. फारुकी, शम्सुर्रहमान, 2003, ए लॉन्ग हिस्ट्री ऑफ उर्दू लिटरेरी कल्चर पार्ट 1, (इनः), लिटरेरी कल्चरस्डिन हिस्ट्री इन हिस्ट्री रीकंस्ट्रक्शनस् फ्रॉम साउथ एशिया, शेल्डन पॉलक (स.), यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस लिमिटेड, पृ. 805-863
13. फारुकी, शम्सुर्रहमान, 2007, उर्दू का आरंभिक युग : साहित्य एवं साहित्य के पहलू, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली।
14. बुश एलीसन, 2010, रीति एंड रजिस्टर,(इनः), हिंदी एंड उर्दू लिटरेरी कल्चर, बिफोर द डिवाइड, फ्रेंचेस्का ऑर्सेनी (स.), ओरिएंट ब्लैक स्वान प्रा. लि., पृ. 84-120
15. राजकुमार, 2018, हिंदी की जातीय संस्कृति और औपनिवेशिकता, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली।
16. राजशेखर, 2013, काव्य मीमांसा, चौखंभा विद्याभवन, वाराणसी।
17. राधाकृष्णन, 2001, उपनिषदों का संदेश, राजपाल एंड संस, दिल्ली।
18. राय, अमृत, 1984, हाउस डिवाइडेड : द ओरिजिन एंड डेवलपमेंट ऑफ हिंदी/हिंदवी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।
19. शर्मा, रामविलास, 2007, मार्क्स और पिछड़े हुए समाज, राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि., दिल्ली।
20. शर्मा, रामविलास, 2006, भाषा और समाज, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली।
21. शर्मा, रामविलास, 2004, परंपरा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली।
22. शर्मा, रामविलास, 2004, भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएं, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली।
23. सेन, सुकुमार, 1935, ए हिस्ट्री ऑफ ब्रजबुली लिटरेचर, यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता, कलकत्ता।

**हिंदी की जातीय संस्कृति और औपनिवेशिकता : डॉ. राजकुमार, प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन**  
(रजा फाउंडेशन के अंतर्गत), नई दिल्ली

# कविता में शहर के चिह्न की तलाश और शहर का एक चरित्र हो जाना

कुमार मंगलम

कविता का शहर हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि राजेश जोशी की किताब है। इस पुस्तक को लेखक ने एक कवि की नोटबुक के रूप में स्वीकार किया है। इस हिसाब से राजेश जोशी के नोटबुक के कड़ी में यह तीसरी कड़ी है। इसमें उन्होंने सत्तर के दशक से 21वीं सदी के पहले दशक यानि कुल चार दशक की हिंदी कविता के बहाने कविता और शहर के साथ साथ बनते बदलते संबंधों का लेखाजोखा प्रस्तुत किया है। हालांकि इस पुस्तक में न सिर्फ इन चार दशकों की कविता शामिल हैं वरन कवि की ताकझांक प्राचीन कविता से लेकर आधुनिक कविता और संस्कृत कविता से लेकर लोककाव्य में विन्यस्त शहरों तक हुई है। अकादमिक ढंग से व्यवस्थित काम नहीं होने के बावजूद (ऐसा कवि का मानना है) भी यह किताब निःसंदेह अकादमिक ढंग की है, क्योंकि इसमें उन्होंने आवश्यक संदर्भों के साथ साथ जिन मानकों पर विचारों को बरता है, वह ढंग शोध के रास्ते से होकर ही गुजरता है।

रचनात्मक साहित्य में आम तौर से कविताओं में कवि जिन बातों को अभिव्यक्त करता है वे सिर्फ उसके चिंतन का रचनात्मक प्रतिफलन नहीं होतीं, वरन कई बार तो उनका परिवेश और अर्जित मूल्य भी अवचेतन से अभिव्यक्ति पाते हैं। कई बार यह अभिव्यक्ति रवायती तौर पर भी व्यक्त होती है। शहर की अभिव्यक्ति पर इस तरह की बातें गौर की जा सकती हैं। कई बार शहर को अभिव्यक्त करते हुए रचनाकार के मानस पटल पर शहर की कोई मुकम्मल तस्वीर नहीं होती, कई बार बहुत सामान्य सी धारणाओं के साथ शहर को अभिव्यक्त किया

जाता रहा है। वैसे भी हिंदी साहित्य में शहर का चरित्र बहुत ही नकारात्मक रहा है और गांव को लेकर एक मुग्धकारी भाव अथवा भारतमाता ग्रामवासिनी भाव अधिक मुखर रहता है। ऐसे में *कविता का शहर* हिंदी कविता में शहरों की उपस्थिति को लेकर एक मजबूत कार्य के रूप में हमारे सामने है। इस किताब में हिंदी कविता में अभिव्यक्त हुए शहर की पड़ताल और शहर की कविता में आमफहम धारणा का प्रत्याख्यान इसे पठनीय बनाती है, तथा हिंदी में शहरों को लेकर एक नए शोध के दरवाजे को खोलती है। इस बात को प्रमाणित करते हुए राजेश जोशी 'कविता का नगर, वास्तविक नगर से एक भिन्न स्पेस है' में लिखते हैं, *कविता का या रचनाकार की कल्पना का नगर समाजशास्त्रियों के शोधपत्र में वैसा ही नहीं दिखाई दे जैसा कि वह था या जैसा कि वह है। लेकिन तथ्यों या आंकड़ों में दिखने वाला नगर, नगर की आत्मा को नहीं दिखा सकता।* नगर की आत्मा तो साहित्य में अभिव्यक्त हुए नगर में ही विद्यमान हो सकती है। रवींद्र कालिया ने भी लिखा है, *शहर की आत्मा आसानी से नहीं बदलती। किसी भी शहर की आत्मा उसके इंटीरियर में होती है।* राजेश जोशी की यह किताब उसी इंटीरियर की खोज है, जहां शहर की आत्मा विद्यमान हो सकती है। राजेश जोशी की नजर उन बदलते शहरों के विन्यास पर भी है, जो महाकाव्यों से लेकर आज के साहित्य में अलग अलग समयों में, अलग अलग भाषाओं में, अलग अलग रूपों में अभिव्यक्त हुए हैं। रामकथा, महाभारत से लेकर, उर्दू में गालिब की कविताओं में अभिव्यक्त नगर तथा समकालीन काव्य में मौजूद नगर पुराने अथवा नए नगर सभी अलग अलग तरह से बने हैं या उजड़े हैं। समकालीन भारत के सभी नगर जैसे उपनिवेशवाद की रचना हैं; तथा उस उपनिवेशवाद का प्रत्याख्यान भी, जिसे आप चंडीगढ़, गांधीनगर या लुटियंस की दिल्ली के रूप में पहचान सकते हैं। तत्कालीन दिल्ली गालिब की दिल्ली नहीं हो सकती या कि यह दिल्ली वेदव्यास की महाभारत और सरलादास की महाभारत या भास के काव्यनाटकों में अभिव्यक्त हस्तिनापुर जैसी नहीं है। यह दिल्ली तो भगवत रावत की कविता में मौजूद दिल्ली है, जिसकी आबोहवा कुछ और है, या दिनकर की दिल्ली जो कृष्क मेघ की रानी दिल्ली है, या उमाशंकर चौधरी की दिल्ली है।

*मेट्रो चल रही है*

*और यात्री लैपटॉप और मोबाइल में व्यस्त हैं*

*मोबाइल का नेटवर्क आ रहा है और जा रहा है*

*दिल्ली मेट्रो चल रही है और यात्री*

*एक साथ कई कामों में लगे हुए हैं*

*वे भी चल रहे हैं*

*और इस दुनिया से जुड़ भी रहे हैं (दिल्ली मेट्रो : कुछ बिंब)*

यहां पर राजेश जोशी इस कविता के बहाने एक टिप्पणी करते हैं। वह पूरी टिप्पणी आज के समय पर मारक व्यंग्य है। वे लिखते हैं, *हालांकि दुनिया से जुड़ने का यह अहसास कितना वास्तविक है और कितना आभासी इस पर विचार किया जाना चाहिए, क्योंकि यह माना जाता है कि प्रौद्योगिकी व्यक्ति को निर्व्यक्तक बनाती है।* यहां वे अपनी तरफ से कुछ नहीं कहते। 'क्योंकि माना जाता है' पदबंध में आलोचकीय निष्कर्ष नहीं है, लेकिन दुनिया से जुड़ने के भ्रम का पर्दाफाश व्यापक स्वीकृत अवधारणा से करते हैं। इसी अध्याय में वे अशोक कुमार पांडेय की कविता *एक आजमगढ़ मेरे भीतर है और मैं दिल्ली में रहता हूं* पर टिप्पणी करते हुए नगर बोध के बहाने आधुनिक मन और आधुनिक कविता के दुविधा, विभाजित व्यक्तित्व और टूटन का भी चित्रण करते हैं, वे लिखते हैं, *यह दुविधा हमारे इस समय की ही समस्या नहीं है। यह*

समस्या भारतीय नगरीकरण की एक मूल समस्या है। इसके अधिकांश नागरिक जो नगरों, खासतौर से महानगरों में आए हैं उनका मन विभाजित मन है। इसलिए उसके नगरबोध की यह दुविधा हिंदी की पूरी आधुनिक कविता की दुविधा है।

नगर की व्याख्या करते हुए राजेश जोशी पलायन और विस्थापन जैसी समस्याओं पर बात करते हैं। अरुण कमल की कविता 'यात्रा' जो अपनी केवल धार में संकलित है, जिसकी आम व्याख्या यात्रा की कविता अथवा शहर की स्मृति की कविता हो सकती है, उसमें राजेश जोशी व्याख्या करते हुए नगरबोध विस्थापन के एक अलग रूप को समझते हैं। जीविका का व्यावहारिक पक्ष यह है कि जब आप अपने शहर या जगह को छोड़कर कहीं और जाते हैं तो वहां भी एक अपना संसार रचते हैं। वह भले की घर न हो लेकिन घर की शक्त लिए हुए कमरा तो होता ही है। विस्थापन का यह एक अलग रूपक हो सकता है, जिसकी ओर जोशी, अरुण कमल की कविता के बहाने इशारा कर रहे हैं। अरुण कमल की कविता है—

कौन नहीं चाहता जहां जिस जमीन उगे  
मिट्टी बन जाए वहीं  
पर दोमट नहीं, तपता हुआ रेत ही है घर  
तरबूज का,  
जहां निभे जिंदगी वही घर वहीं गांव।

यह एक अलग नगरबोध है। यह विस्थापन को नए सिरे से देखने, समझने और परिभाषित करने की मांग करता है। 'जहां निभे जिंदगी, वहीं घर है' एक व्यापक विमर्श की आवश्यकता पर बल देता है। इसी क्रम में राजेश जोशी शहर का सकारात्मक रूपक भी रचते हैं और पाठकों से इसके सौंदर्य को देखने की मांग करते हैं। वे लिखते हैं, शहर को हमेशा उसकी विपरीतताओं और विडंबनाओं में देखने के अलावा कुछ ऐसे दृश्यों में भी देखा जा सकता है जो एक चित्र की तरह रंगीन हैं, सुंदर हैं और आकर्षक भी।

अकविता में नगरबोध पर वे 'कविता पर बहस शुरू करो और शहर को अपनी ओर झुका लो' शीर्षक अध्याय में बात करते हुए कहते हैं, अकविता के बारे में कोई मूल्य निर्णय देना मेरा अभिप्राय नहीं है। मेरा अभिप्राय यहां उसके नगरबोध पर अपने को केंद्रित करना है। कहना न होगा कि अकविता के दौर में महानगरबोध को लेकर कई बहसें हुई हैं। यहां वे अपने इस किताब को लिखते समय की अपनी पक्षधरता स्पष्ट करते हैं, किंतु शहर केंद्रित आलेख जिसमें कलकत्ता, बनारस, उज्जैन, दिल्ली और मुंबई शामिल है, उसे छोड़ दें तो दशकों पर केंद्रित आलेख में वे चाहे अनचाहे अपनी आलोचना अथवा मूल्य निर्णय के लिए जगह बनाते गए हैं। यही वह स्थान है, जहां वे एक शोधार्थी नहीं एक सशक्त रचनाकार के रूप में अपनी उपस्थिति दर्ज कराते हैं। और इस तरह भूमिका में उनकी स्वीकारोक्ति जायज ठहरती है। इस बात की पुष्टि के लिए एक उद्धरण द्रष्टव्य होगा, अकविता में शहर बार बार आता है। लेकिन वह कोई खास नगर अक्सर नहीं होता। मुझे लगता है कि वह शहर का या महानगर का एक मनोगत रूपक अधिक है। लेकिन अकविता का नगर कई तरह से व्यक्त होता है। आक्रामक यौन बिंब, स्त्री के प्रति एक खास दृष्टि जो वस्तुतः स्त्री को एक चीज में अवमूल्यित कर देती है। माना जाता है कि अकविता वस्तुतः नेहरू युग से मोहभंग की कविता है, लेकिन यह मोहभंग किसी वैकल्पिक राजनीति को प्रस्तावित नहीं करता।

इस संकलन को पढ़ते हुए आप सहज ही शहरों की हजारों साल लंबी यात्रा को एक बौद्धिक सहचर के साथ की गई यात्रा के रूप में महसूस कर सकते हैं।

कविता के शहर में शहरों की, की गई इस यात्रा में राजेश जोशी का मन सिर्फ उस शहर की बनावट या बुनावट को देखने का नहीं है। इसके आलेख के जरिये उन्होंने शहर की सभ्यता और संस्कृति और उसके विकास को लक्षित करने का यत्न किया है। ठीक ठीक वैसे ही जैसे आचार्य शुक्ल चिंतामणि की भूमिका में लिखते हैं, इस पुस्तक में मेरी अंतर्यात्रा में पढ़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहां कहीं मार्मिक या भावाकर्षण स्थलों पर पहुंची है, वहां हृदय थोड़ा बहुत रमता अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धिपथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है। आचार्य शुक्ल कविता के संदर्भ में लिखते हैं, जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं। यह पुस्तक ज्ञानदशा और रसदशा का सहमेल है; जहां शहर और कविता के अंतर्सम्बंध को कविता के बहाने शहर की अंतर्यात्रा करते हुए रेखांकित किया गया है। दरअसल शहर अपने विभिन्न अर्थों में बाह्य जगत है और कविता बाह्य जगत का सर्जनात्मक रूपांतरण। इस पुस्तक के लेखों के माध्यम से कविता के प्रदेशों की सर्जनात्मक रूपांतरण की पड़ताल राजेश जोशी करते हैं। मुक्तिबोध ने रचनाप्रक्रिया को बाह्य का आभ्यांतरीकरण कहा है। इस पुस्तक के माध्यम से लेखक ने बाह्य के आभ्यंतरीकरण की प्रक्रिया को समझने की कोशिश की है और इसमें उनकी मदद शहर और कविता के अंतर्सम्बंध को देखने की दृष्टि करती है। इस पुस्तक में कुल बारह अध्याय हैं। पहले अध्याय 'कविता का नगर, वास्तविक नगर से एक भिन्न स्पेस है' को विषय प्रवेश और अंतिम अध्याय 'नोटबुक : उपरांत' को उपसंहार मान सकते हैं। इसके अतिरिक्त प्रारंभिक चार अध्याय और आठवां अध्याय क्रमशः उज्जयिनी और विदिशा, अयोध्या, बनारस, कलकत्ता और दिल्ली एवं मुंबई पर तथा छठा आधुनिक हिंदी कविता में नगर, सातवां अकविता में नगर, नवां नब्बे के दशक की हिंदी कविता में नगर और दसवां अध्याय इक्कीसवीं सदी की कविता में नगर पर केंद्रित है। अर्थात् इस किताब को दो भागों में बांटा जा सकता है, जिसमें पहले भाग में विशेष नगर को केंद्र में रखकर लिखे गये आलेख और दूसरे भाग में कविता दशकों में नगरों की उपस्थिति को लेकर लिखे गये आलेख सम्मिलित हैं। अंत में यह कि इस किताब की भाषा कहीं भी बोझिल नहीं हुई है, इसमें एक सतत प्रवाह है, जो आलोचकीय कृतियों में कम ही नजर आता है। आज जब शहरों के नाम थोथे राष्ट्रवाद, फर्जी भक्ति एवं अधूरे इतिहास ज्ञान के जानिब से जबरन बदल दिए जा रहे हों, तब कविता में शहर की मौजूदगी को तलाशते हुए शहर के चरित्र को खोजना अपने आप में एक लेखक का प्रतिपक्ष में खड़े हो जाना है। एक अन्य नुक्ते से देखें तो जब हम अपने शहरों के इतिहास की तलाश करेंगे तो अपने अपने भूगोल के माध्यम से इतिहास खोजेंगे जहां ग्रामीण या गंवई सभ्यता से निकलकर शहरों की तलाश और गांव से शहर के विस्थापन की भी खोज कर पाएंगे। यह किताब रिले रेस में एक पड़ाव पार कर चुकी है और अब आगे के शोधार्थी इन मुद्दों को ध्यान में रख इस रिले रेस को आगे बढ़ा सकते हैं। कविता के शहर से आगे कई अन्य रास्ते बनते तो हैं।

कविता का शहर : राजेश जोशी, प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली

# एक कवि का स्थायी पता है उसकी कविता

विवेक निराला

---

हमारे समय के महत्वपूर्ण कवि अरुण कमल का हिंदी कविता में आगमन अस्सी के दशक में हुआ। हिंदी कविता में 1980 का दशक आज जैसा नहीं था। समाजवाद का एक मॉडल तब तक मौजूद था। नागार्जुन और त्रिलोचन से लेकर नयी पीढ़ी के कवि एक साथ कविता की दुनिया में अपनी उपस्थिति दर्ज करा रहे थे। हिंदी कविता में कई पीढ़ियों की इसी सामूहिकता के चलते कवि अशोक वाजपेयी 'भारत भवन' से 'कविता की वापसी' का उद्घोष कर रहे थे। इसीलिए इस दौर की कविता किसी आंदोलन पर निर्भर न होकर स्वतः एक आंदोलन में परिणत हो चुकी थी, हालांकि उस समय के आंदोलन भी आज की तुलना में ज्यादा मजबूत और प्रभावशाली थे। इस दौर में लिखी गई कविताएं अपने समय के यथार्थ को पकड़ पाने में बहुत समर्थ थीं किंतु, बाद में स्थितियां बदल गई थीं।

सन् 1990 के बाद से लेकर आज तक का यह भयानक दौर जीवनमूल्यों और सामाजिक मूल्यों के उलटफेर का दौर है। समाजवाद का वह विशाल वटवृक्ष जिसके होने से फूल, पत्ती, चिड़िया और मनुष्य आश्वस्त थे, अब ढह चुका था। मार्क्सवाद की भौतिकता के अखंड विश्वासी संवेदनशील मन भी बाबरी मस्जिद के ध्वंस से भीतर तक टूट चुके थे। डंकल प्रस्ताव लाये जा रहे थे और हमारा कृषिप्रधान देश कृषिक्षेत्र में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को खुली छूट देने के समझौते कर रहा था।

90 के दशक के बाद नयी शताब्दी का एक धूमिल चेहरा सामने था, मगर कुछ उम्मीदें बची हुयी थीं। नयी शताब्दी के एक दशक बीत जाने के बाद जब इसका चेहरा साफ हुआ तो उम्मीदों के साथ मन में भी टूटन महसूस की जाने लगी। भ्रष्टाचार, कॉरपोरेट लूट और आंदोलनों



के बर्बर दमन के काले कारनामे सामने आये। खाये पीये अघाये मध्यवर्ग के भीतर राष्ट्रवाद और धर्म का सागर हिलोरें लेने लगा और 2014 में सत्ता परिवर्तन हुआ। कवि अरुण कमल के सद्यः प्रकाशित कविता संग्रह **योगफल** में इसी दौर यानी 2011 से लेकर 2018 तक की कविताएं प्रकाशित हैं।

इस पूरे दौर में बाजार का प्रभाव बढ़ा है। एक दौर में मनुष्य बाजार को निर्धारित और नियंत्रित करता था, किंतु आज बाजार मनुष्य को नियंत्रित करने लगा है। बाजार अब मनुष्य का नियंता है। बाजार मनुष्य की नियति तय करने लगा है। खुली बाजार अर्थव्यवस्था में बड़े बड़े मॉल खड़े हुए और मुहल्लों की पारम्परिक फुटकर दुकानें संकट में आ गईं। कवि छोटों की हिमायत करता है और कहता है— *बात ये है भाई मोरे कि मैं खुद एक खुदरा आदमी हूं/मोटे लोग थोक होते हैं दुबले खुदरा/खुदरा जो भिखमंगों के कटोरों में होता है/वही खुदरा रेजकारी चिल्लर टूटा/एक खुदरा आदमी जो कविता भी खुदरा ही लिखता है/पर जोहता है बाट विदेशी निवेश का।*

हमारे समय में सबसे अधिक जिस चीज का हास हुआ है, वह है भरोसा। इस निर्मम समय में मदद के लिए बने हाथ लूट के माध्यम में तब्दील हो गये हैं। आप उन हाथों पर मासूम सा भरोसा कर लेते हैं और अपने को ठगा लुटा पाते हैं। कवि इसी समय में प्रलय को देखता है और कहता है— *कोई भागता है लूटकर सोये भिखारी का कटोरा/एक भिक्षु का चीवर/एक अंधे को रास्ता दिखाने के बहाने/छीनकर भागता है उसकी छड़ी/जब लुटने लगे वेश्याएं यतीम बूढ़े अपंग/तब समझो आ गया प्रलय का दिन।*

यह कविता कहीं से भी कम राजनैतिक कविता नहीं है लेकिन, अपने समय की हिंसक और लगभग मनुष्यविरोधी राजनीति से अलग हटकर विनम्र किंतु दृढ़ प्रतिरोधी स्वभाव के साथ हमारे सामने है। समकालीन कविता में अब विचार और भाव का विभेद भी लगभग मिट गया है और विचार तथा भाव की यह एकता भी शायद समकालीन कविता की एक उपलब्धि है।

राजसत्ता और पूंजी के गठजोड़ ने हमारी दुनिया को कितना क्रूर बना दिया है। पूंजी के लुटेरे हाथों में हमारी पृथ्वी लट्टू की तरह नाच रही है। आदिवासियों को खदेड़कर उनके हिस्से के जल, जंगल, जमीन को पूंजीपतियों के हवाले किया जा रहा है जहां वे मुनाफा कमा सकें। निराला ने अपने समय में पहचाना था कि हमारी सभ्यता 'दगा की' सभ्यता है। हर कदम पर दगा है। पूंजी की गुलाम यह सभ्यता हम सबको नई गुलामी की ओर धकेल रही है जहां पहुंच कर समूचा लोकतंत्र अपने मायने खो देता है, देश निरर्थ होकर शरणार्थी शिविर बन जाता है। यहीं अरुण कमल सवाल उठाते हैं कि— *कौन कहता है गुलामी खतम हो गई/कौन कहता है यहां जनतंत्र है/कहां है पृथ्वी पर वह देश/पूछो उनसे जो हाथ में झाड़ू लिए घूम रहे हैं/राजपथों पर/पूछो पूंजीवाद से बड़ा कूड़ा/और क्या है मां पृथ्वी पर।*

अपनी कविता को अरुण कमल दीन की विनयपत्रिका कहते हैं, जबकि वैसा दैन्य उनके यहां कहीं नहीं है। उनके हर कविता संग्रह के आरम्भ में कवि तुलसीदास की कविता पंक्तियां होती हैं— *विनयपत्रिका दीन की, आप ही बांचो/हिये हेरि तुलसी लिखी, सो सुभाय सही करि बहुरि पूंछिये पांचो।* जाहिर है अरुण कमल की विनय पत्रिका की कविता संवेदना और सहृदयता से निर्मित होती है, इसीलिये शिल्प के प्रति अरुण कमल के यहां कोई सावधानी, सजगता या प्रयोग नहीं है, पर साधारण आदमी के सरल मन की तरल संवेदना है। इनके यहां बौद्धिक जटिलता नहीं है बल्कि संवेदनात्मक संश्लिष्टता है। इसीलिए शिल्प में बेहद सहज सरल दिखती इनकी कविताएं हमारे समय की जटिलता के साथ भाव में उतनी ही संश्लिष्ट हैं।

भारतीय मनीषा में कवि को विधाता— ब्रह्मा— का स्थान प्राप्त है क्योंकि वह एक समानांतर सृष्टि रचता है, किंतु इस समानांतर सृष्टि को रचने से पूर्व इस जगत को पूरी तरह से जान लेना आवश्यक है तभी एक कवि की समानांतर और बेहतर दुनिया का निर्माण सम्भव हो सकता है। 'योगफल' नाम की कविता, जिसके नाम पर कविता संग्रह का नामकरण किया गया है, में कवि अपनी आकांक्षाओं को व्यक्त करता है— *कभी कभी मैं उस वज्र की तरह लगना चाहता हूँ/जानना चाहता हूँ क्या कुछ चल रहा है उस मयूर/उस कुक्कुट की देह में इस ब्रह्ममूर्त में/कभी कभी मैं ताड़ का वो पेड़ होना चाहता हूँ/तब तो जानूंगा क्या मतलब इतनी दूर फल लटकाने का/कभी कभी यह भी इच्छा होती है कि/व्याघ्र या मार्जार बनूँ/कभी भुजंग कभी वक/कभी उल्लू यानी उलूक/सारे पशु पक्षियों वनस्पतियों में भटकता फिरूँ।*

अरुण कमल की कविताओं पर बात करते हुए उनकी लम्बी कविताओं पर बात करना जरूरी है। इन कविताओं में अरुण कमल एकदम नई जमीन पर नजर आते हैं। अपनी सुरक्षित कविता की जमीन और टोन से बहुत अलग। ये कविताएं अपने कथ्य में उतनी ही अनूठी और पाँवरफुल हैं जितनी अपने शिल्प में सुगठित। अपने जटिल समय को व्यक्त करने में कई बार कविता को अपनी काया बदलनी पड़ती है। 'प्रलय' इस संग्रह की महाकाव्यात्मक कविता है। यह सारा देश जैसे एक विराट वधस्थल है और सारी स्थितियां जीवनविरोधी। इसी प्रकार 'कविता 2013' संग्रह की लम्बी कविताओं में शुमार की जानी चाहिए जो एक ही समय को कई तरह के विभाजनों और कई तरह की घटनाओं को एक ही संयोजन में देखती है और अपने समय का दस्तावेज बन जाती है।

प्रतिबद्धता को यांत्रिक तरीके से लादने की प्रवृत्ति अरुण कमल की कविता में नहीं है। उसकी प्रतिबद्धता अविश्वसनीय नहीं है, लेकिन वह इसे अलंकार की तरह वहन करने के भी पक्ष में नहीं। वह तो इसे रचना के रेशे में शामिल करती है जिससे कविता की गड़िन बुनावट में प्रतिबद्धता भी शामिल रहे और नंगी आंखों से दिखाई न दे। अपनी प्रतिबद्धता और पक्षधरता से ही कवि अपने समय का जीवनराग रचता है जिसे इन कविताओं में सुना जा सकता है। अरुण कमल अपनी पुस्तक *कविता और समय* में कविता के बारे में कहते हैं कि— *कविता निर्बलतम का पक्ष है— जिसका कोई नहीं उसका कविता है।*

भ्रष्टाचार में आकंठ डूबी हुई सरकार के खिलाफ एक बड़े जन आंदोलन से देश भर में लोकपाल की बहसें तेज हुईं। जन आकांक्षाओं ने पिछली सरकार को बुरी तरह पराजित किया मगर, नये निजाम में स्थितियां बद से बदतर हुईं। ऐसे में जो जहां ईमानदारी से अपने काम को अंजाम दे रहा है वह सलामी का हकदार है। यहां कवि की पक्षधरता स्पष्ट है। ये सब समाज के हाशिए के लोग हैं जिन्हें कवि अपना प्रणाम निवेदित करता है— *उसको सलाम/उस रिक्शेवाले को सलाम/जो मेरा छूटा थैला दे गया घर पर/उस कूड़ा बीनते बच्चे की जै/जिसने बम देखा फटने से पहले/उस मिस्त्री मजदूर को वंदे/जिसने कहा आप दस टका ज्यादा दे रहे हैं सर/ये ही मेरे लोग मेरे लोक मेरे लोकपाल/मेरे नगपति के भव्य भाल।*

इस दौर में सबसे ज्यादा हमला अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर हुआ है। सत्ता ने प्रतिरोध की हर आवाज को दबाने के तमाम यत्न किये हैं। इस दौर में लेखक संगठनों की जितनी जरूरत बढ़ी है उतनी ही लेखक संगठनों ने अपनी चमक भी खोई है। अरुण कमल का सम्बंध प्रगतिशील लेखक संघ से रहा है। संग्रह की एक कविता है— 'प्रगतिशील लेखक संघ के एलबम से।' दस उपशीर्षकों में विभाजित इस कविता में जहां नासिक में अपने मेहनताने से पैसे जमा करने वाले कामगारों और कलमकारों की एकता, जबलपुर में कथाकार भीष्म साहनी के दरी

बिछाने, कवि यदुनंदन रसिक, चित्रकारों कलाकारों की भी एक यूनियन की आकांक्षा पाले हुए आते नसीम पेंटर, लेखकों के जुलूस और तमाम बहसों की याद है तो वहीं एक फैंटेसी कि रात में जब सब ओर हत्यारे घूम रहे हैं राजेश जोशी, विष्णु नागर, मंगलेश डबराल, विजय कुमार, वीरेंद्र यादव, कमला प्रसाद और नीलेश रघुवंशी के साथ चाय पीने की इच्छा है और सुबह की पहली खबर है कि सरकार ने चाय पर रोक लगायी। कविता के अंतिम हिस्से में एक बातचीत है कि अपनी सारी प्रतिबद्धता और पक्षधरता के बावजूद हमें उनका समर्थन नहीं प्राप्त हो सका जिनके लिए लड़ते रहे। सवाल तो यह है कि ऐसा क्यों हुआ? क्या छद्म राष्ट्रवाद और जातिवाद ने मनुष्य का इतना पतन कर दिया! क्या पूंजीवाद हमारी मनुष्यता को ही विलोपित करता रहा है— क्या लगता है हम एक भी सीट जीतेंगे साथी?/ना, लगता तो नहीं/लेकिन इतने गरीब लोग, मजदूर किसान?/सब हमारा साथ लेंगे पर साथ नहीं देंगे/ऐसा?/जिसके सिरहाने मैं रातभर जगा माथे की पट्टियां/बदलता/वो सुबह पहचानेगा नहीं?/जिसके लिए मैंने अपना खून दिया/वो भी पूछेगा मेरी जाति?/पूंजीवाद सबको नीचे गिराता है/हर आदमी पहले से कम आदमी।

कविता में स्मृतियों की आवाजाही पहले भी होती रही है लेकिन प्रायः नॉस्टेल्लिज्या के नाम पर इन स्मृतियों की रचनात्मक भूमिका को नजरअंदाज कर दिया जाता है। ये स्मृतियां हमेशा वर्तमान के प्रतिरोध का एक कारगर हथियार रही हैं। मिलान कुंदेरा ने मनुष्य के संघर्ष को मूलतः विस्मृति के विरुद्ध स्मृति का ही संघर्ष माना है। संस्कृति और इतिहास एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं। कवि स्वीकार करता है कि— वे स्मृतियां/वे सब जिनका वास है तुम्हारी देह में/तभी तक हैं जब तक यह कच्ची देह है तुम्हारी। इस संग्रह की तमाम कविताएं हिंदी काव्य परम्परा का गर्व भरा विस्तार हैं। इलियट के परम्परा के सिद्धांत के अनुसार कड़ी जोड़ते हुए कवि लीलाधर जगूड़ी को समर्पित कविता 'अभिनंदन पत्र', कवि चंद्रकांत देवताले की स्मृति में 'स्थायी पता', दूधनाथ सिंह की स्मृति को समर्पित कविता 'उन कवियों की स्मृति में' आदि परम्परा का ऋण स्वीकार करती हैं और इन कविताओं में परम्परा बोलती हुई भी प्रतीत होती है।

कवि के इस संग्रह *योगफल* का उपशीर्षक है— नीचे धाह ऊपर शीत। इस उपशीर्षक की व्यंजकता महत्वपूर्ण है। मेरी समझ से इसके दो सांकेतिक अर्थ हो सकते हैं पहला, दोनों ध्रुवांतों के बीच या कह लें कि दोनों अतियों के मध्य वह जीवनपथ अथवा कविता का पथ जिसे बुद्ध ने मध्यम मार्ग कहा था। दूसरा, सतह से ठंडी दिखती इन कविताओं के भीतर की वह अग्नि जिसकी धधक से पककर निर्मित सम्भव हुई। ये कविताएं अपने समय के जीवनानुभवों के आवे में तपकर आई हैं जिनमें किसी तरह की कृत्रिमता का सृजन नहीं, इसीलिए इन कविताओं में कवि अपने लिए प्रतिरोध की नई भाषा अर्जित करता है। चाहें तो कह लें कि यह अर्जन भी है और आत्म विसर्जन भी। अरुण कमल अंडरटोन के कवि माने जाते हैं, वे अपने कविता का राग कोमल स्वरों से सृजित करते हैं मगर इस मायने में यह संग्रह भिन्न किस्म का है कि इस संग्रह में कविताएं थोड़ी 'लाउड' हुई हैं। कविताओं में कई जगह आयु के वार्धक्य, हताशा और जर्जरता की मद्धिम आवाजे हैं जो निरंतर क्षत विक्षत कर रहे हमारे हिंसक समय का पता तो देती ही हैं, समकालीन हिंदी कविता में नई पीढ़ियों के आगमन के साथ ही उनकी अग्रज के तौर पर गर्व और गरिमामयी उपस्थिति को भी सुनिश्चित करती हैं।

योगफल : अरुण कमल, प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

# सत्य के बने रहने की घोषणा

---

रघुवंशमणि

हमारे समय की सबसे बड़ी विडंबना यह रही है कि राजनीति ने साहित्य की दिशा को निर्धारित किया है। यह दिशा सत्ता के बरक्स प्रतिरोध की दिशा रही है और साहित्य के परिदृश्य पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर यह तथ्य उजागर होता है कि लगभग पूरा का पूरा समकालीन हिंदी साहित्य सत्ता की प्रवृत्तियों के खिलाफ खड़ा है। विगत कुछ समय से सत्ता का चरित्र जिस प्रकार अधिक से अधिक दमनात्मक होता गया है, साहित्य का प्रतिरोधी स्वर उसी तुलना में तेज होता गया है। इसका सबसे बड़ा कारण तो यह है कि साहित्यकार मनुष्यता का पक्षधर होने के कारण इन अमानवीय होती परिस्थितियों के विरुद्ध खड़ा होना अपना सबसे बड़ा साहित्यिक दायित्व समझता है। यह रेखांकित करने योग्य विषय है कि जो लेखक कुछ वर्षों पहले तक साहित्य की स्वायत्तता की बात करते थे, अब अपने राजनीतिक पक्ष को स्पष्ट करने को विवश हो गए हैं। दरअसल हुआ यह है कि दक्षिणपंथी सत्ता ने लेखकीय स्वतंत्रता पर भी हाथ डालना प्रारंभ कर दिया है और उसके दमन का शिकार लेखक वर्ग हुआ है। देश पर शासन कर रही वर्चस्वी सत्ता अपने विरोधी विचार के लेखकों का दमन और उत्पीड़न करती है तथा मौके बेमौके ठिकाने भी लगा देती है।

परिणामतः सत्ता के समर्थक कुछ लेखकों को छोड़कर बाकी सभी रचनाकार सत्ता के विपक्ष में खड़े हो गए हैं। यह उनकी विवेक संपन्नता, जनपक्षधरता और अन्याय के विरुद्ध खड़े होने की प्रवृत्ति को दर्शाता है। परिवर्तन और जनपक्ष में खड़े बहुत से रचनाकार इस सत्ता के आने से पहले भी सत्ता के विपक्ष में खड़े थे और उसकी आलोचना प्रस्तुत करते थे। मगर हुआ यह है कि इस सत्ता का चरित्र स्पष्टतः जनतंत्र विरोधी है और यह संविधान के दायरे

में रहते हुए भी एक प्रकार के अधिनायकवाद को प्रश्रय दे रही है। इसलिए जनतंत्र के पक्ष में खड़े इन लेखकों के स्वर में इस सर्वसत्तावादी सरकार के आने के बाद अधिक कठोरता और कसैलापन परिलक्षित हुआ है।

साहित्य जगत में अधिक संवेदनशील और कलात्मक मानी जाने वाली विधा कविता भी इस तथ्य का अपवाद नहीं है और यहां भी सर्वसत्तावाद के प्रतिरोध का स्वर काफी गहरा है। कुछ दशकों से व्यापक होती इस प्रवृत्ति ने साहित्य को अभिधात्मकता और प्रचारात्मकता की ओर ठेल दिया है। अपने समय में खड़ी कविता के लिए प्रचारात्मकता कोई अस्पृश्य तत्व नहीं है; मगर कविता के साथ समस्या यह है कि साहित्यिक क्षेत्र में उसे पूरी तरह से प्रचारात्मक होने से बचाने का प्रश्न खड़ा होता रहा है। साहित्य में प्रचारात्मक कविता का जोर बढ़ा है और वह लगभग नारा हो जाने के करीब पहुंच गई है जिसे पाठक वर्ग में स्वीकृति भी मिलती जा रही है तथा आलोचकों के लिए भी अब यह नई बात नहीं है। लेकिन कविता की इस नारात्मकता को काव्यमूल्यों के परिप्रेक्ष्य में कैसे रखा जाय, यह रचनाधर्मिता के समक्ष एक यक्षप्रश्न रहा है। तार सप्तक में प्रकाशित अपनी कविताओं के सिलसिले में लिखते हुए मुक्तिबोध भी इस प्रश्न से जूझ रहे थे। हमारे समय के कवि के लिए भी यह प्रश्न उतना ही मारक है जितना मुक्तिबोध के समय में था।

इन परिस्थितियों में **सुभाष राय** का कविता संग्रह **सलीब पर सच** प्रकाशित हुआ है जो सत्ता के प्रतिरोध को अलग तरह से प्रस्तुत करता है। इन कविताओं में प्रतिरोध के साथ साथ कविता के अपने मूल्य भी गुंथे बिंधे हैं। हिंदी क्षेत्र में सुभाष राय को संपादक, लेखक और कवि के रूप में ख्याति प्राप्त है। कविता संग्रह की कविताओं से गुजरते हुए यह अहसास बना रहता है कि समकालीन कविता के स्वर के साथ रहते हुए भी वे कविता के क्षेत्र में नए रास्तों की तलाश में लगे रहे हैं। यह नए रास्तों की तलाश प्रयोगवाद जैसी चीज नहीं है और न ही यह किसी चमत्कार के आसरे खड़ी होती है। यह वास्तव में मुख्यमार्ग से गुजरते हुए ही मौलिकता के नए पथ की तलाश है। कविताओं में ही इस तरह के नए पथ की तलाश के प्रयास को विषयवस्तु बना दिया गया है। यह नयापन किसी शैलीगत प्रयोग की खोज में नहीं, बल्कि यह नया पथ तो हमें अपने स्वप्नों से ही प्राप्त होता है और मौलिकता को जन्म देता है।

*सपने गढ़ते हैं नए रास्ते, नई मजिलें*

*सोचो, क्या सचमुच सपने हैं तुम्हारे पास।*

(सपने हैं क्या तुम्हारे पास)

सपनों के लिए सबसे जरूरी है यथास्थितिवाद से ऊपर उठना क्योंकि यथास्थितिवाद किसी भी परिवर्तन का विरोधी होता है और यथास्थिति को स्वीकार करने वाला व्यक्ति नए सपने नहीं देख सकता। संग्रह के प्रारंभ में ही कवि स्वयं को ऐसे लोगों के साथ खड़ा करता है जो उसी की तरह जाग्रत और विचारशील हैं। यथास्थितिवादियों से कवि को कुछ नहीं कहना है क्योंकि वे चेतना के स्तर पर मृत हैं और वर्तमान व्यवस्था में बाजार में बदल गए हैं। स्वयं को बेच देना उनकी नियति है। *उनसे मुझे कुछ नहीं कहना / जो दीवारों में चुने जाने से खुश हैं/ जो मुर्दों के मानिंद घर से निकलते हैं/ बाजारों में खरीदारी करते हैं / और खुद खरीदे हुए सामान में बदल जाते हैं/ घर लौटकर सजी हुए काफिन में कैद हो जाते हैं चुपचाप।* वास्तविकता यह है कि हमारे दौर में उपभोक्तावाद ने लोगों को उनकी छोटी छोटी इच्छाओं में इस कदर कैद कर लिया है कि वे जीवन के बड़े प्रश्नों पर सोचने के काबिल ही नहीं बचे। कवि स्वयं को उन परिवर्तनकारी शक्तियों से जोड़ता है जिनसे वह परिचित भी नहीं, मगर जो अपनी अपनी जगह पर परिवर्तन

के साथ हैं तथा संघर्षरत हैं। कवि की कविता से प्रतिबद्धता भी इसी प्रकार की है।

कविता तो शब्दों से ही होती है और शब्दों में ही होती है, ऐसे शब्द जो सच के लिए संघर्ष करें। मगर हमारे समय में शब्द कमजोर हुए हैं जिसका कारण उनका दुरुपयोग रहा है, खासकर राजनीतिज्ञों और बाजारवादियों द्वारा। हमारे समय को पोस्ट ट्रुथ ( उत्तर सत्य) का समय भी कहा गया है जहां झूठ को सच के रूप में प्रस्तुत किया जाता है और इस काम में जनतंत्र का चौथा खंभा भी लगा हुआ है। जिन शब्दों से सच बोला जा सकता है, वही झूठ की अभिव्यक्ति के भी माध्यम बने हुए हैं। शब्दों के माध्यम से ही सच को सलीब पर चढ़ा दिया गया है। कविता शब्द प्रतीकों के माध्यम से शब्दों के दुरुपयोग को रेखांकित करती है जिसमें कवि शब्द को तलवार और गिटार के रूप में इस्तेमाल करना चाहता है मगर असफल हो जाता है। मैं हैरान हूँ मगर परेशान नहीं/मैं जानता हूँ कि शब्दों के खिलाफ हुए हैं साजिशें/और उनके अर्थों से लगातार की गई है छेड़छाड़/मैं जानता हूँ उन्हें भी/जो शब्दों को कमजोर, कायर और डरपोक बनाने में जुटे हैं/जो शब्दों को गुलाम बनाना चाहते हैं। इस भाषा के विरुद्ध रची गई पूरी साजिश के खिलाफ कवि अपने समानधर्मा लोगों के साथ खड़ा होना चाहता है।

कविता में प्रकृति एक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में आती है। मनुष्य का जीवन प्रकृति से दूर होता गया है और मनुष्य की प्रकृति पर भी एक प्रकार की कृत्रिमता हावी होती गई है। प्रकृति हमें बहुत कुछ देती है मगर मनुष्य की अनर्गल इच्छाओं और महत्वाकांक्षाओं ने प्राकृतिक वरदानों के साथ भी दुर्व्यवहार किया है—जब फसलें खड़ी होती हैं, तो हम खुश होते हैं/कटती हैं तो हम निराश हो जाते हैं/आदमी की भूख बढ़ जाती है हर फसल के बाद। प्रकृति के वरदान के बरक्स कवि मनुष्य की कभी न संतुष्ट होने वाली इच्छाओं को रखता है जो प्रकृति के दोहन की वजह है और जो स्वयं में मानवीय त्रासदी का भी बड़ा कारण है।

मनुष्य ने प्रकृति का जैसा दोहन किया है वह धीरे धीरे मनुष्य के अपने ही विनाश का कारण बनता जा रहा है। कवि द्वारा इस बात को सूरज और धरती के प्रतीक में प्रस्तुत किया गया है। सुभाष राय की कविताओं में प्रतीकों की सर्जना कविता का एक महत्वपूर्ण पक्ष है जिससे उनकी अलग पहचान बनती है। (गुस्साया सूरज) इसी प्रकार समुद्र सामान्य जीवन के महत्वपूर्ण प्रतीक के रूप में सामने आता है जिसमें कवि डूबता उतराता है। (समुद्र )

जीवन के प्रश्न पर कवि की दर्शनिकता उसके द्वारा सृजित इसी प्रकार के प्रतीकों में अभिव्यक्ति पाती है। जीवन और समय की दार्शनिक अभिव्यक्ति में फूल मुरझाने और खिलने के बीच अवस्थित है। (समय) मृत्यु के बिना जीवन संभव नहीं और वह जीना भी विभिन्न बिंबों में विद्यमान है। ( मृत्यु के साथ जीना) कवि पेड़ की तरह जमीन पर गिरे बीजों में जीना चाहता है। (मरकर जी उठना) संग्रह की कविता जीने की समझ में दार्शनिकता विरोधाभासों में प्रकट होती है। चुप रहने की प्रक्रिया सुनने की प्रक्रिया है जिसमें दुनिया भर की चीखें, दग्ध, वंचित और कातर आवाजें सुनाई देती हैं। अकेला होना अकेलेपन का समाप्त हो जाना भी है क्योंकि एकांत में सारी दुनिया साथ हो जाती है। इसी तरह सीखने का भी उल्टा पक्ष है। धन कमाना सीखने का मतलब है दूसरों के लिए जीना न सीख पाना। मरना सीखने की कला सीखना जीने की कला को सीखना हो जाता है। संग्रह की कुछ कविताओं में इस प्रकार की द्वंद्वात्मक दृष्टि भी विशिष्ट है।

सतत परिवर्तनशील समय में हमारे लिए समय की घड़ी को उल्टा घुमा पाना संभव नहीं। बीता हुआ समय जैसा भी रहा हो लौटकर वापस नहीं आता। मगर बीते समय की स्मृतियां

अतीतकामना के रूप में हमारे साथ बनी रहती हैं। बीते समय और जीवन के मूल्य समाप्त नहीं होते और कविता में अतीतकामना इन मूल्यों के प्रति लगाव में ही अपनी सार्थकता प्राप्त करती है। कवि का अपने गांव के प्रति गहरा लगाव है और उनकी कविता गांव की तलाश व्यक्तिगत अतीतकामना से शुरू होती है जिसमें कवि के परिचित पात्र कविता में उतरते हैं। लेकिन कविता का अंत उन सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों को लेकर होता है जो गांव से जुड़े थे और जिनकी तलाश भी है—

शहर बढ़ आया है गांव तक  
अपने छद्म और फरेब के साथ  
मैं परेशान हूँ उस मिट्टी के लिए  
जिसका मैं बना हूँ जिससे मैं जिंदा हूँ।

स्पष्ट है कि यह अतीत कामना न होकर जीवन मूल्यों की तलाश है। कविता में राजनीतिक प्रतिरोध की नकारमुद्रा के बरक्स जीवनमूल्य सकारात्मक तादात्म्य स्थापित करते हैं। यही कारण है कि दुर्निवार राजनीतिक कविताओं के साथ जीवन में प्रेम से जुड़ी रचनाएं भी आ खड़ी होती हैं। इस झूठ और फरेब से भरे समय में सामान्य जीवन और प्रेम के सच्चे मूल्य ही जीवनीशक्ति प्रदान करते हैं। सामान्य जनता, घर परिवार, और प्रेम पर लिखी गई कविताओं को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा समझा जा सकता है। *बुलावा* जैसी कविता में आमंत्रण का खुलापन उस अस्वाभाविकता और कृत्रिमता के प्रतिकार सा है जिसका हम अब अधिकांश जीवन में लगातार साक्षात्कार करते हैं।

सुभाष राय की कविताओं में आने वाले साहित्यिक संदर्भ साहित्य के सुधीजन के लिए व्यापक काव्य परिप्रेक्ष्य लेकर आते हैं जिन्हें उनकी कविता की अपनी अतिरिक्त विशेषता के रूप में देखा जाना चाहिए। उदाहरण के लिए *अकाल के बादल* जैसी कविता में संस्कृत साहित्य के संदर्भ हैं जिनमें सभी के सामने हाथ न पसारने की बात कही गई है। लेकिन इस साहित्यिक संदर्भ की छायाएं कविता में आगे बढ़कर वर्तमान राजनीति तक पहुंचती हैं।

निष्कर्षतः ये कविताएं कवि के द्वारा अपने मनुष्य होने का एलान हैं जिसके द्वारा कवि मनुष्यता के जीवित रहने और विपरीत परिस्थितियों में भी सत्य के बने रहने की घोषणा करता है। आतंकवाद और सांप्रदायिकता के बीच भी यह मनुष्यता अंततः अपना अस्तित्व बनाये रखती है। *शिनाख्त* कविता आतंकवाद के विरुद्ध है जिसके शब्द आतंकवाद के खिलाफ जैसे ही टकराते हैं जैसे वे सांप्रदायिकता के विरुद्ध टकराते हैं—*हमने मनुष्यता के शब्द फेंके तुम्हारी ओर /लेकिन तुमने उन पर दागी मिसाइलें/तुम्हें नहीं मालूम शब्द जितनी बार घायल हुए/उतने ही मजबूत होते चले गए।* मनुष्यता का स्वर कवि की कविता का मूल स्वर है। इस परिप्रेक्ष्य में सुभाष राय की कविता मरजीवा संग्रह की केंद्रीय कविता बनती है जिसमें सत्य सलीब पर लटका हुआ है। कविता संग्रह का शीर्षक भी यहीं से लिया गया है।

सलीब पर सच : सुभाष राय, प्रकाशक : बोधि प्रकाशन, जयपुर, राजस्थान

# जड़ता से भी ज्यादा जकड़न का अनंत विस्तार

जगन्नाथ दुबे

काठगोदाम प्रसिद्ध शिक्षाविद, चिंतक और कथाकार कृष्ण कुमार का कहानी संग्रह है। हिंदी जगत में कृष्ण कुमार की छवि एक महत्वपूर्ण शिक्षाविद और हिंदी चिंतक के रूप में रही है। हिंदी पाठकों से कृष्ण कुमार का परिचय एक कथाकार से पहले या कहेँ कि साथ साथ दो और रूपों में रहा है। एक तो शिक्षाविद के रूप में, जहां वे भारत के शैक्षिक विकास की नीतियों पर काम करते रहे हैं। दूसरा परिचय *चूड़ी बाजार में लड़की* के लेखक के रूप में दिया जा सकता है। *चूड़ी बाजार में लड़की* एक ऐसी पुस्तक है जिसमें भारतीय सामाजिक संरचना में स्त्री पुरुष के पारस्परिक संबंधों की पड़ताल ही नहीं की गई है, एक लड़की के स्त्री बनने या कि बना दिये जाने की त्रासदी भी व्यक्त की गई है।

यूं तो काठगोदाम से पहले कृष्ण कुमार के *त्रिकाल दर्शन* और *नीली आंखों वाले बगुले* नाम से दो कहानी संग्रह और प्रकाशित हो चुके हैं लेकिन काठगोदाम नामक संग्रह में वे जिस कथा संरचना को लेकर उपस्थित होते हैं वह इससे पूर्व के कहानी संग्रहों में नहीं दिखाई देती। पिछले संग्रहों को पढ़ने के बाद इस संग्रह को पढ़ते हुये ऐसा लगता है जैसे वे दोनों संग्रह इस संग्रह की पृष्ठभूमि के रूप में मौजूद हों। समीक्ष्य संग्रह की कहानियों को पढ़ते हुये जो बात सबसे पहले ध्यान में आती है वह यह कि यह संग्रह 21वीं सदी के भारतीय सामाजिक राजनैतिक ढांचे की कथा कहने वाला संग्रह है। इस संग्रह की कहानियां भूमंडलीकरण और उत्तर पूंजीवादी संस्कृति के विकसित होने से पहले नहीं लिखी जा सकती थीं। इन कहानियों में मौजूद भारतीय सामाजिक राजनैतिक ढांचा, उसके पात्र और उनकी जीवन स्थितियां 21वीं सदी की हैं। दूसरी बात यह कि ये कहानियां किसी खास ढांचे में न बंधकर भारतीय जीवन यथार्थ के विविध



पहलुओं की कथा कहती हैं। यह संग्रह कथाकार के व्यापक जीवननुभाव की तरफ तो हमारा ध्यान ले ही जाता है उसकी वैचारिक प्रतिबद्धता और वर्गचेतना को भी स्पष्ट करता है।

इस संग्रह की कहानियों को मोटे तौर पर दो भागों में बांटकर पढ़ना समझना चाहिए। एक भाग में वे कहानियां जो भारतीय समाज के सामाजिक तानेबाने में मौजूद शोषण, दमन और उत्पीड़न की बातें करती हैं। दूसरे में वे जो भूमंडलीकरण और उत्तर पूंजीवादी संस्कृति से बने मध्यवर्गीय जीवन की कथा कहती हैं। ऐसा नहीं है कि ये संग्रह में किसी तरह की मंशा से दर्ज किया गया हो, लेकिन इन्हें पढ़ते हुये यह भेद दिखाई देता है। भारतीय समाज में मौजूद शोषण, दमन और उत्पीड़न को समझने के लिए और बहुत हद तक अपने समय समाज को भी समझने के लिए संग्रह के शीर्षक वाली कहानी का अंतिम पैरा मुझे 'मास्टर की' की तरह लगता है। पैरा इस तरह है—“हमारा समाज तो कटी हुई मरी लकड़ियों का गोदाम है। लोग कहते हैं, बहुत कुछ बदल चुका है, बहुत कुछ बदल रहा है। आप मेरी शिक्षक हैं, बताइये, मुझे क्यों नहीं दिख रहा बदलाव। मुझे सिर्फ जड़ता क्यों दिखती है, और जड़ता से भी ज्यादा जकड़न का अनंत विस्तार दिखता है। यह भी क्या मेरी ही दृष्टि का दोष है? यह रिफ्रेशर कोर्स का उदाहरण है। कोर्स सिर्फ अनुसूचित जाति लेक्चररों के लिए है। क्या औचित्य है उन्हें अलग से बुलाने का? उन्हें पढ़ाने के लिए बुलाये गए लगभग सारे रिसोर्स पर्सन ऊंची जातियों के हैं।” यूं कहानी में तो यह बात सुशीला बहनजी से कहानी की नैरेटर कह रही है, लेकिन उसकी यह स्वीकृति कथाकार की भी स्वीकृति है और स्वीकृति से ज्यादा हमारे समय समाज का सच है। अभी डॉ. पायल तड़वी की आत्महत्या के बाद देश भर के बौद्धिक तबके में जिस तरह की बहस चल रही है उसमें यह माना जा रहा है कि इस तरह की घटनाओं के पीछे बहुत हद तक संस्थानों में होने वाली मानसिक प्रताड़ना जिम्मेदार है। एक खास वर्ग से आने वाले कई छात्र छात्राओं ने भी स्वीकार किया कि शिक्षण संस्थानों से लेकर हर जगह, हर स्तर पर तमाम तरीके के डिस्क्रिमिनेशन उनके साथ लगातार होता है। इस स्वीकृति और सच के साथ जब हम इस संग्रह के पास जाते हैं तो 'विजयपताका' के दिलीप से हमारा सामना होता है, 'दो सहेलियां' की मीरा और पद्मिनी की वार्ता सुनाई पड़ती है और काठगोदाम की नैरेटर और सुशीला बहनजी से मुलाकात होती है। इन पात्रों से मिलने, इन्हें खोजने और इनकी सामाजिक उपस्थिति देखने वाला व्यक्ति यह मान लेगा कि यकीनन अभी कुछ भी नहीं बदला। अभी तो यह वही समाज है जिसमें रोहित वेमुला और पायल तड़वी जैसे लोग आत्महत्या करने को मजबूर होते हैं। जिस देश की शिक्षण संस्थाओं से लेकर कार्य करने की जगहों तक में कास्ट, जेंडर, रितीजन, क्षेत्र और न जाने किन किन आधारों पर डिस्क्रिमिनेशन हो रहा हो, जिस समाज में आज भी जन्म के साथ ही एक खास किस्म का गौरवबोध या हीनताबोध भर दिया जाता हो वहां कहां कुछ बदला है? शोषण का रूप भले बदल गया हो, शोषण तो जस का तस मौजूद है।

इस तरह के शोषण और उत्पीड़न की जड़ें बहुत गहरे तक हमारे समाज में जमी हुई हैं। जाति, धर्म, लिंग और क्षेत्रीयता के आधार पर जिस तरह का बहुस्तरीय शोषण हमारे समाज में मौजूद है उस तरफ बहुत मजबूती से इस संग्रह की कई कहानियां हमारा ध्यान खींचती हैं। ऐसा नहीं है कि उन पर लिखने वाले कृष्ण कुमार पहले या अंतिम व्यक्ति हैं। लेकिन कृष्ण कुमार इस शोषण की बहुस्तरीयता को समझने वाले कम लोगों में एक हैं। इस शोषण, दमन और उत्पीड़न की शुरुआत सबसे हुई है इसके खिलाफ बोलने और लिखने वाले लोग भी तभी से मौजूद हैं। इसका आभास कृष्ण कुमार को है। अगर ऐसा न होता तो 'दो सहेलियां' जैसी कहानी की रचना संभव ही न होती। उक्त कहानी में मीरा और पद्मिनी के बीच हो रहे संवाद

शोषण और उत्पीड़न की सतत मौजूदगी का प्रमाण देते हैं।

कहानी का सत्य यह है कि नैरेटर शहर से सटे हुये किसी ग्रामीण इलाके में कोई सर्वे करने गया हुआ है। थककर पास के एक मंदिर में लेट गया। लेटने के साथ ही उसे नींद आ गई। जागने पर उसे कुछ आवाजें सुनाई देने लगीं। मानवीय स्वभाववश वह उन्हें सुनने लगा। कहने की जरूरत नहीं कि वे आवाजें भक्त कवयित्री मीरा और रत्नसेन की रानी पद्मनी की हैं। वे आपस में बात कर रही हैं, किसी ताजा घटी हुई घटना पर। बात करते हुये वे अपने समय से लेकर अब तक के कई समयों की यात्रा करती हैं। मीरा पद्मनी से कहती हैं—“क्यों आज तुम्हें बहुत फर्क लगता है? मुझे तो नहीं लगता। वैसे भी काल स्थिर है। लगता है बढ़ रहा है, पर यह भ्रम है। उसे कहीं भी पकड़ लो आगे या पीछे। बीसवीं सदी जा रही है—हम तुम बैठी बातें कर रही हैं—कहां है काल।” इस काल की स्थिरता का संदर्भ आगे पद्मनी की बात से जोड़ने पर स्पष्ट होगा कि यह स्थिरता किस संदर्भ से कही जा रही है। पद्मनी कहती है—“मीरा, कुछ भी बदला नहीं दिखता मुझे। वे जगहें नहीं हैं, वे कपड़े नहीं हैं—बस! इस हॉस्टल में लगाई जाने वाली आवाजें अलग होंगी, संगीत फर्क होगा। बस वे सब आसान रास्ता चुनेंगे। सिर्फ लड़के नहीं, प्रोफेसर, नेता, पुलिस, जज, वकील, पत्रकार—सब के सब आसान रास्ता चुनेंगे, क्योंकि वे औरत को सताना, सताना नहीं मानते। वे तुम्हारी कविता पढ़ने के काबिल नहीं हैं।” मीरा और पद्मनी के बीच होने वाले संवादों में इसी तरह हमारे समय समाज का यथार्थ दर्ज हुआ है। कब यह कहानी का सच हमारे समय का सच बन जाता है पता ही नहीं चलता। इसी तरह दूसरी कहानी है ‘काठगोदाम’। ‘काठगोदाम’ कहानी नैरेटर के नैनीताल प्रवास से शुरू होती है। वह डायरी लिख रही है और अपने छात्र जीवन के बारे में विचार कर रही है। विचार करते हुये वह सुशीला बहनजी के अध्यापन जीवन के बारे में विचार करती है और इस तरह वह अपने छात्र जीवन में प्रवेश कर जाती है। किसी भी संस्था में जाति नामक कोढ़ किस तरह जकड़ा हुआ है यह कहानी इसी का बयान करती है। न तो इस देश में सुशीला बहनजी अकेली हैं और न ही कथानायिका। यह एक वर्ग की कहानी है। वर्गबोध और वर्ग संघर्ष की। शिक्षण संस्थाओं में मौजूद क्लास डिस्क्रिमिनेशन का जीवंत दास्तान इस कहानी में मौजूद है। छात्र छात्रा के रूप में, कर्मचारी के रूप में, शिक्षक के रूप में, या किसी भी रूप में एक वर्ग में जन्म लेने वाले इंसान के साथ हर स्तर पर डिस्क्रिमिनेशन इस हद तक किया जाता है कि उस वर्ग के इंसान को भीतर से यह लगने लगता है कि वह उनके जैसा नहीं है जबकि उसे उनके जैसा होना चाहिए। यह कहानी उस समय लिखी गई थी जब इस देश ने किसी रोहित बेमुला के लिए संघर्ष करना नहीं सीखा था, किसी डॉ. पायल तड़वी ने अपने साथ काम करने वालों से तंग आकर आत्महत्या नहीं की थी। ऐसा भी नहीं है कि यह सब कुछ आज होना शुरू हुआ है, यह अनादि काल से चला आ रहा है लेकिन जब लोगों ने संस्थाओं में हो रहे इस तरह के डिस्क्रिमिनेशन की तरफ ध्यान नहीं दिया था उस समय यह कहानी उसके वीभत्स परिणामों की तरफ इशारा कर रही थी।

इसी तरह के शोषण की गाथा कहने वाली एक और कहानी इस संग्रह में प्रकाशित है ‘विजयपताका’ शीर्षक से। हमारे समाज में शोषण की जड़ें बहुत गहरे जमी हुई हैं इसे कहने की जरूरत नहीं है। बच्चा जन्म लेता है तभी से उसे सिखाया जाने लगता है कि उसे किसके साथ उठना बैठना है, किसके साथ खेलना है, किससे प्यार करना है, किससे घृणा करनी है। तमाम तरह की शिक्षा के साथ ही उसे ये सारी शिक्षा भी मिलती चलती है। यानी जब वह सोचने समझने की स्थिति तक पहुंचता है तब तक उसकी एक खास किस्म की मानसिक

कंडिशनिंग हो चुकी होती है। मनोविज्ञान भी कहता है कि इस तरह की कंडिशनिंग को तोड़ पाना सबसे मुश्किल होता है। इसी कंडिशनिंग में जी रहे बच्चों की कहानी है 'विजयपताका'। विजयपताका में एक तरफ दिलीप है, दूसरी तरफ धनेंद्र है। दिलीप के पिता पुलिस में नौकरी करते हैं, धनेंद्र भी रसूखदार परिवार से आता है। आर्थिक स्तर पर दोनों लगभग समान हैं। बावजूद इसके धनेंद्र क्लास में तमाम तरह की फब्तियां कसता है। दिलीप के तन पर स्कार्ई सार्जेंट की नई टीशर्ट देखकर धनेंद्र को अच्छा नहीं लगा। फिर क्या था, अपनी टोली के साथ आ गया। आगे क्या हुआ कहानी में सुनिए—“धनेंद्र अपनी बांह में एक भीगी हुई टीशर्ट झंडे की तरह उठाए मंदिर की परिक्रमा कर रहा था; लड़के उसके पीछे पीछे चल रहे थे। बीच बीच में रुककर वह लड़कों की तरफ सर मोड़ता और बताता कि उसने कैसे निशाना लगाकर पथर मारा। टोली के सदस्य खिलखिलाकर बताते कि फिर कैसे उन्होंने दिलीप को घेरा, कैसे उसकी टीशर्ट उतारी, कैसे उसे जमीन पर रौंदा, फिर कैसे वह घर की तरफ भागा।” अब सवाल उठता है कि एक ही क्लास में पढ़ने वाले एक ही उम्र के धनेंद्र में यह हिम्मत और यह हौसला कहाँ से आया? यह जो जातीय गौरवबोध जन्म लेने के साथ ही भर दिया जाता है असल जड़ यही है। जब तक हम इसको नहीं बादल पाते तब तक सुधार और मुक्ति की चाहे जितनी बातें करें लें वे कोरी गप्प ही साबित होंगी।

इस संग्रह की कहानियों का जो दूसरा संदर्भ बनता है वह भूमंडलीकरण और बाजार की संस्कृति से बने भारतीय समाज का चित्र प्रस्तुत करता है। भूमंडलीय ज्ञान और बाजारवादी संस्कृति ने मनुष्य को और ज्यादा यांत्रिक बनाया है। हमारा पारंपरिक और देशज ज्ञानकांड कितना भी रूखा और उबाऊ क्यों न रहा हो इमोशनलेस कभी नहीं रहा। बाजार और पूंजी ने इंसान को यंत्र में तब्दील कर दिया है। इस यांत्रिकता ने इंसान को पर्याप्त अकेला कर दिया है। 'चंपाकथा' कहानी का रविकांत जब पूछता है कि “क्या दिल्ली के लोगों को कभी यह सोचकर बेचैनी नहीं होती कि वे चौरासी के नवंबर के स्वछंद हत्यारों के साथ रहते हैं।” तो यह सवाल किसी व्यक्ति का किसी घटना से जुड़ा हुआ सवाल न होकर हमारे समय समाज का सवाल बन जाता है। अव्वल तो यह कि अब कोई इस तरह के सवाल भी नहीं पूछता। जबकि सवाल पूछता हुआ मनुष्य ज्यादा भरोसे का होता है। सवाल न पूछने की, प्रतिरोध न करने की वजह से ही इस देश में 1984, 1992 और 2002 जैसी घटनाएँ घटित हुई हैं। जिस समाज में भावनात्मक लगाव छीजता जाएगा वहां अकेलापन ही बढ़ेगा। अकेलेपन का सबसे ज्यादा लाभ बाजार को मिलता है। इसीलिए वह ऐसे हथियार प्रयोग में लाता है जिससे इंसान को अकेला कर सके। वह एक ऐसा समाज बनाना चाहता है जिसमें इमोशनल रिश्तों नातों के लिए कोई जगह शेष न रहे। सब कुछ यंत्रवत हो। यह यांत्रिकता इस हद तक हावी होने की तरफ बढ़ रही है कि 'त्रिकाल दर्शन', 'स्नानवार्ता', 'शरद की दोपहर', 'प्रतिकार' जैसी कहानी संभव होती है। 'शरद की दोपहर' के दो दोस्त इस बाजारवादी यांत्रिक व्यवस्था के शिकार नहीं तो और क्या हैं? प्रतिकार का कथानायक एक समय जिस कंपनी के लिए सब कुछ था, जिसकी मेहनत और कार्यशैली का ही कमाल था कि कंपनी ने आकाश छूआ। लेकिन कंपनी के लिए जरूरी है उसकी लगातार वृद्धि। उस वृद्धि में जो व्यक्ति जब तक काम लायक है तब तक वह सर आंखों पर, जिस दिन उसकी जरूरत खत्म उस दिन के बाद उससे कोई रिश्ता नहीं। यही हुआ मैनेजर साहब के साथ। 'स्नानवार्ता' के माथुर और झा साहब इस यांत्रिक दुनिया के असल प्रतिनिधि बनकर सामने आते हैं। इस तरह की बनने वाली दुनिया मानवीय सभ्यता और संस्कृति से दूर जाने वाली दुनिया है। जिसकी तरफ यह संग्रह इशारा करता है।

यह तो हुई इस संग्रह के दो मुख्य संदर्भों की बात। इस संग्रह पर बात यहीं खत्म नहीं होती। इस संग्रह में 'स्मार्ट सिटी', 'दो दोस्त', 'रानी', 'बाल दिवस का टिकट', 'रोवो मत रवि', 'बांस का कीड़ा', 'मातृध्वनि' और 'सुबह की सैर' जैसी कहानियां भी शामिल हैं। इन कहानियों में मानवीय विश्वास और सहजीविता की गर्माहट मौजूद है। 'स्मार्ट सिटी' कहानी की मेघमाला जैसी संस्थाएं और उसमें कार्य करने वाले लोग जिस जीवट से लगे हुये हैं वह प्रतिरोधी चेतना की एक बानगी पेश करता है। यह कहानी भारतीय बुद्धिजीवियों के साथ सत्ता के रिश्ते की कथा बयान करती है। कहानी का सच यह है कि सत्ता जिस किसी को अपमानित करना चाहती है उसे सबसे पहले बुद्धिजीवी करार देती है। आज आप उसे बदलकर पढ़ना चाहें तो 'अवार्ड वापसी गैंग', 'खान मार्केट गैंग' या 'टुकड़े टुकड़े गैंग' पढ़ लें। सत्ताओं के अपमानित करने का यही तरीका मेघमाला जैसी संस्थाओं के सदस्यों के साथ भी अपनाया जाता था। लेकिन वे लगे रहे, तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों में भी वे छुप छुपाकर अपनी सभाएं करते रहे। प्रतिरोध करते रहे। दो दोस्त नामक कहानी विश्वविद्यालयी जीवन पर केंद्रित है। जहां से यह कहानी बनती है वह संदर्भ यह है कि अचानक विश्वविद्यालय में कहीं से बदबू आने लगती है। जैसे हरेक कार्य के लिए होता है इसके लिए भी कमेटी बना दी गई। कमेटी की रिपोर्ट में कहा गया कि यह बदबू परिसर की परिधि पर स्थित आदिवासी मजदूरों की बस्ती से आती है। बस्ती को उजाड़ने का आदेश दे दिया गया। उजड़ भी गई लेकिन बदबू आनी नहीं बंद हुई। बल्कि कहानी का सच तो यहां तक कहता है कि बदबू वहां विश्वविद्यालय के पोर पोर में बसी हुई है। छात्र डिग्री लेते हुये यह महसूस कर रहे थे कि उनकी डिग्री से भी बदबू आ रही है। यह कहानी इसी तरह के बदबूदार परिसरों की कथा कहती है और इस देश और समाज के शिक्षण संस्थानों की असलियत बयान करती है।

इस संग्रह में 'रानी', 'मातृध्वनि' और 'बालदिवस का टिकट' जैसी कहानियां हैं जो उम्मीद और आशा की कहानियां हैं। इनमें कुछ तो है जो जोड़ने की कोशिश करता है। इन कहानियों को पढ़ते हुये कहानी पढ़ने का सुख मिलता है। सुकून मिलता है, कुछ देर ठहर जाने का मन करता है। इनमें रागतत्व की प्रधानता है। यह कथाकार का आकांक्षित प्रदेश लगता है। 'रानी' नामक कहानी मनुष्य और पशु के बीच के रिश्ते की कहानी है। तो मातृध्वनि बाल मनोविज्ञान और मां के रागवृत्त की कथा कहती है। 'बालदिवस का टिकट' पिता पुत्र के भावनात्मक रिश्ते की कहानी है। कुल मिलाकर इन कहानियों में जो कुछ है हम असल में वैसा ही सब कुछ चाहते हैं। यह हमारी आकांक्षा है। जो कि असलियत होनी चाहिए थी।

कृष्ण कुमार ने जीवन का लंबा समय शिक्षा जगत के दायित्व में बिताया है। उनके अनुभव का एक बड़ा हिस्सा वहां से आता है। उसका बहुत कुछ आभास इस संग्रह की कहानियों में बहुत साफ तौर पर देखने को भी मिलता है। इन कहानियों में भारत की शिक्षण संस्थाओं का यथार्थ रूप दिखाई देता है। संग्रह की लगभग सभी कहानियां शिक्षण संस्थानों से किसी न किसी रूप में जुड़ी हुई हैं। शिक्षण संस्थाओं से जुड़ना अनिवार्यतः इस देश के युवा से भी जुड़ना होता है। इस रूप में इनका एक पाठ युवापीढ़ी को केंद्र में रखकर भी किया जा सकता है। कृष्ण कुमार की ये कहानियां अपने कथारूप में भारत की प्राचीन कथा परंपरा की याद दिलाती हैं। *पंचतंत्र* और *हितोपदेश* की कहानियों की तरह इनकी कहानियों में भी एक कहानी के भीतर से कई कई कहानियां निकलती हुई आगे बढ़ती हैं। कहानी के भीतर अचानक कोई घटना प्रसंग आ जाता है। कहानी अपना मूल छोड़कर उसके विवरण में आगे बढ़ती चली जाती है। अगर शुरू से मूल कहानी पकड़कर न चलें तो बीच बीच में याद करना पड़ता है

कि कहानी शुरू कहां से हुई थी। यह शैली लंबी कहानियों में तो आसान लगती है लेकिन कृष्ण कुमार जी ऐसा प्रयोग छोटी छोटी कहानियों में भी करते चलते हैं। इस तरह का प्रयोग उन्हें भारतीय कथाढांचा से संबद्ध रखता है जो समकालीन कहानी में दूसरे कथाकारों के पास प्रायः नहीं मिलता। 21वीं सदी की भारतीय सामाजिक संरचना की गड़िन पड़ताल करने वाला यह संग्रह हिंदी कहानी के परिसर को और समृद्ध करता है। विमर्शों की दुनिया से हटकर ये कहानियां जिन संदर्भों को उठाती हैं। उन पर हिंदी समाज को विचार करना चाहिए।

**काठगोदाम : कृष्ण कुमार, प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली**

## इस अंक के लेखकों के मोबाइल नंबर

विश्वनाथ त्रिपाठी	:	9871479790
प्रसन्न कुमार चौधरी	:	9410305433
चारू गुप्ता	:	9810735957
कमलानंद झा	:	8521912909
सारा राय	:	8004797093
प्रियदर्शन	:	9811901398
शेखर मल्लिक	:	9852715924
वंदना मिश्र	:	9415024979
रवींद्र वर्मा	:	9839434149
कुलदीप कुमार	:	9810032608
पंकज राय	:	8800211162
अनिल त्रिपाठी	:	9412569594
अनिल मिश्र	:	8005446924
अशोक कुमार पांडेय	:	9958269443
अदनान कफील दरवेश	:	9990225150
ममता कालिया	:	9212741322
सुधीर चंद्र	:	8860153163
नवल शुक्ल	:	9425636550
विनोद तिवारी	:	9560236569
सत्यम कुमार सिंह	:	9823297052
उदय शंकर	:	9868645701
कुमार मंगलम	:	8840649310
विवेक निराला	:	9415289529
रघुवंश मणि	:	9452850745
जगन्नाथ दुबे	:	6389003142